व. तातारीनोव
मानव
शारीर और
शरीर-क्रिया
विज्ञान

मानव :
शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान

В. Г. ТАТАРИНОВ

УЧЕБНИК АНАТОМИИ И ФИЗИОЛОГИИ ЧЕЛОВЕКА

Издательство «Медицина»

व. तातारीनोव

मानव शरीर और शरीर-क्रिया विज्ञान

अनुवादक : मोहन मूर्ति शांडिल्य

V. Tatarinov

Human Anatomy and Physiology

на языке хинди

सोवियत संघ में मुद्रित

संस्करण प्रथम 1983

संस्करण द्वितीय 1989

ISBN 5-03-000435-1

विषय-सूची

अध्याय 11.

अध्याय 12.

प्रस्तावना

शारीर (अथवा शरीर-रचना विज्ञान) और शरीर-क्रिया विज्ञान की गिनती जीव-विज्ञानों में होती है तथा इनमें सप्राण जीवों का अध्ययन किया जाता है।

शारीर सप्राण जीवों के रूप और संरचना का विज्ञान है। मनुष्य के शरीर और उसके विभिन्न अंगों, जैसे अस्थियों, पेशियों, हृदय, मस्तिष्क, मेरू, रज्जु इत्यादि के रूप एवं संरचना का अध्ययन मानव शरीर में किया जाता है।

शरीर-क्रिया विज्ञान सप्राण जीवों में होने वाली प्रक्रियाओं का विज्ञान है। इसमें जीव के प्रकार्य, उसके विभिन्न अंगों, जैसे पेशियों, हृदय, मस्तिष्क, मेरू रज्जु आदि, के कार्यों का अध्ययन किया जाता है।

शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान में परस्पर गहरा सम्बन्ध है। सप्राण जीव की संरचना और उसके जैव कार्य या, अन्य शब्दों में, सप्राण जीव की संरचना और प्रकार्य अपृथक्करणीय एवं अन्योन्याश्रित हैं। मानव शरीर के विभिन्न अंगों की संरचना और प्रकार्य इस कथन की पुष्टि करते हैं: फेफड़ों की संरचना गैस-विनिमय प्रकार्य के साथ सम्बंधित है, वृक्क की संरचना मूत्र बनाने के कार्य के साथ सम्बंधित है, आमाशय की संरचना भोजन की पाचन-क्रिया के साथ सम्बंधित है, इत्यादि। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जीव तथा उसके विभिन्न अंगों की संरचना का अध्ययन उनके प्रकार्यों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए।

जीव-विज्ञान के कई अन्य विभाग शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान के साथ गहरा संबंध रखते हैं। इनमें विशेष तौर पर उल्लेखनीय हैं: अंगों का निर्माण करने वाले ऊतकों का विज्ञान, जिसे ऊतक विज्ञान (Histology ग्रीक शब्द Histos- ऊतक" से) कहते हैं, तथा जीव के भ्रूणीय विकास का विज्ञान अर्थात् भ्रूण-विज्ञान, embryology ग्रीक शब्द "embryon"-"भ्रूण" से)। इसी प्रकार शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान के साथ रोग-विज्ञान (pathology ग्रीक शब्द "pathos"- "रोग" से), यानी रोगी अवस्था में जीव में होने वाले परिवर्तनों के विज्ञान, का भी गहरा सम्बन्ध है। रोग-विज्ञान को दो विभागों में बाँटा गया है: विकृति शारीर और विकृति शरीर-क्रिया विज्ञान।

अन्य जीव-विज्ञानों की भांति, शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान का अध्ययन हमेशा जीव की अखंडता एवं बाह्य वातावरण के साथ इसके एकत्व के नियम के आधार पर किया जाना चाहिये। जीव में सभी अंगो का पारस्परिक सम्बन्ध होता है। ये निरन्तर अन्योन्यक्रिया करते रहते हैं तथा एक सामान्य, सम्मिश्र तंत्र बनाते हैं। इसी प्रकार जीव अपने अस्तित्व की अवस्थाओं, यानी वाह्य वातावरण के साथ भी गहरा सम्बन्ध रखता है। इ० प० पावलोव के विचार में वाह्य वातावरण में होने वाले परिवर्तनों के प्रति जीव के प्रकार्यों का निरन्तर अनुकूलन होता रहता है, अर्थात् "जीव और उसके वाह्य वातावरण के बीच संतुलन" बना रहता है।

शारीर तथा शरीर-क्रिया विज्ञान चिकित्सा-विज्ञान पाठ्य-क्रम के मुख्य विषय हैं। शारीर तथा शरीर-क्रिया विज्ञान के सामान्य ज्ञान से अनभिज्ञ होकर उन परिवर्तनों को समझना असम्भव है, जो सम्पूर्ण शरीर या उसके विभिन्न अंगों में रोग द्वारा उत्पन्न होते हैं। अतएव, शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान का ज्ञान चिकित्सा-विज्ञान के किसी भी विषय का अध्ययन करने के लिये आवश्यक है।

जीव की संरचना तथा प्रकार्य का पूर्ण ज्ञान विभिन्न रोगनिरोधी कार्यों के लिए आवश्यक है, जो सभी चिकित्सकों के लिये सर्वाधिक महत्व रखता है।

रोगी की सचेतन तथा हितकारी देखभाल करने और उसे सही सहायता देने के लिये नर्स को मानव शरीर एवं शरीर-क्रिया विज्ञान का ज्ञान होना अति आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त, विश्व और जीवन के विभिन्न पहलुओं के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाने में एवं, विशेष रूप से, प्रकृति में मनुष्य के सही स्थान को निश्चित करने में शारीर तथा शरीर-क्रिया विज्ञान का महत्वपूर्ण योग है। मनुष्य तथा जंतुओं की उत्पत्ति का एकत्व, मानव जीव में घटने वाली सभी क्रियाओं की भौतिक प्रकृति को शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान के अध्ययन की मदद से समझा जाता है।

शारीर तथा शरीर-क्रिया विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास

शारीर तथा शरीर-क्रिया विज्ञान का विकास मूलतः व्यावहारिक चिकित्सा-विज्ञान की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के कारण हुआ। विभिन्न रोगों के उपचार के लिये जीव की संरचना तथा प्रकार्य का ज्ञान आवश्यक है। मानव ज्ञान के इस क्षेत्र में अनेक शताब्दियों के दौरान विभिन्न तथ्य एकत्रित किये गये हैं।

शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान का अपूर्ण ज्ञान बहुत ही प्राचीन लोगों को था लेकिन यह ज्ञान न तो क्रमबद्ध था, और न ही वैज्ञानिक था। प्राचीन युनान में
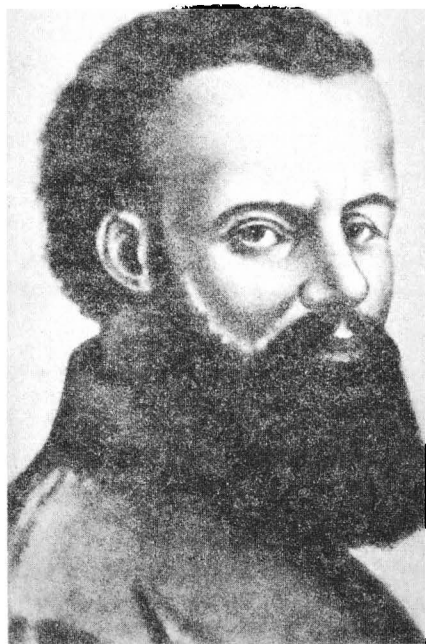
आन्द्रेयास वेसालियस

सामान्य रूप से चिकित्सा के प्रति तथा शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान के प्रति भी काफ़ी रुचि थी। प्रसिद्ध युनानी विचारक तथा चिकित्सक हीपोक्रेटीस (460 - 377 ई० पूर्व) ने चिकित्सा विज्ञान पर कई लेख लिखे, जिनमें शारीर तथा शरीर-क्रिया विज्ञान के बारे में विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

उसने करोटि की अस्थि का काफ़ी सही वर्णन किया है। हीपोक्रेटिस के कुछ विचार भ्रान्तिपूर्ण थे। उदाहरणार्थ उसके अनुसार धमनी में वायु होती है, तथा मस्तिष्क का मुख्य प्रकार्य श्लेष्मा को पृथक करना है।

क्लाडी गैलेन (130-200 ई०) रोमन साम्राज्य का एक अद्वितीय चिकित्सक था। वह पशुओं पर प्रयोग किया करता था और मृत शरीर का विच्छेदन किया करता था। उसके लेखों में पेशियों व तंत्रिकाओं, कपाल तंत्रिकाओं के सात जोड़े, अनेक संधियों, घरेलू पशुओं के आलिंदों के बीच अंडाकार छिद्रों आदि का उल्लेख किया गया है। लेकिन इन्हीं लेखों में मानव शरीर की रचना और क्रिया के बारे में कई भ्रांतिपूर्ण बातें भी हैं। उदाहरणार्थ, गैलेन ने रुधिर परिसंचरण का
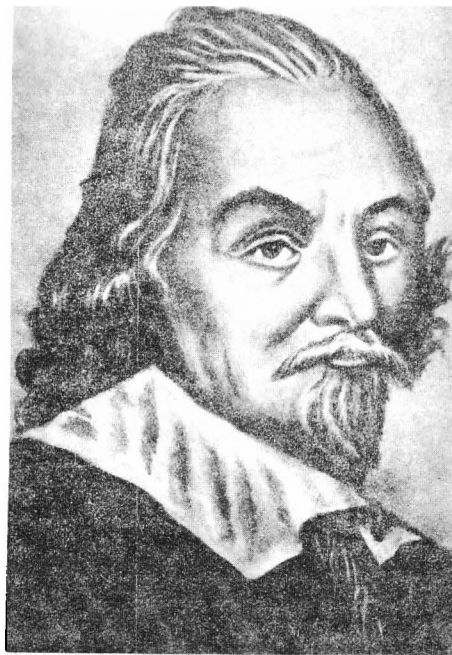
विलियम हार्वे

त्रुटिपूर्ण आरेख बनाया, जिसके अनुसार यकृत रुधिर वाहक तंत्र का केन्द्रिय अंग है। गैलेन की मुख्य त्रुटि यह थी कि उसने पशुओं के शरीर की संरचना के तथ्यों को बिना संशोधन किये मानव शरीर पर लागू कर दिये।

मध्य युग में चिकित्सा-विज्ञान सहित सम्पूर्ण विज्ञान के क्षेत्र में गतिशून्यता उत्पन्न हो गई थी। ईसाई धर्म ने विज्ञान पर दमन तथा वैज्ञानिकों पर अत्याचार आरम्भ कर दिया। इस अन्याय का एक दुष्परिणाम था मृत शरीरों के विच्छेदन पर प्रतिबंध लगना, जिसके कारण चिकित्सा-विज्ञान के विकास में बड़ी बाधा खड़ी हुई। मध्य युग में केवल अलग-अलग वैज्ञानिकों को ही विज्ञान के विकास के लिए अपना कार्य करने में सफलता प्राप्त हो सकी। इनमें से एक था अद्वितीय वैज्ञानिक, चिकित्सक तथा विचारक ईब्न-सीना (अवीसेन्ना) (980-1037 ई०)।

अवीसेन्ना की प्रसिद्ध कृति "चिकित्सा का सिद्धांत" में चिकित्सा-विज्ञान सम्बंधी उस समय की संपूर्ण सामग्री संकलित है जिसमें शारीर तथा शरीर-क्रिया विज्ञान के बारे में भी जानकारी दी गई है।
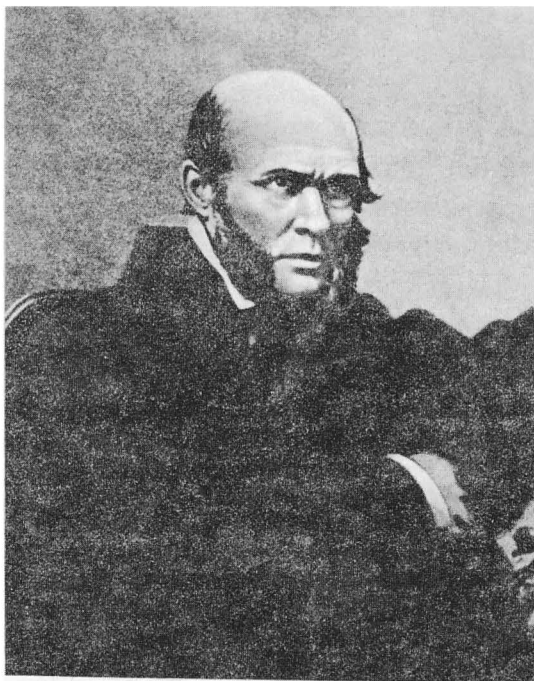
निकोलाई पिरोगोव

पुनर्जागरण के युग में बुर्जुआ समाज के निर्माण के समय प्रकृति विज्ञान के सामान्य विकास के फलस्वरूप शारीर तथा शरीर-क्रिया विज्ञान विशेष विषय के रूप में प्रकट हुए। एक स्वतंत्र विषय के रूप में शारीर का जन्म XVI शताब्दी में हुआ। वैज्ञानिक ऐन्ड्रियास वेसालियस (1514-1564) ने इसका आधार रखा था। उसने अनेक शवों का विच्छेदन करके मानव शरीर की संरचना का अध्ययन किया। अपने कार्यों का वर्णन उसने अद्वितीय वैज्ञानिक लेख, "मानव शरीर की संरचना" (De humani corporis fabrica"), में किया जिसकी बाद में अकादमीशियन पावलोव ने काफ़ी प्रशंसा की: "वेसालियस का लेख मानव के आधुनिकतम इतिहास में मानव शारीर का प्रथम लेख है, जिसमें प्राचीन लेखकों की शिक्षा तथा विचारों के साथ-साथ स्वतंत्र अनुसंधान कार्य भी सम्मिलित हैं।"

शरीर-क्रिया विज्ञान स्वतंत्र विषय के रूप में XVII शताब्दी में स्थापित हुआ। इसका सम्बंध इंग्लिश चिकित्सक विलियम हार्वे (1578-1657) के नाम के साथ है, जिसने रुधिर परिसंचरण की खोज की थी। इ० प० पावलोव ने 1927 में इस खोज की निम्न शब्दों में प्रशंसा की: "चिकित्सक विलियम हार्वे ने जीव के

[illegible] [illegible] में से एक – रुधिर परिसंचरण का अध्ययन किया है, और इस प्रकार मानव ज्ञान के एक नये विभाग – जीवों की शरीर-रचना का आधार रखा है।"

शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान का भावी विकास वैज्ञानिक अनुसंधान की नई विधियों तथा विज्ञान की सामान्य प्रगति ने किया। XIX तथा XX शताब्दियों में चिकित्सा-विज्ञान के अनेक विभागों, विशेषतः, शरीर-क्रिया विज्ञान के क्षेत्र में अनेक महान उपलब्धियाँ प्राप्त की गईं। ये उपलब्धियाँ काफ़ी हद तक हमारे देश के चिकित्सकों के कार्यों का परिणाम है।

रूस में पहला चिकित्सा-विद्यालय XVII शताब्दी के मध्य में बना। इस समय चिकित्सा-सम्बंधी पुस्तकें रूसी भाषा में उपलब्ध थीं। शारीर का अध्ययन अस्थिपंजर की मदद से किया जाता था। XVIII शताब्दी से (पीटर I के राज्य में) चिकित्सकों का प्रशिक्षण व्यवस्थित रूप से शुरू किया गया। बाद में रूस के अनेक महान चिकित्सक इनमें से बनें। रूस में प्रकृति-विज्ञान और चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में विकास प्रतिभावान् वैज्ञानिक मि० व० लोमोनोसोव के कार्यों के परिणामस्वरूप हुआ। उसने मास्को में प्रथम रूसी विश्वविद्यालय की स्थापना की, जिसमें चिकित्सा-विभाग भी था। लोमोनोसोव के लेखों में शरीर-क्रिया सम्बंधी काफ़ी सामग्री संकलित है।

XX शताब्दी में शारीर तथा शरीर-क्रिया विज्ञान के क्षेत्रों में कई रूसी वैज्ञानिक कार्य कर रहे थे। रूस में शारीर के विकास पर प्रभाव डालने वाले वैज्ञानिकों में प० अ० ज़ागोरस्की; ई० व० बुयाल्स्की तथा न० ई० पीरागोव का नाम आता है।

शारीर और शरीर-क्रिया विज्ञान के प्रोफ़ेसर प० अ० ज़ागोरस्की (1764-1846) ने संवहन तंत्र का अध्ययन किया। उसने रूसी भाषा में शारीर की पाठ्य-पुस्तक लिखी और उसके शिष्य रूस के प्रथम शारीरज्ञ हुए। इनमें से एक ई० व० बुयाल्स्की था, जो शारीर व शल्य विज्ञान पर अनेक लेखों का लेखक था। बुयाल्स्की का विशेष कार्य व्यावहारिक शल्यविज्ञान के लिए शारीर के महत्व को समझाना था।

प्रतिभाशाली रूसी वैज्ञानिक न० इ० पीरागोव (1810-1881) ने शल्य-विज्ञान, शारीर तथा चिकित्सा विज्ञान के अन्य विभागों में कार्य किया। शारीर के क्षेत्र में उसने अनुसंधान की नई विधि प्रस्तुत की – हिमशीतित शव का विच्छेदन। इस विधि की मदद से न० ई० पीरागोव ने स्थलाकृतिक शारीर* के आधार का अध्ययन किया। न० ई० पीरागोव के शारीर के सर्वाधिक प्रसिद्ध कार्यों में उसकी

---

*स्थलाकृतिक शारीर – व्यावहारिक विज्ञान, जिसमें अंगों के पारस्परिक स्थान-निर्धारण का अध्ययन किया जाता है।

इवान सेचेनोव

पुस्तक "धमनी कांड तथा संपट्ट का शल्य-विज्ञानी शारीर" है। न० ई० पीरागोव के कार्यों में व्यावहारिक चिकित्सा-विज्ञान के लिए, विशेषत: शल्य-विज्ञान के लिए, शारीर के महत्व पर ज़ोर दिया गया है। सन् 1854 में सेवास्तोपोल की वीरतापूर्ण रक्षा के समय पीरागोव ने प्रत्यक्ष रूप से नर्सों के समूहों का आयोजन किया तथा युद्धस्थल में घायलों की मदद के लिए नर्सों का आवाहन किया।

रूस में शारीर के विकास की दिशा व्यावहारिक बनी। इस दिशा के अन्तर्गत प्रत्येक अंग को अखंड माना जाता है, अर्थात् सप्राण जीव का प्रत्येक अंग अपने प्रकार्यों तथा ऐतिहासिक विकास के कारण उसके साथ सम्बंधित है।

इसी के साथ वाह्य वातावरण के महत्व एवं जीवन और जीव-विज्ञानी स्थितियों के प्रभाव पर भी ज़ोर दिया जाता है। इस दिशा में किये गये कार्य के विकास में

प० फ० लेस्हाफ्ट (1839-1907) व० प० वोरोबियोव (1876-1937) व० न० [illegible] (1872-1954) तथा अन्य रूसी वैज्ञानिकों का विशेष योग है।

XIX शताब्दी में शरीर-क्रिया विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वाले अग्रणी रूसी वैज्ञानिक निम्न हैं: अ० म० फिलोमा-फित्सकी, व० अ० बासोव, न० अ० मीस्लावस्की, फ० व० अवस्यानीकोव, अ० य० कूल्याबको, स० प० बोतकीन आदि। इनमें से कुछ वैज्ञानिकों ने रूधिर क्रिया विज्ञान तथा रूधिर परिसंचरण के क्षेत्रों में खोज की, तो अन्य वैज्ञानिकों ने पाचन-क्रिया का अध्ययन किया। कुछ वैज्ञानिकों ने – श्वास-क्रिया, तंत्रिका तंत्र का अध्ययन किया। शरीर-क्रिया विज्ञान में ई० म० सेचेनोव तथा ई० प० पावलोव का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इवान मिखाइलोविच सेचेनोव (1821-1905) रूसी शरीर-क्रिया विज्ञान का संस्थापक है। उसके नाम के साथ इस क्षेत्र में कई खोजों के नाम सम्बंधित हैं, यह कहना पर्याप्त होगा कि ई० म० सेचेनोव ने केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र में संदमन की खोज की तथा सर्वप्रथम रक्त में गैसों के संयोजन का अध्ययन किया और कार्बन डाइ–आक्साइड गैस के स्थानांतरण में हीमोग्लोबिन की भूमिका एवं महत्व का अध्ययन किया, आदि। सन् 1864 में प्रकाशित सेचेनोव की पुस्तक "मस्तिष्क के प्रतिवर्त" का शरीर-क्रिया विज्ञान के विकास में अद्वितीय स्थान है। यह प्रथम लेख था जिसमें ये विचार प्रस्तुत किये गये कि मस्तिष्क के संपूर्ण कार्य की प्रतिवर्ती प्रकृति होती है। अतएव, मानव के लिये लाक्षणिक मानसिक क्रियाओं का वैज्ञानिक आधार शरीर-क्रिया होता है, कोई अज्ञेय कारण नहीं है। ई० म० सेचेनोव जीव तथा परिवेश के बीच एकत्व के सिद्धाँत का संस्थापक है। उसने लिखा: जीव, बिना परिवेश के, जो उसे जीवन देता है, असम्भव है; इसीलिये जीव की वैज्ञानिक परिभाषा में उस पर प्रभाव डालने वाला परिवेश भी सम्मिलित किया जाना चाहिये।"

ई० म० सेचेनोव शरीर-क्रिया वैज्ञानिक विद्यालय का संस्थापक है। उसके शिष्यों में न० ई० वेदेन्स्की, म० न० शातेरनिकोव तथा अन्य महान वैज्ञानिकों की गिनती होती है।

इवान पेतरोविच पावलोव (1849-1936 – महान) भौतिकवादी वैज्ञानिक था, जिसने अपना सारा जीवन विज्ञान को अर्पित कर दिया। 60 वर्ष से अधिक उसने शरीर-क्रिया विज्ञान की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन किया तथा सम्पूर्ण चिकित्सा-विज्ञान और जीव-विज्ञान के लिये अत्यधिक महत्व रखने वाले लेख लिखें।

युवा काल में ई० प० पावलोव के विश्व दृष्टिकोण पर रूस के महान क्रान्ति-कारी-डेमोक्रेटों – न० ग० चेरनेशेवस्की, न० अ० दोब्रोल्यूबोव, द० ई० पीसारेव – के भौतिकवादी विचारों का प्रभाव पड़ा। ई० प० पावलोव के प्रकृति-विज्ञान संबंधी विचारों के विकास पर ई० म० सेचेनोव के लेखों, सर्वप्रथम उसकी पुस्तक "मस्तिष्क के प्रतिवर्त" का प्रभाव पड़ा।
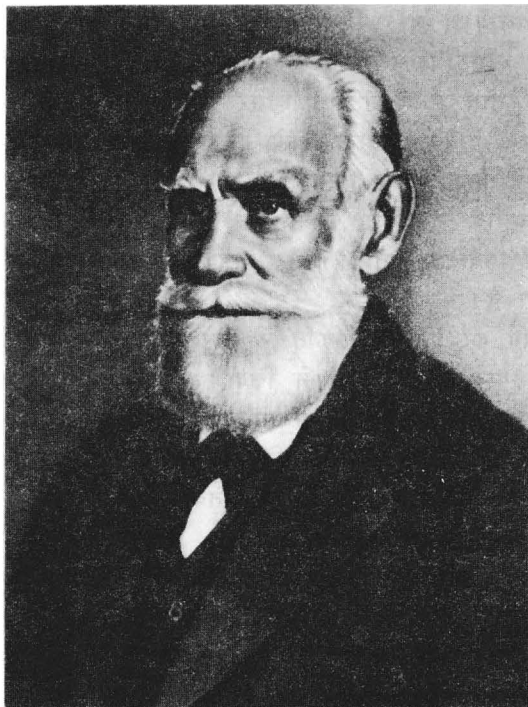
इवान पावलोव

ई० म० सेचेनोव की भांति, ई० प० पावलोव ने अपने वैज्ञानिक कार्यों का आधार जीव की अखंडता तथा उसके परिवेश के साथ उसके एकत्व को माना। उसके नियम के आधार पर उसने पृथक अंगों की कार्य-विधि को अखंड जीव तथा उसके परिवेश के साथ देखा। ई० प० पावलोव से पहले शरीर-क्रिया वैज्ञानिकों के बीच वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये वैश्लेषिक विधि का प्रयोग किया जाता था। ये अध्ययन प्रायः पशुओं पर किये जाते थे, अर्थात शल्य-क्रिया की जाती थी, ताकि शल्य-क्रिया के तुरंत बाद ही वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सके। इस प्रकार, हृदय के कार्य का अध्ययन करने के लिए वक्ष का विच्छेदन ऐसे ही एक प्रभावशाली प्रयोग का उदाहरण है।

ई० प० पावलोव ने जीव के कार्य की अखंडता की धारणा पर आधारित संश्लेषण विधि तैयार की। उसने अपने वैज्ञानिक प्रेक्षण प्रायः पशुओं पर किये, जिन पर तथाकथित दीर्घकाली प्रयोग किये जाते थे। पशुओं की आवश्यक चीड़-फाड़ इस प्रकार की जाती थी कि पशु प्रयोग के उपरान्त जीवित रह सके और उस का वैज्ञानिक प्रेक्षण दीर्घ काल तक (महीनों, या वर्षों तक) किया जा सके।

ई० प० पावलोव ने शरीर-क्रिया विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में महान खोज की। उनके मुख्य लेख रुधिर परिसंचरण, पाचन-क्रिया तथा प्रमस्तिष्क गोलार्धों के शरीर-क्रिया विज्ञान के साथ सम्बंधित हैं। रुधिर परिसंचरण के शरीर-क्रिया विज्ञान के क्षेत्र में ई० प० पावलोव द्वारा किये गये अनुसंधानों ने हृदय-संवहन क्रिया को नियंत्रित करने के सिद्धांत को बनाया।

ई० प० पावलोव ने सिद्ध किया कि पाचन-तंत्र के विभिन्न अंगों का कार्य तंत्रिका-तंत्र द्वारा नियंत्रित होता है और वाह्य वातावरण की विभिन्न परिघटनाओं पर निर्भर करता है।

अंगों के कार्य की प्रतिवर्ती प्रकृति के बारे में ई० म० सेचेनोव के कथन का समर्थन ई० प० पावलोव के लेखों ने किया। वाह्य वातावरण द्वारा उत्पन्न होने वाला उत्तेजन, जो जीव पर प्रभाव डालता है, तंत्रिका तंत्र द्वारा ग्रहण किया जाता है और किन्हीं भी अंगों के कार्य में परिवर्तन करता है। तंत्रिका तंत्र द्वारा प्रेषित उत्तेजन के प्रति इस प्रकार की अनुक्रियाएँ प्रतिवर्त कहलाती हैं।

प्रमस्तिष्क वल्कुट (cerebral cortex) के प्रकार्य के अध्ययन से सम्बंधित ई० प० पावलोव के अनुसंधानों का विशेष महत्त्व है। इन अनुसंधानों से सिद्ध किया गया कि मानव की मानसिक कार्य विधि का आधार प्रमस्तिष्क वल्कुट में घटने वाली शरीर-क्रियात्मक क्रियाएँ बनाती हैं। सेचेनोव तथा पावलोव से पहले मानसिक कार्य-विधि का कारण अज्ञात था और उसे अज्ञेय माना जाता था। प्रमस्तिष्क वल्कुट, जिसके साथ हमारी मानसिक कार्य-विधि सम्बंधित है, के कार्य का अध्ययन केवल उस समय ही सम्भव हो सका जब ई० प० पावलोव ने सिद्ध किया कि प्रमस्तिष्क वल्कुट के प्रकार्य का आधार प्रतिबंधित प्रतिवर्तों का बनना है।

भौतिकवादी विश्व दृष्टिकोण के प्रकृति-विज्ञानी आधारों में से एक आधार ई० प० पावलोव का सिद्धांत है, जिसके अनुसार विश्व वस्तुनिष्ठ है तथा ज्ञेय है।

वर्तमान समय में अनेक संस्थानों और प्रयोगशालाओं में मानव तथा जीवों के तंतुओं तथा अंगों की संरचना एवं कार्य-विधि की समस्याओं का अध्ययन किया जा रहा है। गत वर्षों में किये गए अनेक वैज्ञानिक अनुसंधानों की विशेषता यह है कि अब अनुसंधान तथाकथित आण्विक उपसूक्ष्मदर्शीय तथा कोशिका स्तर पर किया जाता है। इसीलिए अत्यधिक सूक्ष्म तथा जटिल प्रयोग एवं विधियाँ प्रयुक्त की जाती है, जिनकी मदद से कोशिका के अन्दर और उसे बनाने वाली पृथक संरचनाओं के अन्दर घटने वाली क्रियाओं का अध्ययन किया जा सकता है।

इस प्रकार से अनुसंधान करने का कारण उन सभी क्रियाओं की प्रकृति को समझने एवं उन पर नियंत्रण रखने की आवश्यकता है, जो स्वस्थ्य जीव में तथा विभिन्न रोगी अवस्थाओं में भी कोशिकाओं और तंतुओं के कार्य, वृद्धि तथा विकास को निश्चित करती हैं। (उदाहरणतया, दुर्दम अर्बुद में)।

अध्याय 1

कोशिका तथा तंतु

जीवों की सूक्ष्म संरचना और संरचना के विवरणों का, जिन्हें नग्न आँख से देखना असम्भव था, अध्ययन सूक्ष्मदर्शी की खोज के बाद (XVII शताब्दी) सम्भव हो सका। सूक्ष्मदर्शी द्वारा किये गये आरम्भिक अध्ययनों ने ही सिद्ध कर दिया कि पौधे पृथक-पृथक कोशों या कोशिकाओं से बने हैं (यहीं से इसका नाम कोशिका पड़ा)। बाद में अनुसंधानकर्ताओं ने जीव-जंतुओं में भी कोशिकाओं को देखा। लगभग दो शताब्दियों तक यथार्थ तथ्यों का संकलन होता रहा जो कोशिका सिद्धांत – जीवों की कोशिकीय संरचना का सिद्धांत – के आधार बने।

विशेषतः, जंतुओं व मानव के विभिन्न तंतुओं व अंगों की सूक्ष्म संरचना के बारे में विशाल सामग्री XIX शताब्दी के आरम्भ में चेक वैज्ञानिक पूरकिन्ये तथा इसके शिष्यों द्वारा एकत्रित की गई थी।

सन् 1831 में जर्मन वैज्ञानिक ट० शवानी ने कोशिका-सिद्धांत का एक मुख्य विचार प्रस्तुत किया: "कोशिका संरचना सभी पौधों और जीवों के लिये सामान्य है।" प्रकृति विज्ञान के विकास में जीवों की कोशिका-संरचना की खोज का बहुत महत्त्व है। फ्रे० ऐंगेल्स ने इस खोज की प्रशंसा करते हुए इसे मानव की महानतम उपलब्धियों – ऊर्जा-संरक्षण नियम तथा विकासवाद के तुल्य माना। यह समझ में भी आता है, क्योंकि कोशिका सिद्धांत ने जीव-जगत की संरचना में समानता को दिखाया, जिसके आधार पर उत्पत्ति की समानता यानी विकासवाद का विकास हुआ। वस्तुतः, कोशिका सिद्धांत डारविन के विकासवाद की एक आधारशिला थी। इसकी मदद से चिकित्सकों को उन परिवर्तनों को समझने में आसानी हुई, जो जीवों में रोगी अवस्था में होते हैं। इसके बिना उपचार-विज्ञान का सफल विकास असम्भव था।

कोशिकाएं

कोशिकाएँ सप्राण द्रव्य के अस्तित्व के मूल रूप हैं। वनस्पति तथा प्राणी जीव-कोशिकाओं से बने हैं। कोशिका-द्रव्य तथा केन्द्रक कोशिकाओं के दो मुख्य संघटक हैं।

केन्द्रक (nucleus). केन्द्रक प्रायः कोशिका के केन्द्र में स्थित होता है तथा उसकी आकृति अपेक्षाकृत सदा गोलाकार या अंडाकार होती है। इसके चारों ओर सरंध्र झिल्ली होती है जो इसे कोशिका-द्रव्य से पृथक रखती है। प्रत्येक केन्द्रक में एक या दो केन्द्रिकाएँ होती हैं जिनमें न्यूक्लीक अम्ल का संश्लेषण होता है। गुणसूत्र (chromosome) केन्द्रक के मुख्य संघटक होते हैं। ये कोशिका विभाजन के समय प्रकट होते हैं। गुणसूत्र प्रोटीन आधारभूत पदार्थ और DNA से बनते हैं। जीवों की प्रत्येक जाति में गुणसूत्रों की यथातथ्य स्थिर सँख्या होती है (मनुष्य में इसके 23 युग्म होते हैं)। गुणसूत्र आनुवंशिक ज्ञान के वाहक होते हैं (जीवों के आनुवंशिक गुणों का प्रेषण करते हैं)।

कोशिका-द्रव्य. कोशिका-द्रव्य कोशिका पदार्थ का मुख्य भाग है। सामान्य प्रकाशीय या इलेक्ट्रानी सूक्ष्मदर्शी से मालूम होता है कि इसमें अनेक सूक्ष्म संरचनाओं का मिश्रित तंत्र विद्यमान होता है। इनमें से कुछ सामान्य रूप से मिलने वाले अन्तर्वेश होते हैं जिन्हें कोशिकांग या कोशिकागंत कहते हैं। इनमें से कुछ निम्न हैं: जालद्रव्य (जिनमें, यानी तथा कथित राइबोसोमों में, प्रोटीन संश्लेषण होता है), सूत्रकणिका (इसमें सेल को ऊर्जा देते हुए रासायनिक क्रियाएँ घटती हैं), आन्तरिक जालीय तंत्र (चित्र 2), केन्द्रिय भाग या तारककाय (centrosome) जो कोशिका विभाजन क्रिया में भाग लेता है(चित्र 3) इत्यादि। कोशिकांगों के अतिरिक्त कोशिका-द्रव्य में अस्थिर अन्तर्वेश भी हो सकते हैं, जो कोशिका की विभिन्न शरीर-क्रिया अवस्थाओं में प्रकट हो सकते हैं (जैसे, धूप-तामता के बाद त्वचा उपकला की कोशिकाओं में वर्णक के कण)।

विशिष्ट ऊतकों की कोशिकाओं में भी विशिष्ट संरचनाएँ होती हैं जो इन कोशिकाओं के निश्चित प्रकार्यों पर निर्भर करती हैं (जैसे, पेशी-कोशिका में संकुचनशील पेशीतन्तुक)।

अन्तराकोशिका पदार्थ. कोशिकाओं के अतिरिक्त जीव में अन्तराकोशिक पदार्थ भी होता है जिसकी कोशिकीय संरचना नहीं होती है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, अन्तराकोशिक (अंतराली) पदार्थ कोशिकाओं के बीच में उपस्थित होता है। अन्तराकोशिक पदार्थ की संरचना उस ऊतक के प्रकार्यों पर निर्भर करती हैं, जिसका वह भाग होता है। संयोजी ऊतकों में, विशेषतः उन ऊतकों में जिनका यांत्रिकीय पकार्य होता है, अन्तराकोशिक पदार्थ अत्यधिक विकसित होता है। अन्तराकोशिक प्रदार्थ में रेशेदार संरचनाओं और सजातीय आधारभूत पदार्थ में भेद दिखाया जा सकता है। आधारभूत पदार्थ में अनेक प्रकार के रेशे विद्यमान होते हैं और लगता है जैसे वे उसमें सोल्डर कर दिये गए हो। इनमें से कुछ रेशों की प्रत्यास्थता कम होती है, कुछ रेशे श्लेषी होते हैं तथा कुछ – प्रत्यास्थ। उपापचय प्रत्येक किस्म के अन्तराकोशिक पदार्थ एवं कोशिकाओं में होता है। कोशिकाओं की भांति, ये संरचनाएँ
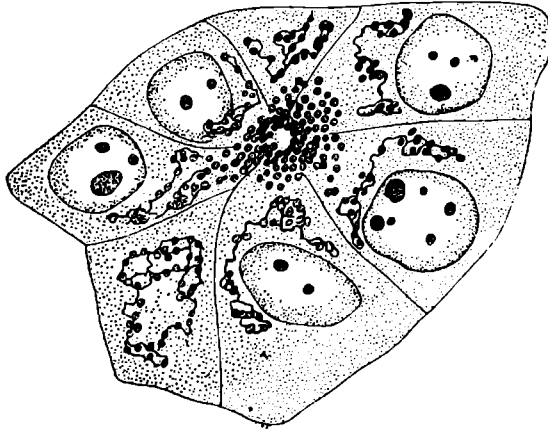
चित्र 2. आंतरिक जालिका तंत्र (अग्न्याशय की कोशिकाओं में)।
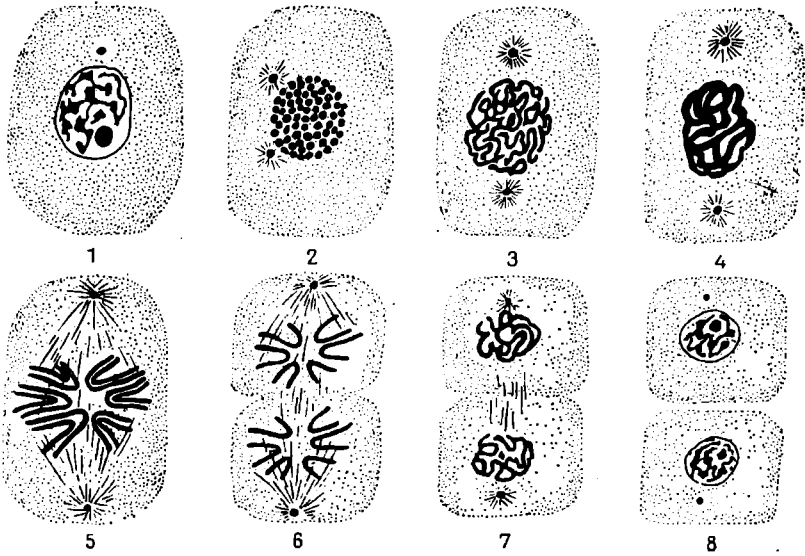
चित्र 3. आंतरिक कोशिकाओं का अप्रत्यक्ष विभाजन या सूत्रीविभाजन (आरेखी)।
1 – कोशिका ; 2 – पूर्वावस्था, कणिकामय केन्द्रक ; 3 – पूर्वावस्था, सघन गोला ; 4 – पूर्वावस्था, अबद्ध गोला ; 5 – मध्यावस्था ; 6 – पश्चावस्था ; 7 – अंत्यावस्था ; 8 – विभाजन के पश्चात् दो कोशिकाएं।

ां विकसित होती हैं, काल-प्रभावित होती हैं, वियोजित होती हैं तथा पुनः बन जाती हैं। इससे परिणाम निकलता है कि ये सप्राण संरचनाएँ हैं तथा ये सप्राण द्रव्य के अस्तित्व के अनेक रूपों में से एक रूप है। जीव में अन्तराकोशिक पदार्थ केवल कोशिकाओं के साथ ही अस्तित्व रखता है जिसके साथ मिलकर यह एक सप्राण तंत्र बनाती है, जो अपनी संरचना एवं प्रकार्य के द्वारा संश्रित होता है।

कोशिका जनन . सप्राण जीव में कोशिकाएँ प्रजनन करती हैं। कोशिका जनन की दो विधियाँ होती है: सूत्रीविभाजन या समसूत्रण (karyokinesis or mitosis) (अप्रत्यक्ष कोशिका-विभाजन) और असूत्रीविभाजन (amitosis) (प्रत्यक्ष कोशिका-विभाजन)। सूत्रीविभाजन में केन्द्रक तथा कोशिका-द्रव्य के अन्दर मिश्रित परिवर्तन विभाजन से पूर्व देखे जा सकते हैं। असूत्रीविभाजन में कोशिका के केन्द्रक और कोशिका-द्रव्य का विभाजन उनके अन्दर किसी प्रकार के गोचर परिवर्तन हुए बिना ही हो जाता है।

मानव जीव में कोशिका-विभाजन की सबसे सामान्य विधि **सूत्रीविभाजन** है। यह चार स्तरों में होती है: पूर्वावस्था, मध्यावस्था, पश्चावस्था तथा अंत्यावस्था।

सूत्री विभाजन के आरम्भ में, पूर्वावस्था के समय, सजातीय केन्द्रक में नाभिकीय पदार्थ का अनेक महीन कणिकाओं में संकेन्द्रण हो जाता है (चित्र 3-2। कणिकाएँ धीरे-धीरे बड़ी हो जाती हैं, संलीन होकर महीन कुंडलित क्रोमैटिन तंतु बनाती हैं (चित्र 3-3)। इसी समय नाभिकीय झिल्ली लुप्त हो जाती है और केन्द्रिय भाग के तारककेन्द्र परस्पर अलग होकर कोशिका के ध्रुवों की ओर चले जाते हैं। पूर्वावस्था के अंत तक ये एकोमेटिन पदार्थ के तंतु बना देती हैं। नाभिकीय पदार्थ के निरंतर सकेन्द्रण के फलस्वरूप (चित्र 3-4) तंतु काफ़ी गाढ़ा और छोटा हो जाता है। चूंकि नाभिकीय झिल्ली लुप्त हो चुकी है, तो यह सीधे कोशिका-द्रव्य में स्थित हो जाता है। फिर क्रोमैटिन तंतु अनुदैर्घ्य रूप से विभाजित हो जाता है और दो परिणामी संतान तंतु एक दूसरे के निकट स्थित हो जाते हैं। इसके बाद विभक्त क्रोमैटिन तंतु गुणसूत्र नामक भिन्न भागों में बट जाता है जो कोशिका-द्रव्य में अव्यवस्थित रूप से स्थित हो जाते हैं। कोशिका में ये सभी परिवर्तन सूत्रीवभाजन के प्रथम स्तर, पूर्वावस्था, में होते हैं।

मध्यावस्था – अगले स्तर में (चित्र 3-5) गुणसूत्र कोशिका के इक्वेटर के साथ-साथ स्थित हो जाते हैं तथा एक्रोमेटिन तर्कु के तंतु पृथक-पृथक गुणसूत्रों के साथ बंध जाते हैं। प्रत्येक जनक गुणसूत्र के संतति गुणसूत्रों में विभक्त हो जाने पर मध्यावस्था समाप्त हो जाती है।

पश्चावस्था (चित्र 3-6) संतति गुणसूत्र कोशिका के ध्रुवों की ओर अलग-अलग चले जाते हैं। इसी समय कोशिका पिंड के मध्य में संकीर्णन उत्पन्न हो जाता है जो धीरे-धीरे दो भागों में विभक्त हो जाता है।

अन्तिम स्तर — अंत्यावस्था में (चित्र 3-7) ऊपर बताई गई सभी क्रियाएँ उत्क्रमित हो जाती हैं। ऐक्रोमेटिन तर्कु लुप्त हो जाता है और तारककेन्द्रों से केन्द्रिय पिंड वन जाता है। गुणसूत्रों में सकेन्द्रित नाभिकीय पदार्थ एकरूपता से फैल जाता है, केन्द्रिक एवं नाभिकीय झिल्ली बन जाती हैं, तथा केन्द्रक का निर्माण हो जाता है। कोशिका-पिंड पूर्णतः विभाजित हो जाती है और दो पृथक युवा कोशिकाएँ उत्पन्न हो जाती है (चित्र 3-8)।

काफ़ी समय तक **असूत्रीविभाजन** को नष्ट हो रही कोशिकाओं के लिए लाक्षणिक अपर्याप्त विभाजन माना जाता था। लेकिन असूत्रीविभाजन अनेक ऊतकों, विशेषतः भ्रूणों के ऊतकों में देखा जाता है। असूत्रीविभाजन के फलस्वरूप पूर्णतया जीवनक्षम कोशिकाएँ बनती हैं। असूत्रीविभाजन में केन्द्रक लम्बा हो जाता है और संकीर्णन उत्पन्न हो जाता है। केन्द्रक का विभाजन भी एक ही साथ हो जाता है। सकीर्णन का क्षेत्र क्षीण हो जाता है तथा केन्द्रक दो भागों में विभक्त होकर केन्द्रकों सहित दो संतति केन्द्रकों को बनाता है। कुछ स्थितियों में केन्द्रक के विभाजन के बाद कोशिका का भी विभाजन हो जाता है, लेकिन कभी-कभी कोशिका-पिंड का विभाजन नहीं होता और द्विकेन्द्रीय या बहुकेन्द्रीय कोशिकाएँ बनती हैं।

ऊतक

मानव शरीर के अंग कई ऊतकों से बने होते हैं। प्रत्येक ऊतक कोशिकाओं और अन्तराकोशिकीय पदार्थ का एक सप्राण तंत्र बनाता है जिसकी निश्चित संरचना और निश्चित प्रकार्य होता है। प्राणि जगत की उत्पत्ति के समय ऊतकों की संरचना एवं प्रकार्य निश्चित हुए। जीव के ऊतक चार प्रकार के होते हैं: 1) उपकला ऊतक; 2) संयोजी ऊतक; 3) पेशीऊतक; 4) तंत्रिका ऊतक।

उपकला ऊतक

उपकला ऊतक त्वचा के बाहरी स्तर, श्लेष्मल तथा सीरमी झिल्लियों को बनाते हैं और ग्रन्थियों की रचना करते हैं।

सभी उपकला ऊतकों के लिए सामान्य लक्षण यह है कि वे मुख्यतः कोशिकाओं से बने होते हैं तथा इनमें बहुत ही कम अन्तराकोशिक पदार्थ होता है। उपकला कोशिकाओं की आकृति अलग होती है तथा, नियमतः, ये स्तर बनाते हैं। उपकला अपने नीचे स्थित ऊतकों से एक बहुत ही महीन झिल्ली द्वारा अलग की गई होती है जिसे आधार कला या **आधार झिल्ली** कहते हैं।

कोशिकाओं की आकृतियों के आधार पर उपकला की तीन मुख्य किस्मों के नाम रखे गए हैं: स्तंभाकार, घनाकार और शल्की (चित्र 4)। **एकस्तरी उपकला**

में कोशिकाएँ एक ही स्तर में व्यवस्थित होती हैं, और **स्तरित उपकला** में ये अनेक स्तरों में व्यवस्थित होती हैं। स्तरित उपकला की कोशिकाओं के अपने ही गुण होते हैं (जैसे, आकृति, आकार आदि)।

संरचनात्मक विशेषताओं के साथ सम्बंधित प्रकार्य गुणों के अनुसार उपकला ऊतकों की निम्न मुख्य किस्मों में विभेद किया गया है।
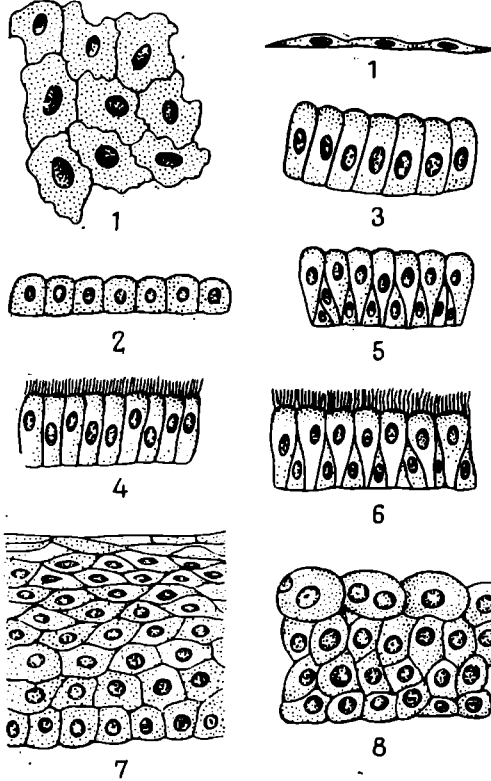
चित्र 4. उपकला की संरचना (आरेख). 1 – सरल शल्की; 2 – सरल घनाकार; 3 – सरल स्तंभाकार; 4 – सरल पक्ष्माभमय; 5 – स्तरित स्तंभाकार; 6 – स्तरित पक्ष्माभमय; 7,8 – स्तरित उपकला।

उन्दयावरणीय उपकला (tegumentary epithelium) त्वचा के बाहरी स्तर और कुछ श्लेष्मल झिल्लियों (मुख कोटर ग्रसनी का कुछ भाग आदि) को बनाती है। यह स्तरित उपकला है। इसका निम्नतम स्तर जनन उपकला कहलाता है। यह स्तंभाकार कोशिकाओं से बनी होती हैं जो उपकला की अन्य कोशिकाओं को प्रतिस्थापित करने के लिए प्रयुक्त होती हैं। अगला स्तर तीक्ष्ण वर्धी कोशिकाओं

ग बना होता है, जो अपने तीक्ष्ण वर्धो द्वारा परस्पर जुड़ी होती हैं। बाहरी कोशिकाएँ चपटी होती हैं और अध्यावरणीय उपकला के बाहरी स्तर महीन पट्टिकाणुओं से बने होते हैं जो धीरे-धीरे छिल जाते हैं या जिनका अपशल्कन हो जाता है। इन बाहरी पट्टिकाणुओं में (उदाहरणतया, त्वचा की उपकला में) एक सघन शृंगीणी पदार्थ होता है।

अध्यावरणीय उपकला का रक्षी प्रकार्य होता है; यह अनेक रासायनिक, तापीय और यांत्रिकीय कारकों के प्रभाव से जीव की रक्षा करता है। इसी के साथ ही यह उपापचय में भी भाग लेता है: इस में से अपशिष्ट उत्पाद का उत्सर्जन होता है, ऊष्मा का विलोपन हो जाता है, आदि।

पक्ष्माभी उपकला यह श्वसन क्षेत्र की श्लेष्मल झिल्ली पर बिछी होती है। यह एकस्तरी है। श्वसन क्षेत्र की ओर सतह पर इसकी कोशिकाएँ कम्पा पक्ष्माभ के साथ सज्जित होती हैं। ये निश्वास ली गई वायु की धारा की विपरीत दिशा में तरंगी रूप से कम्पन करते हैं और वायु में से धूलि-कणों को बाहर निकालते हैं जो श्लेष्मल झिल्ली पर बैठ जाते हैं। अतः, श्वसन क्षेत्र की पक्ष्माभी उपकला मुख्यतः रक्षी भूमिका निभाती है। मनुष्य में पक्ष्माभी उपकला गर्भाशयी नलिका में भी होती है, जहाँ पक्ष्माभ के कम्पन से अण्डायु आगे बढ़ता है। **आंत्र उपकला** आंत्र के कुछ भागों की श्लेष्मल झिल्ली पर बिछी होती है। यह एक स्तरी स्तंभाकार उपकला है जिसकी सतह पर विशिष्ट संरचना या सीमा होती है। इसका मुख्य कार्य भोजन की पाचन क्रिया के फलस्वरूप बनने वाले पोषक पदार्थों का अवशोषण करना है। पाचक रसों की पाचन प्रक्रिया से नीचे विद्यमान ऊतकों की रक्षा करके आंत्र उपकला रक्षी भूमिका भी अदा करती है।

ग्रंथिल उपकला विशेष अंगों, जिन्हें ग्रन्थि कहते हैं, का मुख्य ऊतक है। ग्रन्थिल उपकला की कोशिकाएँ विशेष पदार्थ का निर्माण एवं उत्सर्जन करती हैं। ग्रन्थि के प्रकार्य को स्रावी प्रकार्य तथा इनके द्वारा बनने वाले पदार्थ को स्राव कहते हैं। कुछ स्थितियों में स्राव बनाने की क्षमता उपकला स्तर में विद्यमान पृथक-पृथक कोशिकाओं के लिए विशिष्ट होती है; इन्हें **एककोशिक ग्रन्थि** कहते हैं (जैसे, आंत्र उपकला की कलश कोशिकाएँ जो श्लेष्मा स्रावित करती है)।

अन्य स्थितियों में विशिष्ट स्राव मिश्रित अंगों, **बहुकोशिक ग्रंथियों** (लाला-ग्रंथि, अवटु ग्रंथि आदि), द्वारा बनता है। कुछ ग्रन्थियों में स्रावी वाहिनी होती है तथा इन्हें बहि: **स्रावी** ग्रंथि कहते हैं; अन्य ग्रंथियों में स्रावी वाहिनी नहीं होती और ये अपना स्राव सीधे रूधिर में उत्सर्जित करती हैं—इन्हें **अन्तःस्रावी** ग्रन्थि कहते हैं।

मूत्र नलिका की उपकला वृक्क पदार्थ का मुख्य भाग बनाती है और यह एकस्तरी घनाकार या स्तंभाकार उपकला है जिसमें कोशिकाओं के बीच स्पष्ट

सीमाएँ नहीं होतीं। इसका स्रावी प्रकार्य है (यह मूत्र बनाने की क्रिया में भाग लेती है)।

सीरमी झिल्ली की उपकला (मेसोथीलियम) आन्तरिक कोटरों – सीरमी झिल्ली (पर्युदयी, फुप्फुसावरण और हृदयावरण) – पर बिछी होती है तथा एकस्तरी एवं चपटी होती है। मेसोथीलियम परस्पर आमुख सीरमी झिल्लियों पर बिछी होती है तथा उन्हें आसंजन से बचाती है। इसके अतिरिक्त, यह सीरमी झिल्लियों की सतहों के बीच एक महीन स्तर के रूप में विद्यमान सीरमी तरल के स्राव में भाग लेती है तथा इस प्रकार गति के समय घर्षण को कम करती है।

संयोजी ऊतक

संयोजी ऊतक कोशिकाओं और अन्तराकोशिक पदार्थ से बना होता है। अन्य ऊतकों के अन्तराकोशिक पदार्थ के विपरीत, संयोजी ऊतक का अन्तराकोशिक पदार्थ उतना ही प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट होता है, जितनी कोशिका होती है।
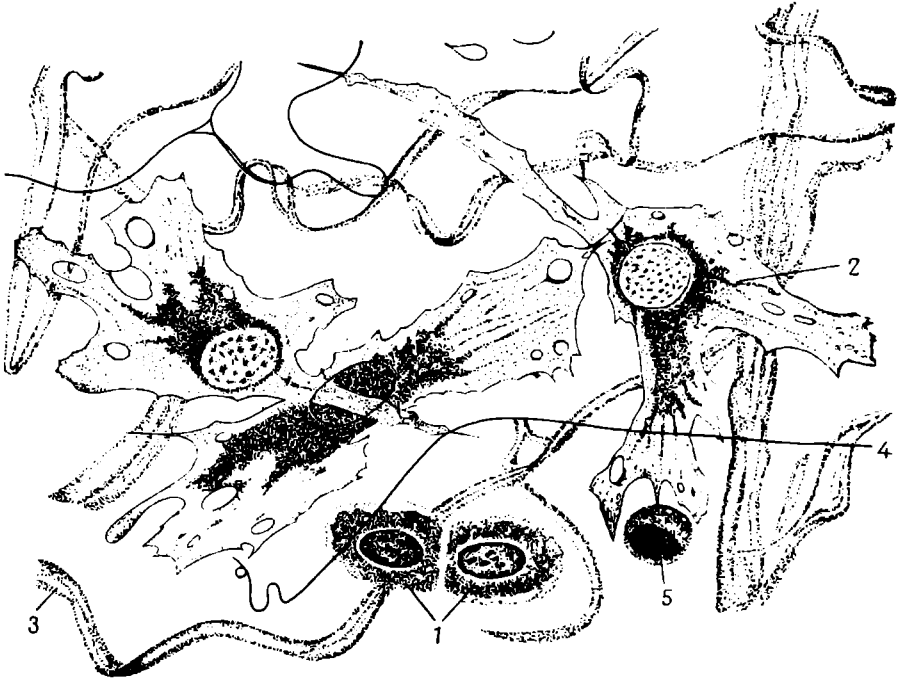
चित्र 5. शलथ रेशेदार संयोजी ऊतक. 1 – स्थिर बृहत्भक्षकाणु; 2 – तंतुकोरक; 3 – कौलैजिनस तंतु; 4 – प्रत्यास्थ तंतु; 5 – लसीकाणु।

ऊतकों के इस ग्रुप में निम्न आते हैं : पोषी ऊतक, जैसे रूधिर और लसीका; मिश्रित ऊतक जो पोषी एवं सहायक कार्य करते हैं (अबंद्ध रेशेदार संयोजी ऊतक व इसकी किस्में); सहायक ऊतक यानी सघन रेशेदार संयोजी ऊतक, उपास्थि एवं अस्थि।

रूधिर और लसीका की संरचना आगे बतायी जाएगी (अध्याय 8, "रूधिर, हृदयवाहिका तंत्र).

रेशेदार संयोजी ऊतक. अन्तराकोशिक पदार्थ में रेशों की सघनता के आधार पर अबद्ध एवं सघन रेशेदार संयोजी ऊतकों में विभेद किया जाता है।

अबद्ध रेशेदार संयोजी ऊतक (तथा इसकी किस्में) सम्पूर्ण जीव में होता है (चित्र 5)। यह रूधिर वाहिकाओं में होता है, अंगों के बीच स्तर का निर्माण करता है, जिसे अवत्वक स्तर कहते हैं। संक्षेप में, यह अपवादरहित सभी अंगों का घटक है। इस ऊतक की कोशिकाओं, मुख्यतः रेशकोरक और स्थिर वृहतभक्षकाण की आकृति एवं प्रकार्य भिन्न-भिन्न होते हैं। रेशकोरक विशाल, द्रुमाकृतिक और प्रायः लम्बी कोशिकाएँ होती हैं। ये अन्तराकोशिक पदार्थ को बनाने तथा विशेषकर अबंद्ध रेशेदार संयोजी ऊतक के टेशों को बनाने में भाग लेती हैं।

स्थिर वृहतभक्षकाण, अथवा स्थिर परिभ्रमी कोशिकाएँ, प्रायः गोलाकार या अण्डाकार होती हैं। ये स्वयं गति कर सकती हैं तथा भक्षकाणुक्रिया, अर्थात् सघन कणों का सक्रिय अंतर्ग्रहण और उसका पाचन कर सकती हैं (यदि वे कार्बनिक हैं)। रूसी वैज्ञानिक ई० मेचनीकोव ने सर्वप्रथम भक्षकाणुक्रिया परिघटना का वर्णन किया।

कोशिकाओं की इन मुख्य किस्मों के अतिरिक्त अबद्ध संयोजी ऊतकों में वसा कोशिकाएँ, जालिका कोशिकाएँ आदि, भी होती हैं।

अबद्ध रेशेदार संयोजी ऊतक का अन्तराकोशिक पदार्थ मुख्य, श्यान पदार्थ और उसमें विद्यमान विभिन्न रेशों से बनता है। जालीय रेशे महीन होते हैं व द्रुमाकृतिक नहीं होते; ये एक बंडल बनाते हैं तथा बहुत ही कम प्रतिस्कंदी होते हैं। प्रत्यास्थ रेशे महीन एवं द्रुमाकृतिक होते हैं और बंडल नहीं बनाते; ये आसानी से खिंच सकते हैं तथा जब तनन बल का प्रभाव बंद हो जाता है तो ये पुनः अपनी मूल अवस्था में आ जाते हैं।

अबद्ध रेशेदार संयोजी ऊतकों का सहायक, रक्षी एवं पोषी प्रकार्य होता है। सहायक प्रकार्य वे रेशे करते हैं जो अंग की पीठिका बनाते हैं और उसे दृढ़ता एवं प्रत्यास्थता देते हैं। रक्षी प्रकार्य वृहतभक्षकाणु करते हैं, अर्थात् वे कोशिकाएँ जो रोगाणुओं, रोग पैदा करने वाले कारकों को जीव में प्रवेश करने से रोकने के लिये संघर्ष में सक्रिय भाग लेती हैं। पोषी प्रकार्य इस ऊतक के आधारभूत पदार्थ द्वारा होता है, जो विभिन्न अंगों के ऊतकों के पोषण में भाग लेता है। रूधिर में से पोषक पदार्थ अंगों के ऊतकों में रूधिर वाहिकाओं की भित्ति द्वारा प्रवेश करते हैं जो हमेशा
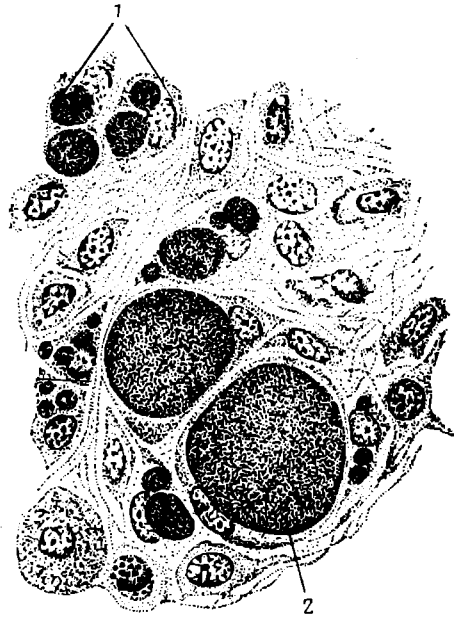
चित्र 6. वसा ऊतक. 1 – बृहत्‌भक्षकाणु ; 2 – वसा कोशिका।

चित्र 7. जालिका ऊतक. 1 – तथा 4 – संयोजी ऊतक तंतु; 2 तथा 3 – कोशिकाएं।

संयोजी ऊतकों के साथ संबद्ध होती हैं। अतएव, किसी अंग के ऊतकों तक पहुँचने के लिये पोषक पदार्थ को रूधिर वाहिकाओं की भित्ति में से गुज़र कर पड़ोसी संयोजी ऊतक में प्रवेश करना होगा। अंग में कौन-सा निश्चित पदार्थ किस भाग में तथा किस गति से प्रवेश करेगा—यह वाहिका की भित्ति की अवस्था एवं संयोजी ऊतक के आधारभूत पदार्थ की अवस्था पर निर्भर करेगा।

वसा एवं जालिका ऊतक अवद्ध रेशेदार संयोजी ऊतकों की किस्में हैं।

वसा ऊतक (चित्र 6) अवत्वक कोशिकीय ऊतक यानी वाहिका और अनेक अंगों के चारों ओर के स्तरों, और ओमेन्टम के कुछ भाग को बनाता है। अबद्ध रेशेदार संयोजी ऊतक के लाक्षणिक कोशिकाओं और अन्तराकोशिक पदार्थ के अतिरिक्त, वसा ऊतक में अनेक वसा कोशिकाएँ होती हैं। मुख्यतः इसका पोषी प्रकार्य होता है, क्योंकि इसमें वसा की मात्रा सुरक्षित रहती है जिसे आवश्यकतानुसार जीव प्रयोग में ला सकता है। वसा स्तरों का यांत्रिकीय प्रकार्य भी होता है जैसे कि वे अंग को चोट लगने से बचाते हैं (उदाहरणतया, वाहिकाओं को)। **जालिका ऊतक** (चित्र 7) रक्तोत्पादक अंगों का आधारभूत घटक है तथा अन्य अंगों का कुछ भाग बनाते हैं। इस ऊतक में कोशिकाएँ जीवद्रव्यी क्रियाओं द्वारा जुड़े होते हैं; जीव द्रव्य के वहुकेन्द्रकी सकेन्द्रण की ऐसी संरचनाएँ बहुकेन्द्रकी (syncytium) कहलाती हैं। भक्षकाणुक्रिया की क्षमता रखने वाली कोशिकाएँ—वृहत्‌भक्षकाणु बहुकेन्द्रकी से अपने आपको अलग कर सकते हैं। अवद्ध संयोजी ऊतकों की भांति, जालिका ऊतक पोषी एवं रक्षी प्रकार्य करते हैं। इनकी सहायक भूमिका नगण्य मात्र ही है।

सघन रेशेदार संयोजी ऊतक (चित्र 8) कण्डरा, स्नायु और त्वचा बनाते हैं तथा सहायक प्रकार्य करते हैं। इसके लिये अत्यधिक सकेन्द्रित अन्तराकोशिक पदार्थ लाक्षणिक है, विशेषकर, श्लेषी रेशों के बंडल। ऊतक में प्रत्यास्थ रेशे तथा संरचनाहीन पदार्थ की भी कुछ मात्रा होती है। रेशों के बीच कोशिकाएँ (रेशाणु आदि) होते हैं।

उपास्थिमय ऊतक तीन प्रकार के होते हैं! काचाभ, प्रत्यास्थ तथा रेशेदार। इनमें विभेद उनके अन्तराकोशिक पदार्थ के आधार पर किया जाता है। सभी उपास्थियों का यांत्रिकीय प्रकार्य होता है।

काचाभ उपास्थि (चित्र 9) पसली के उपास्थिमय भाग, कंठउपास्थि का अधिकांश भाग एवं अधिकतर जोड़ों की संधिअस्थि बनाते हैं। सूक्ष्मदर्शी में से देखने पर इसका अन्तराकोशिक पदार्थ सजातीय काचाभ सकेन्द्रण प्रतीत होता है। विशेष विधियों की मदद से किये गए अनुसंधान से ज्ञात हुआ कि यह संरचनाहीन आधात्री एवं रेशे हैं जो अपनी संरचना के आधार पर श्लेषी रेशों से काफ़ी मिलते हैं। आधात्री के अन्दर अण्डाकार कैप्स्यूल में उपास्थिमय कोशिकाएँ होती हैं।
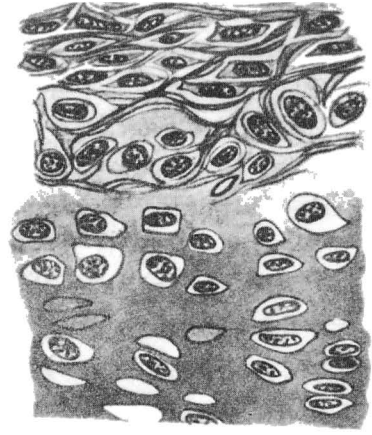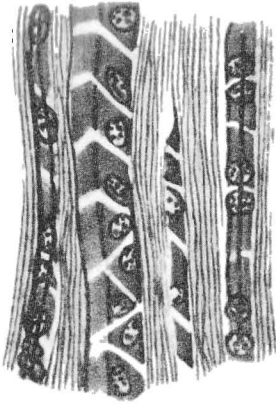
चित्र 8. कण्डरा का अनुदैर्घ्य काट।

चित्र 9. काचाभ उपास्थि.
1 – पर्युपास्थि ; 2 – उपास्थि युक्तऊतक।

प्रत्यास्थ उपास्थि कर्णपल्लव और कण्ठच्छद का आधार बनाती है। काचाभ उपास्थि के विपरीत, इसमें आधात्री में प्रत्यास्थ रेशों का सघन जाल है।

तंतूपास्थि अस्थि की कुछ संधियों में होती है (जैसे, अंतराकशेरूक बिम्बों में होती है, जहाँ कण्डार अस्थियों के साथ जुड़े होते हैं। इस उपास्थि के अंतराकोशिक पदार्थ में श्लेषी रेशों के अनेक समानातंर एवं स्पष्ट बंडल होते हैं एवं आधात्री की बहुत ही कम मात्रा होती है।

सभी उपास्थियाँ पर्युपास्थि से ढकी होती हैं जो एक प्रकार का अबद्ध रेशेदार संयोजी ऊतक है। उपास्थि का पोषण पर्युपास्थि करती है, तथा उपास्थि इसी पर विकसित होती है।

अस्थि ऊतक अस्थयणु नामक अस्थि कोशिकाओं और अन्तराकोशिक पदार्थ से बने हैं (चित्र 10)। अस्थयणु द्रुमाकृतिक कोशिकाएँ होती हैं जिनकी क्रियाएँ एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध रखती हैं। कोशिका-पिंड विशेष अस्थि कोटर में होती हैं तथा उनकी क्रियाएँ तथाकथित अस्थि नलिका (bone canaliculi) में होती हैं। अन्तराकोशिक पदार्थ संरचनाहीन आधात्री एवं रेशों से बना होता है और संघटन तथा गुणों के आधार पर श्लेषी रेशों जैसा होता है। पर, अन्य प्रकार के संयोजी ऊतकों के विपरीत, अस्थि ऊतक के अन्तराकोशिक पदार्थ में खनिज लवण (कैल्सियम फॉस्फेट, कैल्सियम फ्लुओराइड आदि) होते हैं जो इसे विशेष दृढ़ता देते हैं।

अस्थि का प्रमुख घटक ऑस्टियोन (osteon) होता है (चित्र 11), जो सकेन्द्रीय रूप से व्यवस्थित अस्थि की परतों का तंत्र है। इन परतों का रूप बेलनाकार
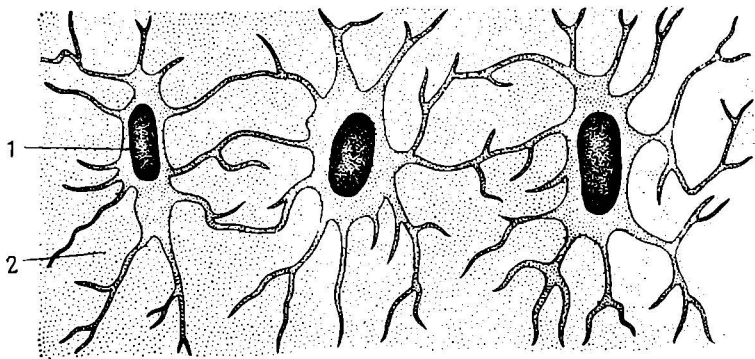
चित्र 10. अस्थिल ऊतक. 1 – अस्थि कोशिकाएं अथवा 2 – अंतराकोशिक पदार्थ।
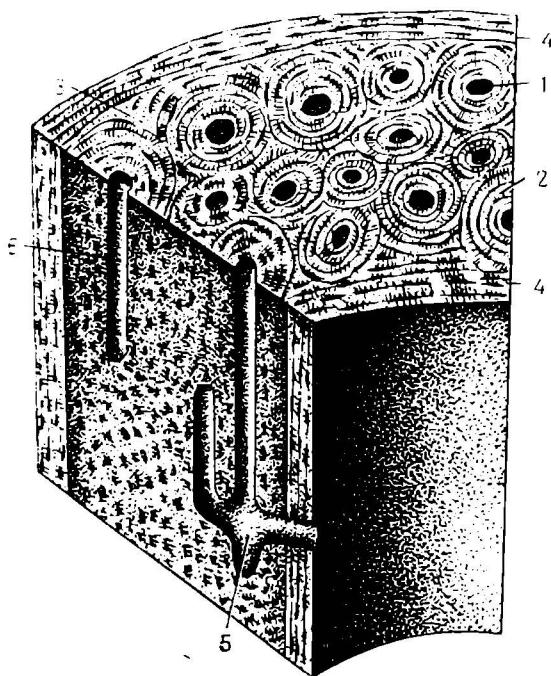
चित्र 11. **अस्थि की संरचना।** 1 – हैवर्स नलिका ; 2 – हैवर्स तंत्र ; 3 – अंतराली अस्थि प्लेट ; **4 – सामान्य अस्थि प्लेट** ; 5 – फोकमान नलिका ; **6 – हैवर्स नलिका का अनुदैर्घ्य भाग।**

होता है तथा एक बेलन दूसरे के अन्दर स्थित होता है। यह हैवर्स तंत्र कहलाता है। आस्टियोन के मध्य में एक नलिका होती है जिसे हैवर्स नलिका कहते हैं। हैवर्स नलिका में रुधिर वाहिकाएँ होती हैं जो विशाल वाहिकाओं से आरम्भ होती हैं। ये विशाल वाहिकाएँ अस्थि में तथाकथित फॉकमान नलिका (Volkmann's canal) द्वारा प्रवेश करती हैं। आस्टियानों के बीच अन्तराली अस्थि परतें होती हैं।

वाह्य एवं आन्तिरक सामान्य अस्थि परतें भी होती हैं।

पेशी ऊतक

इस ग्रुप में भिन्न संरचना एवं भिन्न उत्पत्ति वाले ऊतक आते हैं: चितनी पेशी ऊतक और रेखित पेशी ऊतक। इन ऊतकों की विशेषता इनकी संकुचनशीलता है।
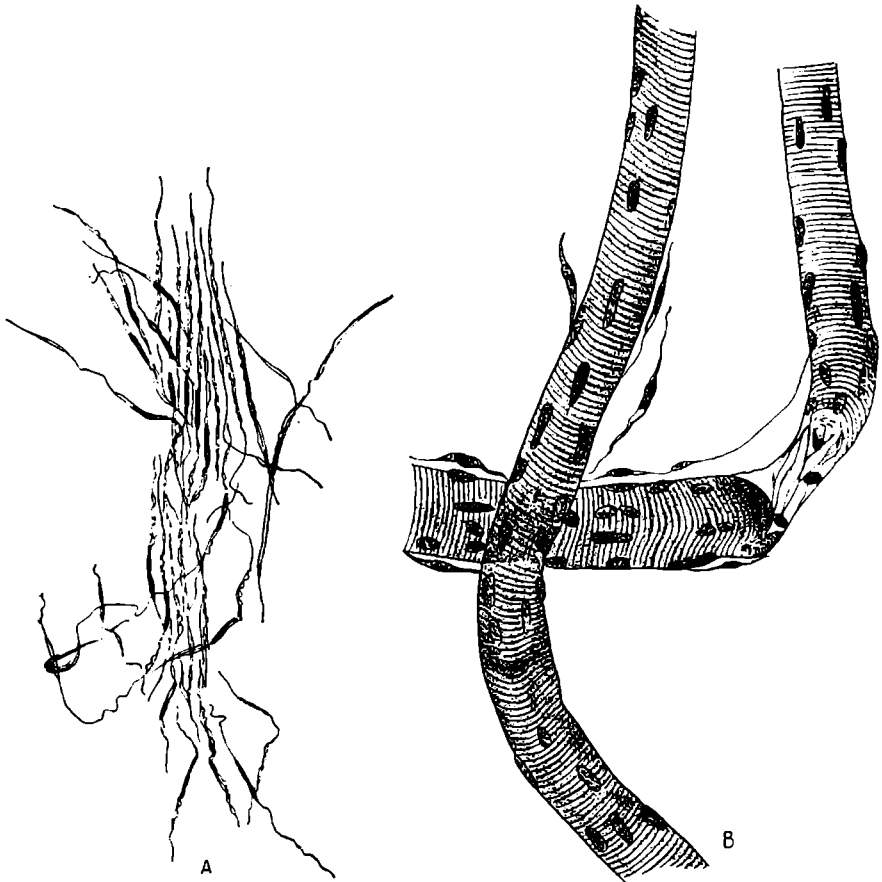
चित्र 12. पेशी ऊतक. A – चिकना पेशी तंतु; B – रेखित पेशी तंतु.

चिकनी पेशी ऊतक आंतरिक अंगों (आंत्र, आशय, गर्भाशय आदि) तथा रुधिर वाहिकाओं की भित्तियों तथा त्वचा में मिलता है। इसका संरचनात्मक तत्त्व पेशी रेशा है जो तर्कुरूपी कोशिका है तथा 60-100 μ लम्बी है एवं डण्डीनुमा केन्द्रक वाली पेशी द्रव्य (यानी कोशिक-द्रव्य से बनी होती है। पेशी द्रव्य में विशेष संरचनाएँ – संकुचनशील तंतु या पेशी तंतु – होती हैं। (चित्र 12A)

रेखित पेशी ऊतक पेशियाँ, हृदय तथा कुछ आन्तरिक अंगों (जीह्वा, ग्रसनी, मृदु तालु आदि) की पेशियाँ बनाता है। इसका संरचनात्मक तत्त्व पेशी रेशा है जो मनुष्य में 12.5 से० मी० लम्बा होता है। पेशी द्रव्य के अतिरिक्त, पेशी रेशे में अनेक केन्द्रक और झिल्ली होती हैं। पेशी द्रव्य में अनुदैर्ध्य तंतु व पेशी तंतु होते हैं, जो समरूप नहीं होते और इन पर हल्की एवं गहरी पट्टियाँ बनी होती हैं (पेशी रेशे को "रेखित" नाम इसी कारणवश दिया गया है) (चित्र 12B)।

पेशी रेशे बंडल बनाते हैं जो महीन, अबद्ध रेशेदार संयोजी ऊतकों द्वारा एक दूसरे से अलग किये होते हैं।

चित्र 13. तंत्रिकोशिका का आरेख। 1 – केंन्द्रक सहित कोशिका पिंड। 2 – पार्श्व-तंतु; 3 – तंत्रिकावर्ध; 4 – माइलिन आच्छद; 5 – अंतिम बहुशाखन।

तंत्रिका ऊतक

तंत्रिका ऊतक तंत्रिका (या स्नायविक) तंत्र का मुख्य घटक है जो जीव की सभी क्रियाओं पर नियंत्रण रखता है और जीव व उसके परिवेश के बीच सम्बन्ध निश्चित करता है।

तंत्रिका ऊतक के प्रमख गुण उसकी उत्तेजनशीलता एवं चालकता हैं। तंत्रिका ऊतक विभिन्न उद्दीपक से प्रभावित होता है जो उत्तेजन द्वारा जीव पर प्रभाव डालते हैं। तंत्रिका ऊतक उत्तेजन का प्रेषण तथाकथित तंत्र के रूप में करता है। तंत्रिका ऊतक तंत्रिका कोशिकाओं एवं तंत्रिबंध से बनता है।

तंत्रिका कोशिका या **न्यूरान** (चित्र 13) कोशिका-पिंड, इसकी क्रियाओं एवं शिराओं से बनता है। क्रियाओं की सँख्या के आधार पर न्यूरॉन एकध्रुवी (एक क्रिया वाले), द्वि-ध्रुवी (दो क्रिया वाले), या बहु-ध्रुवी (तीन या अधिक क्रियाओं

चित्र 14. तंत्रिका के छोर. A – पेशी तंतु पर प्रेरक का छोर : 1 – तंत्रिका तंतु ; 2 – पेशी तंतु ; B – उपकला स्वतंत्र तंत्रिका छोर : 1 – स्वतंत्र तंत्रिका छोर ; 2 – उपकला कोशिकाएं।

वाले) होते हैं। छद्म एकध्रुवी कोशिकाएँ भी होती हैं: एक क्रिया इस प्रकार की कोशिका के पिंड से आरम्भ होती है, और फिर दो क्रियाओं में विभाजित हो जाती है। अपने प्रकार्यों के आधार पर तंत्रिका ऊतकों को संवेदी, अंतर्वाही, प्रेरक आदि प्रकारों में बाँटा गया हैं। प्रत्येक तंत्रिका कोशिका में एक (या अधिक यह इसकी किस्म पर निर्भर करता है) प्रवर्ध, द्रुमाकृतिक होती है, जिसके द्वारा उत्तेजन कोशिका पिंड को प्रेषित किया जाता है, तथा एक और प्रवर्ध – न्युराइट या ऐक्सोन – होती है, जिसके द्वारा उत्तेजन कोशिका-पिंड से दूर ले जाया जाता है। द्रुमाकृतिक प्रायः छोटे व शाखाओं में बंटे होते हैं, जबकि न्युराइट लम्बे होते हैं। केवल कुछ विशेष तंत्रिका कोशिकाओं में ही लम्बे द्रुमाकृतिक होते हैं।

तंत्रिका कोशिका के पिंड में केन्द्रक और कोशिका-द्रव्य (न्युरोप्लेज्म) होते हैं। कोशिकांगों के अतिरिक्त (जालिका उपक्रम आदि), जो सभी कोशिकाओं के लिये लाक्षणिक है, तंत्रिका के कोशिका द्रव्य में विशेष संरचनाएँ होती हैं, जो तंत्रिका ऊतक के विशिष्ट प्रकार्यों के साथ सम्बंधित होती हैं। ये **तंत्रिका तंतु** (बहुत ही महीन तंतु) कहलाते हैं, जो कोशिका-पिंड के अंदर एक प्रवर्ध से दूसरे प्रवर्ध में भ्रमण करते रहते हैं। तंत्रिका द्रव्य की अन्य विशेष संरचना तथाकथित **व्याघ्रज पदार्थ** (nissl substance) है; अध्ययन की विशेष विधियों से ज्ञात हुआ है कि ये दानों एवं स्थूल गांठों से बने हैं। व्याघ्रज पदार्थ उस कोशिका में से लुप्त हो जाता है जो काफ़ी समय तक कार्यरत अंग को उत्तेजित कर रहा हो; लेकिन कोशिका के विराम-अवस्था में लौट आने पर यह पुनः प्रकट हो जाता है।

तंत्रिका रेशे, तंत्रिका कोशिकाओं के प्रवर्ध कोशिका-द्रव्य से बने होते हैं जिसमें तंत्रिका तंतु फैले रहते हैं। प्रवर्धों की झिल्लियों की संरचना समरूप नहीं होती है, तथा इनमें मज्जायुक्त (myelinated) एवं मज्जाहीन (unmyelinated) तंत्रिका तंतुओं का विभेद किया गया है। मज्जायुक्त तंतु पर माइलिन या मज्जा नामक सफेद चर्बीदार पदार्थ होता है; मज्जाहीन तंतु पर यह अनुपस्थित रहता है। तंत्रिका सिरायें (चित्र 14) या तो उद्दीपन प्राप्त करती हैं या उत्तेजन को कार्यरत अंगों की ओर प्रेषित करती हैं। पहली को संवेदी या संग्राही सिरा कहते है तथा दूसरी को गति-प्रेरक (पेशियों में) एवं स्रावी (ग्रंथियों में) सिरा कहते हैं।

एक कोशिका में से दूसरी कोशिका में तंत्रिका संवेदन न्युरोनसंधि में से गुज़रते हैं जो दो तंत्रिका कोशिकाओं के बीच संचार का क्षेत्र है।

तंत्रिका तंत्र का दूसरा भाग तत्त्व तंत्रिबंध (चित्र 15) है, जो विभिन्न आकृति वाली कोशिकाओं से बना है, इनमें मुख्यतः द्रुमाकृतिक होते हैं (ताराकृतिक व वृक्षाकृतिक (stellate and dendrom form)। तंत्रिबंध कोशिकाएँ मस्तिष्क तथा मेरु रज्जू में ही नहीं अपितु तथाकथित शवान स्तरों में भी विद्यमान होती हैं। ये मस्तिष्क से आने वाले तंतिका तंतुओं के साथ भी होती हैं।
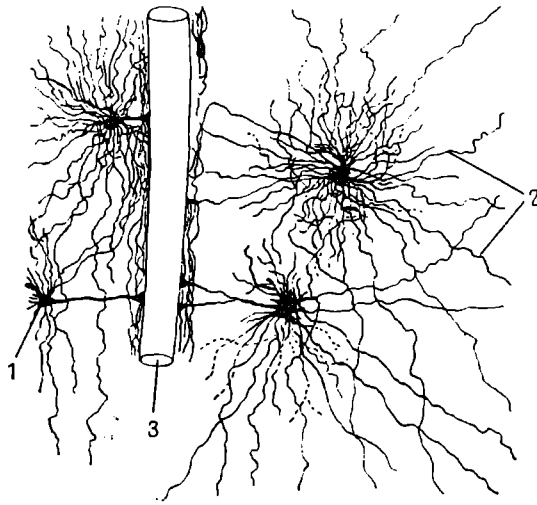
चित्र 15. तंत्रिबद्ध कोशिकाएं. 1 – कोशिका पिंड ; 2 – प्रक्रम ; 3 – रूधिर कोशिका.

तंत्रिका ऊतकों में तंत्रिबंध का प्रकार्य पोषी, रक्षी तथा कुछ सहायक भी होता है।

अंग की अवधारणा एवं अंगों का तंत्र

मानव शरीर में अनेक अंग विद्यमान हैं: अस्थियाँ, पेशियाँ, आमाशय, हृदय, मस्तिष्क, मेरू-रज्जु आदि। प्रत्येक अंग की जटिल संरचना होती है तथा इसका निश्चित प्रकार्य होता है। अंग अनेक ऊतकों से बना होता है, लेकिन अंग का अधिकांश भाग दिये गए अंग के विशिष्ट प्रकार्य के साथ सम्बंधित ऊतक से बना होता है। उदाहरणतया, पेशी में पेशी ऊतक अबद्ध संयोजी ऊतक तथा कुछ अन्य ऊतक होते हैं, लेकिन पेशी का अधिकांश भाग पेशी ऊतक से बना होता है, जो पेशी की संकुचनशीलता के गुण को निर्धारित करता है।

प्रत्येक अंग में रूधिर वाहिकाएँ होती हैं, तथा अधिकतर अंगों में सलीका वाहिकाएँ भी होती हैं। सभी अंगों में तंत्रिकाएँ भी होती हैं जो उनके अन्दर शाखाओं में विभाजित हो जाती हैं।

समान प्रकार्यों वाले अंग एकत्रित होकर अंगों का तंत्र बनाते हैं। ऐसे कुछ तंत्र हैं – अस्थि तंत्र, पेशी तंत्र, पाचन तंत्र, श्वसन तंत्र, मूत्रांग तंत्र, अन्तः तंत्र, हृदय तंत्र, तंत्रिका तंत्र तथा ज्ञानेंद्रियों का तंत्र।

पाचन, श्वसन तथा मूत्र अंगों को प्रायः आन्तरिक अंग कहते हैं।

इनमें से अधिकांश अंग वक्षीय, उदरीय तथा श्रोणि कोटरों में होते हैं।

रोगविषयक एवं रोगविज्ञान शरीर में प्रायः मृदूतकीय (पैरेन्काइमेटस) अंग जैसा पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किया जाता है। इस पारिभाषिक शब्द का अभिप्राय आन्तरिक अंगो से है जो पैरेन्काइमा (मृदूतक) नामक मुख्य ऊतक से बने हैं और पीठिका नामक संयोजी ऊतक में बंद हैं। सामान्यतः पैरेन्काइमा विभिन्न संरचनाओं और प्रकार्यों वाली उपकला कोशिकाओं से बने हैं। यकृत, फेफड़े और वृक्क पैरेन्काइमेटस अंगों के उदाहरण है तथा खोखले आन्तरिक अंगों से पृथक हैं जिनका स्वरूप नलिका या थैले जैसा होता है (जठर, आंत्र, आशय आदि)। खोखले अंगों के पक्ष अनेक तहों या झिल्लियों से बने होते है, जो विभिन्न ऊतकों से बनी हैं।

अंगों के विभिन्न तंत्रों के मुख्य प्रकार्य संक्षिप्त रूप से नीचे दिये गए है।

अस्थियां और **संधियां** अस्थि-पंजर बनाती हैं जो सम्पूर्ण शरीर को टेक देता है। पेशियाँ व अस्थिपंजर मिलकर आधार-मोटर उपकरण बनाता है।

श्वसन तंत्र जीव और बाह्य वातावरण के बीच गैसीय विनिमय का प्रकार्य करता है। जीव आक्सीजन प्राप्त करके कार्बन डाइआक्साइड निष्कासित करता है।

पाचक तंत्र की मदद से जीव पोषण प्राप्त करता है। पाचक तंत्र के अंगों में भोजन में विद्यमान प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट और अन्य पदार्थों का जटिल परिवर्त्तन होता है जिसके फलस्वरूप ये सरल जल में विलेय पदार्थों में रूपांतरित हो जाते हैं, और अब इनका अवशोषण सम्भव हो जाता है।

हृदयवाहिका तंत्र में रूधिर होता है जो हृदय के संकुचन के कारण सम्पूर्ण जीव में निरंतर परिसंचरण करता रहता है। रूधिर का मुख्य प्रकार्य सभी अंगों को पोषक पदार्थ एवं आक्सीजन पहुंचाना और उनसे उपापचयजों (उपापचय के उत्पादों) को निष्कासित करना है।

मूत्र अंग उत्सर्गों का उत्सर्जन करते हैं। फेफड़े (जो कार्बन डाइआक्साइड का विलोपन करते हैं) और त्वचा उत्सर्गों को विलुप्त करने में भाग लेते हैं। इसके अतिरिक्त त्वचा का रक्षी प्रकार्य भी है; यह बाह्य वातावरण में उपस्थित हानिकारक वस्तुओं से जीव की रक्षा करती है।

जननेन्द्रियों का प्रकार्य जनन करना है।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियां हॉर्मोन नामक एक विशेष पदार्थ उत्सर्जित करती हैं जो रूधिर में प्रवेश कर जाते हैं तथा सम्पूर्ण जीव में विस्तारित हो जाते हैं। हॉर्मोन विभिन्न प्रकार्यों, विशेषतः उपापचय पर, प्रभाव डालते हैं।

संवेद ग्राही की मदद से तंत्रिका तंत्र बाह्य वातावरण एवं आन्तरिक अंगों में अनेक उद्दीपकों को अनुभव करता है जो हमारे संवेदनों का आधार बनाते हैं।

तंत्रिका तंत्र सभी अंगों की क्रियाओं और उनके बीच के सम्बन्धों, और इसीलिये, जीव की अखंडता को बनाये रखता है। जीव और बाह्य वातावरण के बीच सम्बन्ध मुख्यतः तंत्रिका तंत्र तथा उससे सम्बंधित संवेद अंगों द्वारा ही बनता है।

तंत्रिका तंत्र में मस्तिष्क, मेरू रज्जु और तंत्रिकाएँ सम्मिलित है। मस्तिष्क और मेरू रज्जु परस्पर मिलकर केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र बनाते हैं, तथा तंत्रिकाएं परिधीय तंत्रिका तंत्र बनाती हैं। तंत्रिका तंत्र का उच्चतम भाग प्रमस्तिष्क वल्कुट होता है। तंत्रिकाएं दो प्रकार की होती हैं: संवेदी या अभिवाही तंत्रिकाएं और प्रेरक अथवा अपवाही तंत्रिकाएं। ग्राही से मेरू और मस्तिष्क तक आवेग-प्रेषण संवेदी तंत्रिकाओं के माध्यम से किया जाता है। आवेग केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र से अँगों तक पहुंचने के लिए प्रेरक तंत्रिकाओं के माध्यम में से गुज़रते हैं।

संपूर्ण जीव

जीव की अखंडता. जीव एकल तंत्र है। जटिल जीव में कोशिकाएं और अन्तरा-कोशिकीय पदार्थ ऊतकों को बनाते हैं, ऊतक अंगों को बनाते हैं, तथा अंग मिलकर एक तंत्र का निर्माण करते हैं। सभी कोशिकाएं, ऊतक, अंग तथा अंगों के तंत्र परस्पर काफ़ी सम्बन्ध रखते हैं तथा एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

कोशिकाओं, ऊतकों, अंगों तथा सम्पूर्ण जीव की जैव क्रियाएं उपापचय पर आधारित होती हैं जो दो पारस्परिक सम्बंधित क्रियाओं से बनता हैं: पोषक पदार्थों का स्वांगिकरण (उपचय) और कार्बनिक पदार्थों का अपघटन (अपचय)। कोशिकाओं तथा ऊतकों के मिश्रित पदार्थ निरंतर सरल पदार्थों में टूटते रहते हैं। लेकिन साथ ही कोशिकाओं और ऊतकों को बाहर से प्राप्त होने वाले अन्य पदार्थों द्वारा वे पुनः बनते भी रहते हैं। कोशिकाओं व ऊतकों में अपमचय के साथ-साथ ऊर्जा का विसर्जन भी होता है जो सभी अंगों व ऊतकों, उपचय समेत, (पेशियों का संकुचन, हृदय की कार्य-विधि, प्रमस्तिष्कीय कार्य-विधि इत्यादि) को कार्यान्वित करती है।

उपापचय पर आधारित जीव की जैव क्रियाओं के समय अनेक अंग और अंगों के तंत्र समीप सम्बन्ध तथा पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते है। इसे कंकाल मेशी की मदद से आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। अन्य अंगों की भांति पेशी में भी उपापचय घटता है। स्वाभाविक है कि इसके लिये पोषक पदार्थों व ऑक्सीजन का निरंतर संभरण आवश्यक है जो रूधिर वाहिकाओं के माध्यम से रूधिर द्वारा दिये जाते हैं। रूधिर में पोषक पदार्थ पाचन-तंत्र तथा आक्सीजन श्वसन-तंत्र (फेफड़ों) में से प्रवेश करते हैं। उपापचय क्रिया के दौरान बनने वाले अपशिष्ट उत्पाद पेशियों में से रूधिर में प्रवेश कर जाते हैं तथा विसर्जन अंगों तक पहुंचा दिये जाते है जहां से उनका विसर्जन हो जाता है। रूधिर-वाहिकाओं में रूधिर का प्रवाह हृदय के संकुचन के फलस्वरूप होता है जिसका कार्य अन्य अंगों के कार्य की भांति, तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित होता है।

अंगों के विभिन्न तंत्रों के बीच सम्बन्ध को भी उनकी क्रियाओं में समन्वित परिव-

ानों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। किसी एक अंग या अंगों के तंत्र में क्रियाओं में तीव्रता बढ़ जाने के फलस्वरूप अन्य तंत्रों में परिवर्तन होते हैं। उदाहरणतया शारीरिक कार्य मे पेशियों के उपापचय में एकदम वृद्धि हो जाती है। इसके परिणमस्वरूप हृदयवाहिका तंत्र, श्वसन तंत्र, विसर्जन तंत्र तथा अन्य तंत्रों में समन्वित परिवर्तन होते हैं।

विभिन्न अंगों व सम्पूर्ण जीव के बीच पारस्परिकनिर्भरता रोग के रूप में प्रकट होती है। एक अंग में होने वाले वैकृत परिवर्तन अंगों के अन्य तंत्रों पर भी प्रभाव डालेंगे। जीव की अखंडता के नियम से अर्थ निकलता है कि किसी अंग के रोग को कभी-भी पूर्णतः स्थानीय उत्तेजना नही मानना चाहिए, बल्कि उसे सम्पूर्ण जीव की विकृत दशा मानना चाहिये।

जीव एवं वातावरण. जीव तथा इसके जीवन के लिए अनिवार्य बाह्य अवस्थाएं परस्पर एक इकाई बनाती हैं। विभिन्न बाह्य अवस्थाएं, जैसे वायु का ताप व नमी, पोषक पदार्थ का संयोजन तथा मात्रा आदि जीव पर प्रभाव डालते हैं। मानवीय जीव पर कार्य एवं विराम की दशा, आश्रय एव अन्य सामाजिक अवस्थाओं का भी प्रभाव पड़ता है। मानव के लिपे अनेक बाह्य अवस्थाएं हानिकारक है (जैसे, रोगजनक रोगाणु) और ये विशेष अवस्थाओं में उसकी मृत्यु का कारण बन सकते हैं।

पशुओं के विपरीत मानव सुविचारित रूप से अपने वातावरण को अधिक उत्तम करता रहता है। धनी आबादी वाले इलाकों में हरियाली बढ़ाना, इन इलाकों की कृत्रिम रूप से सिंचाई करना – ये सब जलवायु अवस्थाओं को परिवर्तित कर सकते हैं। रोग-वाहकों (मक्खी, मच्छर, आदि) उचित विराम व भोजन, शारीरिक व्यायाम और अन्य कार्य रोगों से छुटकारा पाने मे मदद देते हैं।

जीव के प्रकार्यों को नियंत्रित करने की धारणा. कुछ नियत उद्दीपक निरंतर जीव पर प्रभाव डालते रहते हैं। इन सभी उद्दीपकों के प्रति जीव एक निश्चित प्रकार से प्रतिक्रिया दिखाता है। उदाहरणतया तीव्र प्रकाश किरण के कारणवश कनीनिकाओं का संकुचन हो जाता है, तापमान में मामूली-सा पात हो जाने के फलस्वरूप न केवल त्वचा के रुधिर-वाहिकाओं का संकुचन हो जाता है, बल्कि ऊतक उपापचय में भी वृद्धि हो जाती है, एवं इसके परिणामस्वरूप, ऊष्मा का अधिक विसर्जन होता है भोजन द्वारा मुख कोटर में स्वाद-ग्राही का उद्दीपन से लालास्रवण पैदा होता है आदि। ग्राही द्वारा विभिन्न उद्दीपक ग्रहण किये जाते हैं। परिणामी उत्तेजन संवेदी तंत्रिकाओं द्वारा केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र को प्रेषित किया जाता है और वहां से प्रेरक तंत्रिकाओं द्वारा अंगों तक पहुंचाया जाता है जो एक निश्चित प्रतिक्रिया करते हैं। केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के माध्यम से होने वाले उद्दीपकों के प्रति जीव के इस प्रकार की अनुक्रियाएं प्रतिवर्त कहलाती हैं। प्रतिवर्त अनुक्रिया के दौरान उतेजन द्वारा तय किया जाने वाला मार्ग प्रतिवर्त आर्क कहलाता है। प्रतिवर्त अपने गुणों के आधार पर अनेक प्रकार के

होते हैं : पावलोव ने इन्हें अननुबंधित तथा प्रतिबंधित प्रतिवर्तों में बाँटा है। अननुबंधित प्रतिवर्त अन्तर्जात होते हैं एवं आनुवंशिकता द्वारा प्रेषित किये जाते हैं। भोजन द्वारा स्वाद-कलिकाओं के उद्दीपन के प्रति होने वाले भूषण प्रतिवर्त, कनीनिका प्रतिवर्त और लाला प्रतिवर्त आदि अननुबंधित प्रतिवर्तों के उदाहरण हैं।

प्रतिबंधित प्रतिवर्त पशु या मानव के जीवन काल के दौरान प्राप्त किये जाते हैं। ये केवल निश्चित अवस्थाओं में ही उत्पन्न होते हैं तथा लुप्त भी ही सकते हैं। भोजन पर दृष्टि पड़ने उसकी गंध एवं मानव में उसकी चर्चा करने पर लाला उत्पन्न होना प्रतिबंधित प्रतिवर्त का उदाहरण है।

जीवित जीव में सभी प्रकार्यों का नियंत्रण प्रतिवर्ती होता है और स्वत:नियंत्रण नियन पर आधारित होता है। हमारी चेतना से स्वतंत्र अनेक प्रकार्य स्वत:नियंत्रित होते हैं; जैसे रूधिर दाब एक निश्चित स्तर पर बना रहता है; रूधिर में लवणों का स्थायी संयोजन बना रहता ह; उपापचय में होने वाले परिवर्तन एकदम समन्वित रूप से होते हैं, तथा हृदय, श्वसन एवं अन्य तंत्रों का कार्य शारीरिक कार्य के समय बढ़ जाता है।

यह स्मरण रहे कि अंगों के सभी तंत्र न केवल तंत्रिका तंत्र द्वारा पारस्परिक सम्बंध रखते हैं, बल्कि शरीर में प्रवाह करने वाले रूधिर एवं अन्य द्रवों के द्वारा भी यानी तरल रूप से भी सम्बंधित होते हैं। अनेक रासायनिक पदार्थ (हॉर्मोन, उपापचयज आदि) रूधिर में प्रवेश कर जाते हैं तथा समस्त जीव में विस्तारित हो जाती है। ये पदार्थ विभिन्न अंगों एवं सम्पूर्ण जीव की क्रियाओं पर निश्चित प्रभाव डालते हैं।

जीव एवं उसके बाह्य वातावरण के बीच सम्बन्ध पर न केवल तंत्रिका तंत्र का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है बल्कि रासायनिक रूप से भी प्रभाव पड़ता है अर्थात मानव द्वारा प्राप्त किया जाने वाला भोजन तथा सांस ली जाने वाली वायु द्वारा भी प्रभाव पड़ता है। अतः, मानव (तथा सभी अत्यधिक विकसित पशुओं) के जीव के लिए प्रकार्यों का अखंड तंत्रिकोदी नियंत्रण लाक्षणिक है।

शरीर सम्बंधी पारिभाषिक शब्दावली

शरीर में अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अंगों व भागों की स्थिति को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। परम्परागत रूप स मानव शरीर को उर्ध्वाधर अवस्था में देखा गया है, जिसमे हाथ वराबर में लटके हुये हैं तथा हथेलियां ऊपर की ओर हैं। पारस्परिक लम्ब बना रहे तल तथा अक्ष शरीर के बीचों-बीच खींचे गए हैं: सममितार्धी अनुप्रस्थ और उर्ध्वाधर अक्ष। सममितार्धी तल पश्चाग्रतः, वाताग्र तल ललाट के समतल के समानांतर और क्षैतिज तल क्षैतिज रेखा के समानांतर खीचे गए है। जो

सममितार्धी तल शरीर के मध्य में से गुजरते हुये उसे दो समान भागों में (दायें व बायें) विभाजित करता है, मध्य तल कहलाता है।

तल एवं अक्षों के प्रति भागों की स्थिति व्यक्त करने वाले सर्वाधिक प्रायः प्रयोग किये जाने वाले शरीर सम्बंधी पारिभाषिक शब्द निम्न दिए गए हैं: उर्ध्ववर्ती (ऊपर का) या कपालीय (कपाल, करोटि) – शरीर के ऊपरी भाग के समीम। अधोवर्ती (नीचे का) या पुच्छ (पुच्छक, पुच्छ) – शरीर के नीचे के भाग के समीप। समीपस्थ – धड़ या शरीर की मध्य रेखा के समीप। दूरस्थ – धड़ या शरीर की मध्य रेखा से दूर स्थित। (ये दोनों पारिभाषिक शब्द अग्रांगों के लिए प्रयोग किये जाते हैं)। अग्र या अधर (उदरक, तुद या उदर) – शरीर के अग्र भाग या उसके समीप। पश्च या पृष्ठ (पृष्ठ, पीठ) – शरीर के पृष्ठ या उसके समीप मध्य – शरीर की मध्य रेखा के समीप। पार्श्व – शरीर की मध्य रेखा से दूर।

शरीर में सभी अंगों व भागों के लैटिन नाम हैं। शरीर सम्बंधी लैटिन पारिभाषिक शब्दावली को शारीर-वैज्ञानिको की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया है तथा इन्हे अधिकांश देशों में प्रयुक्त किया जाता है।

प्रस्तुत पाठ्य-पुस्तक में केवल अत्यधिक आवश्यक लैटिन नामों को ही प्रयुक्त किया गया है।

अध्याय 2

अस्थियां और संधियां
(अस्थि-पंजर)

अस्थियां एवं उनकी संधियां मिलकर मानवीय शरीर का अस्थि-पंजर बनाती हैं (चित्र 16)।

अस्थि-पंजर टेक, गति और रक्षा का प्रकार्य पूर्ण करता है। टेक प्रकार्य का अर्थ है सभी अन्य अंगों को टेक देना और शरीर को आकाश में एक निश्चित आकृति एवं स्थान देना। पेशियों के साथ मिलकर अस्थि-पंजर प्रेरक उपक्रम बनाता है। इस उपक्रम में अस्थियां निष्क्रिय भूमिका निभाती करती हैं। ये लीवर होते है जो पेशी संकुचन के परिणामस्वरूप विस्थापित होते हैं। अस्थि-पंजर का रक्षी प्रकार्य अन्य अंगों का आंगिकीय प्रभावों से बचाव करना है। उदाहरणतया, करोटि मस्तिष्क की रक्षा करती है, वक्ष हृदय और फेफड़ों की रक्षा करता है, तथा श्रोणि का प्रकार्य आशय, मलाशय और अन्य अंगों की रक्षा करना है।

अस्थियों की संरचना

संरचना की दृष्टि से **अस्थि** (लैटिन में "OS") एक जटिल अंग है। अस्थि का अधिकांश भाग अस्थि (अस्थिल) ऊतक (दे० अध्याय 1, "कोशिकाएं और ऊतक") से बना है जो संहत तथा स्पंजी अस्थि पदार्थ से बना होता है। अस्थि मज्जा, जो अस्थि के अन्दर पाया जाता है, अस्थियों की सतह पर पर्यस्थिकला चढ़ी हुई होती है। सभी अन्य अंगों की भांति, प्रत्येक अस्थि के साथ तंत्रिकाएं, रूधिर और लसीका वाहिकाएं होती हैं।

अस्थि मज्जा (medulla ossium) अस्थि के अन्दर स्पंजी पदार्थ की अस्थि प्लेटों के बीच और कुछ अस्थियों में अस्थि नलिकाओं में पाया जाता है। अस्थि मज्जा लाल और पीले रंग का होता है। पीले रंग का अस्थि मज्जा अधिकतर वसा से बना होता है, जबकि लाल अस्थि मज्जा **रक्तोत्पादक** (रक्त बनाने वाला) **अंग** होता है; यह रूधिर कोशिकाओं का निर्माण करता है।

पर्यस्थिकला एक रेशेदार झिल्ली होती है जो अस्थि की सतह पर चढ़ी होती है (चित्र 17)। इसकी दो परते होती हैं; बाहरी परत सघन संयोजी ऊतक से बनी
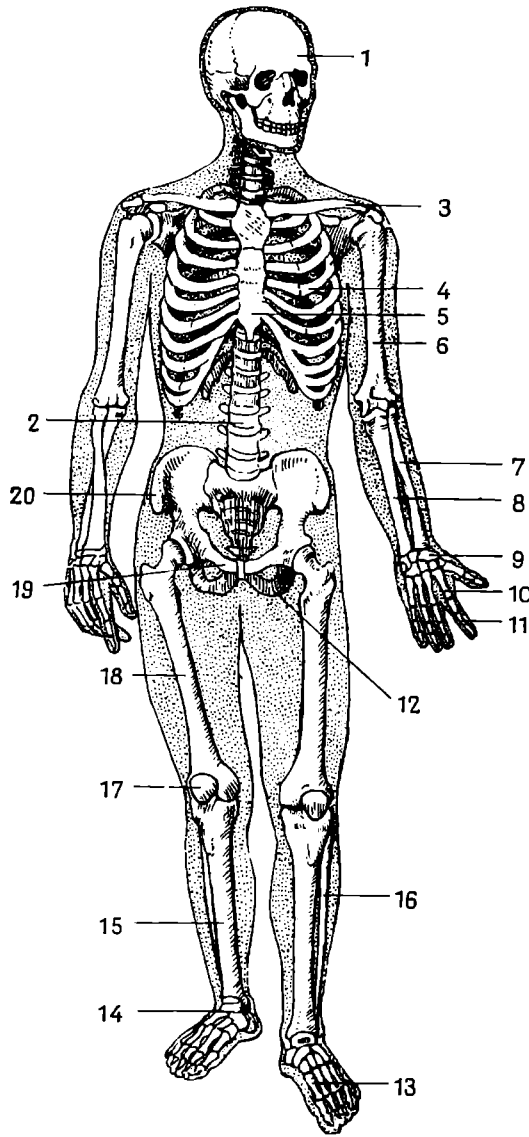
चित्र 16. मानव अस्थिपंजर (अग्र पक्ष) । 1 – करोटि ; 2 – मेरू दंड ; 3 – जत्रुक ; 4 – शिरा ; 5 – उरोस्थि ; 6 – प्रगंडिका ; 7 – बहि : प्रकोष्ठिका ; 8 – अंत:प्रकोष्ठिका ; 9 – मणिबन्ध अस्थियां ; 10 – करभिका अस्थियां ; 11 – अंगुलियों की अंगुलास्थि ; 12 – श्रोणिखण्ड ; 13 – प्रपदिका अस्थियां ; 14 – गुल्फ अस्थियां ; 15 – अंतर्जंघिका टिबिया ; 16 – बहिर्जंघिका ; 17 – पटेला ; 18 – उरोस्थि ; 19 – जघन अस्थि ; 20 – क्षुद्रांत ।
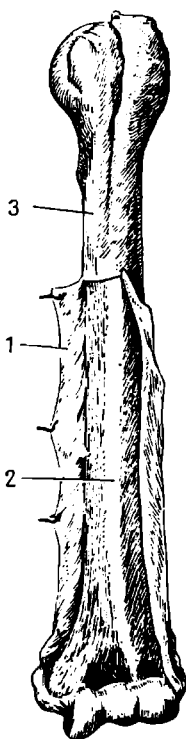
चित्र 17. पर्यस्थिकला. वाम प्रगंडिका। 1 – पर्यस्थिकला; 2 – अस्थि का भाग जिस पर से पर्यस्थिकला हटा दी गयी है। 3 – अस्थि का भाग जो पर्यस्थिकला से ढका हुआ है।

होती है और रक्षी प्रकार्य पूर्ण करती है। अन्तरिक परत अबद्ध संयोजी ऊतक से बनी होती है और इसमें अनेक तंत्रिका तंतु और रूधिर वाहिकाएं होती हैं। पर्यस्थिकला से तंत्रिका तंतु एवं रूधिर वाहिकाएं विशेष छिद्रों में से गुज़र कर अस्थि के काफ़ी अन्दर तक पहुँच जाते हैं। पर्यस्थिकला की आन्तरिक परत में **अस्थिकोरक** नामक कोशिकाएं होती हैं जो अस्थि के विकास और विभंग अस्थि के स्वस्थ होने के समय अस्थि ऊतक के बनने की क्रिया में भाग लेती हैं। पर्यस्थिकला के लुप्त हो जाने पर अस्थि समाप्त हो जाती है।

अस्थियों की संधि सतहें पर्यस्थिकला से ढकी हुई नहीं होती हैं बल्कि संधि उपास्थि से ढकी होती हैं जो अधिकांश अस्थियों में काचाभ उपास्थिसम ऊतक से बनी होती है।

रासायनिक संयोजन. अस्थियों के संयोजन में कार्बनिक पदार्थ (ओसीन व ऑसिओ म्यूकॉइड) और अकॉर्बनिक यौगिक (मुख्यतः अनेक कैल्सियम लवण) होते हैं। अस्थि की प्रत्यास्थता उसमें कार्बनिक पदार्थों की विद्यमानता पर आधारित करती है जबकी अस्थि की दृढ़ता उसमें अकार्बनिक यौगिकों की विद्यमानता पर आधारित करती है। यदि अस्थि का पायन किया जाये तो इसके कार्बनिक पदार्थ जल जाते हैं और खनिज लवण शेष रह जाते हैं। इसके फलस्वरूप अस्थि की आकृति में कोई परिवर्तन नही होगा केवल अस्थि बहुत भंगुर हो जाएगी। हाइड्रोक्लोरिक या नाइट्रिक अम्ल में निमज्जित अस्थि में कार्बनिक पदार्थ तो वैसे ही बने रहते हैं, लेकिन अकार्बनिक यौगिक विलीन हो जाते हैं (अर्थात, अस्थि का विकैल्सीकरण हो जाता है)। इस अवस्था में अस्थि की आकृति अपरिवर्तित रहेगी, लेकिन अस्थि की कठोरता कम हो जाएगी अर्थात यह आसानी से मुड़ जाएगी। अस्थि के वज़न का एक तिहाई भाग कार्बनिक पदार्थ और दो तिहाई भाग अकार्बनिक पदार्थ बनाते हैं। आयु के साथ-साथ कार्बनिक पदार्थ (प्रतिशत में) कम हो जाते हैं, और खनिज लवणों की वृद्धि हो जाती है, अतएव, वृद्ध लोगों की अस्थियां बच्चों की अस्थियों की तुलना में कम प्रतिस्कन्दी होती हैं।

अस्थियों की आकृति. आकृति के आधार पर अस्थियां दीर्घ लघु चपटी और मिश्रित होती हैं। दीर्घ अस्थियां पादों में पायी जाती हैं (उपरि बाहु अस्थि, प्रबाहु अस्थि, ऊर्वस्थि और अंतर्जंघिका) इनमें से प्रत्येक अस्थि का मध्य भाग होता है, जिसे कांड या अस्थिकांड कहते हैं, और दो सिरे या अधिप्रवर्ध * होते हैं। अस्थिकांड संहत अस्थि पदार्थ से बना होता है। अस्थिकांड के अन्दर एक अस्थि नलिका होती है, और इस कारणवश इन अस्थियों को नलिकाकार कहते हैं। अस्थि नलिका अस्थि मज्जा से भरी हुई होती है। नलिकाकार अस्थियों का अधिप्रवर्ध मुख्यतः स्पंजी अस्थि पदार्थ का बना होता है लेकिन उनकी बाहरी सतह पर संहत पदार्थ की एक पतली परत चढ़ी हुई होती है। स्पंजी पदार्थ की अस्थि प्लेटें अस्थि संबंधक बनाते हैं जो एक निश्चित चित्राम में व्यवस्थित होते हैं। अस्थि संबंधकों की व्यवस्था अलग-अलग अस्थियों के लिए अलग- अलग होती है और यह मानव शरीर में किसी नियत अस्थि पर पड़ने वाले दाब एवं इसके साथ सम्बंधित पेशी के संकुचन द्वारा इस पर पड़ने वाले कर्षण पर आधारित होती है (चित्र 18)।
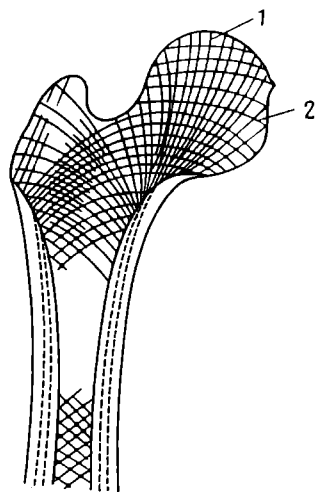
चित्र 18. आरेख जिसमें संबधक का संयोजक स्पंजी पदार्थ में दिखाया गया है उर्विका के ऊपरी हिस्से की काट। 1—संपीडन का प्रपथ 2—तनाव का प्रपथ।

लघु अस्थियों की संरचना नाना प्रकार की होती है। इनमें से कुछ, जैसे करभ प्रपद और अंगुलास्थि की अस्थियां, अपनी संरचना के आधार पर दीर्घ नलिकाकार अस्थियों से मिलती है। अन्य लघु अस्थियां, जैसे कशेरूक मणिबंध तथा गुल्फ की अस्थियां दीर्घ अस्थियों के अधिप्रवर्ध की भांति होती हैं और अधिकांशतः स्पंजी पदार्थ से बनी होती हैं, जिसकी बाहरी सतह पर संहत पदार्थ की महीन परत चढ़ी हुई होती है।

चपटी अस्थियाँ (करोटिटोपी, उरोस्थि, पर्शुका आदि) संहत पदार्थ की दो प्लेटों से बनी होती हैं जिनके बीच स्पंजी पदार्थ की एक परत होती है (चित्र 19)। मिश्रित अस्थियां (करोटि के आधार की अस्थियां) अनेक भागों से बनी होती हैं जिनकी संरचनाएं भिन्न-भिन्न होती हैं।

---

* अस्थिकांड का अंत, जहां वह अधिप्रवर्ध के साथ मिलता है, मेटाफिसिस कहलाता है।
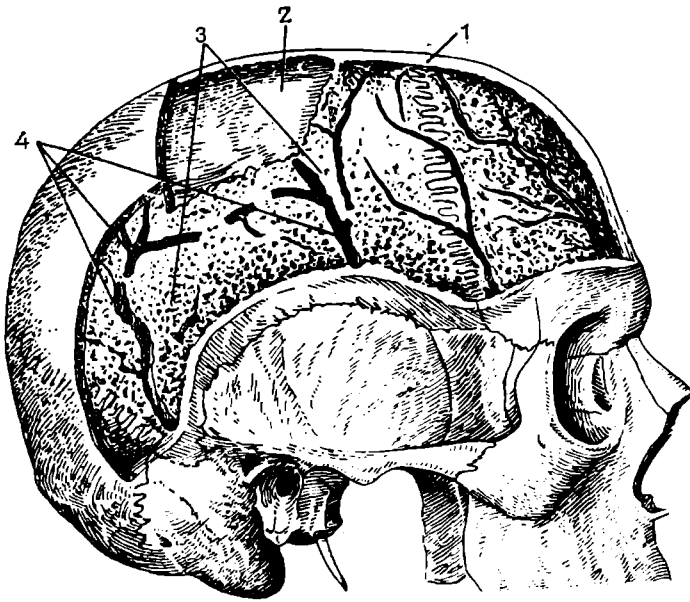
चित्र 19. करोटि की समतल अस्थियों की संरचना। 1 – संहत अस्थि पिंड की बाह्य प्लेट। 2 – आन्तरिक प्लेट ; 3 – स्पंजी पदार्थ ; 4 – स्पंजी पदार्थ में वाहिकाएं।

अस्थि-पंजर का निर्माण. अधिकतर मानव अस्थियों के विकास के तीन चरण होते हैं: झिल्लीमय, उपास्थिसम और अस्थिमय। अस्थि-पंजर का विकास मीजेन्काइम से शुरू होता है, यानी वह गर्भ ऊतक जिससे अधिकांश संयोजी ऊतक बनते हैं। आरम्भिक अवस्थाओं में मानवीय गर्भ का अस्थि-पंजर पृष्ठ रज्जु द्वारा प्रदर्शित होता है (कुछ अध: पशुओं में पृष्ठ रज्जु अस्थि-पंजर के रूप में हमेशा के लिये रह जाता है)। लेकिन अंत:गर्भाशयी जीवन के पहले महीने के मध्य में मीजेन्काइम का संघनन रज्जु के चारों ओर प्रकट हो जाता है। यह संघनन बाद में मेरू दंड बन जाता है, जो रज्जु का प्रतिस्थापन कर देता है। लगभग उसी समय मीजेन्काइम का संघनन अन्य स्थानों में भी प्रकट होता है, जो गर्भ का प्रारम्भिक अस्थि-पंजर बनाता है। अस्थिपंजर दृढ़ीभूत मीजेन्काइम से बनता है और झिल्लीदार अस्थिपंजर कहलाता है। दूसरे महीने के मध्य में (अस्थि-पंजर के विभिन्न भागों के लिये यह समय भिन्न होता है) झिल्लीमय अस्थियों को बनाने वाला मीजेन्काइम काचाभ उपास्थि में रूपांतरित हो जाता है; यह अस्थि-पंजर के विकास का दूसरा चरण है और इसे उपास्थिमय अस्थि-पंजर कहते हैं। दूसरे महीने के अंत में या तीसरे महीने के आरम्भ में उपास्थिमय अस्थिपंजर का अस्थिभवन शुरू हो जाता है। यह क्रिया इस प्रकार घटती है कि

उपास्थि का विघटन हो जाता है और उसके स्थान पर अस्थि ऊतक प्रकट हो जाता है। अस्थि ऊतक के एक या अधिक क्षेत्र प्रत्येक अस्थि में प्रकट होते हैं। इन क्षेत्रों को अस्थि भवन के बिन्दु कहते हैं। अस्थि भवन के बिन्दु धीरे-धीरे बढ़ने लगते हैं और उपास्थि को प्रतिस्थापित कर देते हैं। दीर्घ अस्थियों में अस्थिकांड और अधिप्रवर्ध के बीच उपास्थिमय परतें काफी लम्बे समय तक रहती हैं। इन्हें अधिप्रवर्ध उपास्थि कहते हैं। अधिप्रवर्ध उपास्थि की कोशिकाएं कुछ समय तक संवर्धन होने के गुण को कायम रखती हैं, तथा इसके फलस्वरूप अस्थि की लम्बाई बढ़ती जाती है। अस्थि ऊतकों द्वारा अधिप्रवर्ध उपास्थि का पूर्ण प्रतिस्थापन भिन्न-भिन्न समय पर होता है तथा यह क्रिया 20-25 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर ही समाप्त होती है। इसके उपरान्त अस्थियों की लम्बाई में कोई वृद्धि नही होती। अस्थियों की मोटाई में भी वृद्धि होती है जब पर्यस्थिकला से अस्थि पदार्थ की नई परतें जमने लगती हैं। यह विकास भी मनुष्य के 20-25 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर रूक जाता है। करोटि-टोपी की अस्थियों तथा आनन करोटि की अधिकतर अस्थियों का विकास उपास्थिमय-चरण में से बिना गुज़रे ही हो जाता है। ये सीधे झिल्लीमय अस्थियों को बनाने वाले मीज़ेन्काइम के अस्थीभवन के फलस्वरूप विकसित हो जाती है।

अस्थि संधियां

मानव शरीर की सभी अस्थियों की संधियां हैं। अस्थि संधियां तीन मुख्य प्रकार की होती हैं: तन्तुसंधि, उपास्थिसंधान और संधि (चित्र 20)।
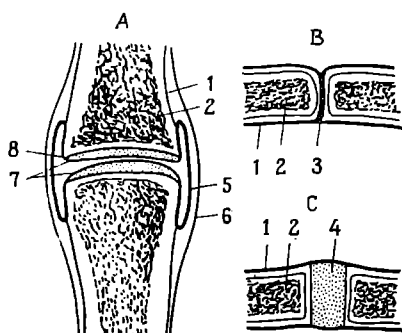
चित्र 20. विभिन्न प्रकार की अस्थि संधियां (आरेख)। A – संधि; B – तंतुसंधि; C – उपास्थिसंधान; 1 – पर्यस्थिकला; 2 – अस्थि; 3 – तंतु संयोजी ऊतक; 4 – उपास्थि; 5 – संधि कैप्स्यूल की स्राव परत; 6 – संधि कैप्स्यूल की तंतु परत; 7 – संधि उपास्थि; 8 – संधि कोटर।

तंतुसंधि वे अस्थि संधियां हैं जो तंतु संयोजी ऊतक द्वारा होती हैं। इनमें स्नायु (जैसे, कशेरूक शूलमय प्रवर्धों के बीच) और झिल्लियां (जैसे अन्तरास्थि झिल्लियां जो अग्रबाहु अस्थियों के बीच होती हैं) सम्मिलित हैं। सीवन तंतु संयोजी ऊतक की महीन परतों द्वारा करोटि अस्थियों का जोड़, तन्तुसंधि का उदाहरण है। इन सीवन का अस्थिभवन बड़ी आयु के लोगों में होता है।

उपास्थिसंधान वे अस्थि संधियां हैं जो उपास्थिमय ऊतकों द्वारा होती हैं। उपास्थि-संधान का उदाहरण है—कशेरूक के ढ़ांचे की संधि, जो अन्तराकशेरूक उपास्थियों से होती है। अस्थिपंजर के विकास के समय कुछ अस्थियों के बीच उपास्थियां अस्थि ऊतकों द्वारा प्रतिस्थापित हो जाती है जिसके फलस्वरूप अस्थियां अस्थिमय पदार्थ—अस्थियोजन—द्वारा एक जोड़ बना लेती हैं। सेक्रमी कशेरूक का जोड़ अस्थियोजन का उदाहरण है।

तंतुसंधि और उपास्थिसंधान संबद्ध संधियों का एक समूह बनाते है यानी उन संधियों का जिनमें कोई कोटर नहीं होता। तंतु संधि और उपास्थिसंधान में गति या तो बिल्कुल हल्की होती है या फिर बिल्कुल नहीं होती।

मानव शरीर में **संधियां** अस्थि संधियों की सर्वाधिक सरल प्रकार हैं। ये असंबद्ध संधियां होती है अर्थात वे संधियां, जिनमें कोटर होता है। प्रत्येक संधि के तीन अनिवार्य संधि भाग होते हैं: संधि तल, संधि कैप्स्यूल और संधि कोटर (चित्र 20A)। अधिकांश स्थितियों में संधि तल के ऊपर काचाभ उपास्थि मढ़ी होती है तथा कुछ स्थितियों में, जैसे शंखचिबुकीय संधि, तंतु उपास्थि से ढका होता है। संधि कैप्स्यूल, जो संधि अस्थियों के बीच खींचा हुआ होता है, संधि तलों के किनारों के साथ जड़ा होता है तथा पर्यस्थिकला के साथ संवद्ध रहता है। इसमें दो परतें होती हैं: बाह्य तंतु परत और आन्तरिक स्राव परत। कुछ संधियों में संधि कैप्स्यूल एक थैला-सा बनाता है जिसे प्रपुटी कहते हैं। प्रपुटी संधियों और उनके चारों ओर स्थित पेशी कण्डराओं के बीच पायी जाती है। ये कण्डरा और संधि कैप्स्यूल के बीच गति के समय घर्षण कम कर देती है। संधि अस्थियों की संधि उपास्थियां एक दूसरे के साथ काफ़ी समीप रहती हैं और इसे संधि कोटर में ऋणात्मक दाव से मदद मिलती है। कुछ संधियों की सहायक संरचनाएं भी होती है: अन्तः संधि स्नायु और अन्तःसंधि उपास्थियां (मंडलक व नवचंद्रक)।

संधियों में गति की प्रकृति संधि तल की आकृति पर निर्भर करती है। आकृति के आधार पर संधियों को निम्न कोटियों में विभाजित किया गया है: कन्दुक-खल्लिका संधि अस्थिकंद, पल्माण व धुराग्र और हिन्ज संधि (चित्र 21)। संधियों में गति ज्ञात करने के लिए तीन मुख्य काल्पनिक अक्ष खींचे जाते हैं: (1) अनुप्रस्थ, (2) पश्चाग्र या सैजिटीय, (3) उर्ध्वाधर। निम्न मुख्य गतियों में विभेद किया गया है: (1) **अनुप्रस्थ** अक्ष के चारों ओर—आनमन एवं वर्धन; (2) सैजिटीय अक्ष
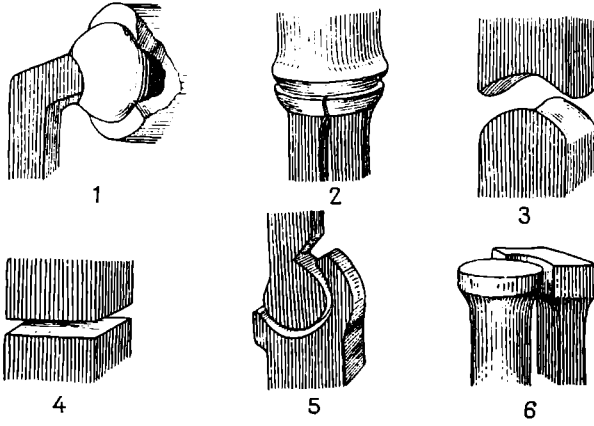
चित्र 21. विभिन्न प्रकार की संधियां (आरेख)।
1 – कन्दुक खल्लिका संधि; 2 – अस्थिकंद; 3 – पल्याण; 4 – विसर्पण; 5 – हिन्ज; 6 – धुराग्र।

के चारों ओर – अपवर्तन एवं अभिवर्तन; (3) उध्र्वाधर अक्ष के चारों ओर – घूर्णन। कुछ संधियों में परिधीय या वृत्तीय गति – पर्यावर्तन – भी सम्भव है, जिसमें अस्थि का स्वतंत्र सिरा एक वृत्त बनाता है। कुछ संधियों में गति केवल एक ही अक्ष के चारों ओर सम्भव होती है, जबकि अन्य संधियों में दो या तीन अक्षों के चारों ओर गति सम्भव होती है। धुराग्र व हिन्ज संधि एकाक्षीय होती है कॉन्डिलॉयड और पल्याण संधियां द्विअक्षीय होती हैं, कन्दुक खल्लिका संधि त्रिअक्षीय या बहुअक्षीय होती है। अंगुलियों एवं पादांगुलियों के अन्तरांगुलि-अस्थि संधियां एकअक्षीय होती है, रेडियो-मणि – बंधी संधि द्विअक्षीय होती है तथा अंस संधि बहुअक्षीय होती है। इसके अतिरिक्त ऐसी भी संधियां होती है जिनमें चपटे संधि तल होते हैं इन संधियों को विसर्पणी संधि कहते हैं तथा इनमें केवल मामूली विसर्पण ही सम्भव होता है। संधि को सरल कहते है यदि उसमे दो अस्थियां सम्मिलित हों, तथा मिश्रित तब कहते हैं जब तीन या अधिक अस्थियां जुड़ी होती हैं। दो या दो से अधिक संधियां जो एक साथ गति कर सके तथाकथित युग्मित संधि कहलाती हैं।

अस्थि-पंजर की संरचना

मानव अस्थि-पंजर को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है: धड़ का अस्थि-पंजर अंस मेखला व ऊपरि अग्रांग, श्रोणि मेखला व अधि अग्रांग, एवं करोटि (चित्र 16)। मानव शरीर में 200 से अधिक भिन्न-भिन्न प्रकार की अस्थियां हैं।

धड़ का अस्थि-पंजर

धड़ का अस्थि-पंजर मेरू दंड व वक्ष से बना है।
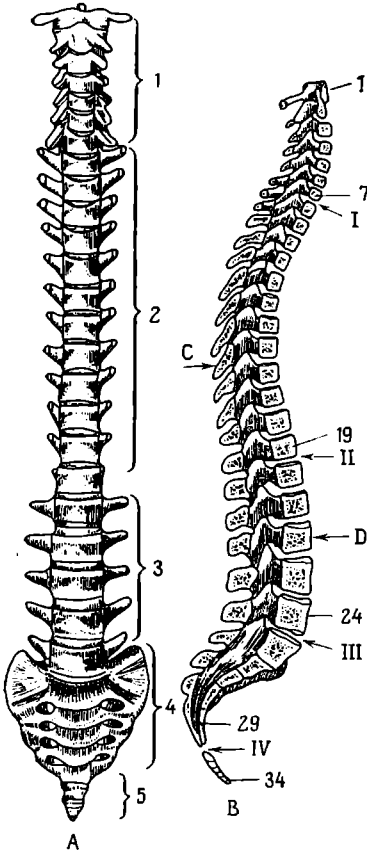
चित्र 22. मेरु दंड।

A – अग्रपक्ष : 1 – ग्रीवा कशेरूक ; 2 – वक्षीय कशेरूक ; 3 – कटिकशेरूक 4 – सेक्रम , 4 – अनुत्रिक ; B – कशेरूक-दंड का सैजिटीय भाग ; I, II, III IV, – कशेरूक-दंड के भागों के बीच सीमाएं ; c – वक्षीय वक्र ; D– कटि-वक्र ; 1,7,19,24,29 तथा 34 – कशेरूक की अभिकल्पना

मेरू दंड

मेरू दंड या **कशेरूक** (columna vertebralis) चित्र 22) धड़ को टेक देता है तथा 33 अथवा 34 कशेरूकों व उनकी संधियों से बना है। मेरू दंड के पांच भाग होते हैं : ग्रैव, जिसमें 7 कशेरूक होते हैं ; वक्षीय , जिसमें 12 कशेरूक होते हैं ; कटि, जिसमें 5 केशेरूक हैं ; सेक्रमी , जिसमें 5 कशेरूक होते हैं ; तथा आनुत्रिक , जिसमें वयस्कों में सेक्रमी व आनुत्रिक कशेरूक संगलित होते है तथा सेक्रम और आनुत्रिक बनाते हैं।

कशेरूक का ढ़ांचा व आर्क होती है ; आर्क सात प्रवर्धों को टेक देती हैं : एक शूनमय दो अनुप्रस्थ और चार संधिमय (दो उपरि तथा दो अधि) (चित्र 23)। ढ़ांचे का प्रकार्य कशेरूक के अग्र तल के रूप में कार्य करना है, तथा शूलमय प्रवर्ध पश्चाग्र की ओर होती है। ढ़ांचे व आर्क के बीच के अवकाश को कशेरूक-रंध्र कहते हैं। सभी कशेरूकों के कशेरूक-रंध्र परस्पर मिलकर कशेरूक नलिका बनाते हैं जिसमें मेरू रज्जु स्थित होती है। कशेरूक आर्कों की दंतुरताएं होती हैं – ऊर्ध्व तथा अधोवर्ती खांचें। संलग्न कशेरूक के खांचे अंतः-कशेरूक रंध्र बनाते हैं जिनमें से मेरू तंत्रिकाएं गुजरती हैं।

कशेरूक दंड के विभिन्न भागों के कशेरूकों की संरचनाएं विभिन्न होती हैं। ग्रीवा कशेरूक (चित्र 24) के अनुप्रस्थ प्रवर्धों में रंध्र होते हैं जो कशेरूक धमनियों के लिए मार्ग बनाते हैं। शूलमय प्रवर्धों के अग्रांगों का द्विशाखन होता है।
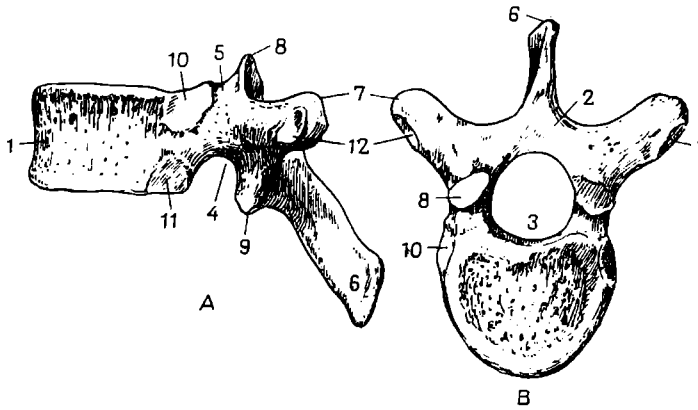
चित्र 23. वक्षीय कशेरूक.

A – पार्श्व पक्ष ; B – ऊर्ध्व पक्ष ; 1 – कशेरूक पिंड ; 2 – कशेरूक ग्रार्क ; 3 – कशेरूक-रंध्र ; 4 – निम्न खांच ; 5 – ऊर्ध्व खांच ; 6 – मेरू प्रक्रम ; 7 – ग्रनुप्रस्थ प्रक्रम ; 8 – ऊर्ध्व संधि प्रक्रम ; 9 – निम्न संधि प्रक्रम ; 10 तथा 11 – कशेरूक पिंड पर संधि खात ; 12 – ग्रनुप्रस्थ प्रक्रम पर संधि खात।

प्रथम ग्रीवा कशेरूक ऐटलस (चित्र 24), का कोई ढांचा नहीं है, बल्कि ग्रग्र व पश्च ग्रार्कें होती हैं जो पार्श्व पदार्थों द्वारा परस्पर जुड़ी होती हैं ; ग्रनुकपाल ग्रस्थि के साथ इसकी संधि ऊर्ध्व संधि तल द्वारा होती है जिसका स्वरूप खात जैसा होता है, तथा द्वितीय ग्रीवा कशेरूक के साथ इसकी संधि ग्रधिवर्ती संधि तलों द्वारा होती है।

द्वितीय ग्रीवा कशेरूक ग्रक्षक या ग्रक्षकशेरूक (चित्र 24) में दंताभ प्रवर्ध दन्तक होता है, जिसकी संधि ऐटलस की ग्रग्र ग्रार्क के साथ होती है। सातवी ग्रीवा कशेरूक के शूलमय प्रवर्ध का द्विशाखन नहीं होता। यह पीछे की ग्रोर निकल जाता है तथा इसे ग्रासानी से स्पर्श किया जा सकता है।

वक्षीय कशेरूकों के ढांचे पर (चित्र 23) संधि खात होते हैं जो पर्शुका के सिरों के साथ संधि करते हैं ग्रौर ग्रनुप्रस्थ पर प्रवर्ध होते है जो पर्शुकाग्रों के गुलिकाग्रों के साथ संधियां करते हैं। वक्षीय कशेरूकों में शूलमय प्रवर्ध सबसे दीर्घ होती है ; जो पीछे व नीचे की ग्रोर होते हैं।

कटि कशेरूक सबसे बड़े होते हैं तथा इनके शूलमय प्रवर्ध एकदम पीछे की ग्रोर होते हैं।

सेक्रम (चित्र 25) 5 संगलित कशेरूकों से बना होता है। इसे ऊर्ध्व विस्तृत भाग, ग्राधार, ग्रधिवर्ती संकीर्ण भाग शिखर तथा दो पार्श्व भागों में विभाजित किया जा सकता है। सेक्रम का ग्रग्र, या श्रोणि तल ग्रवतल होता है ; इसमें ग्रग्र सेक्रमी रध्रों के चार युगल होते हैं। पश्च तल उत्तल होता है, तथा इसमें कटक् या शिखर
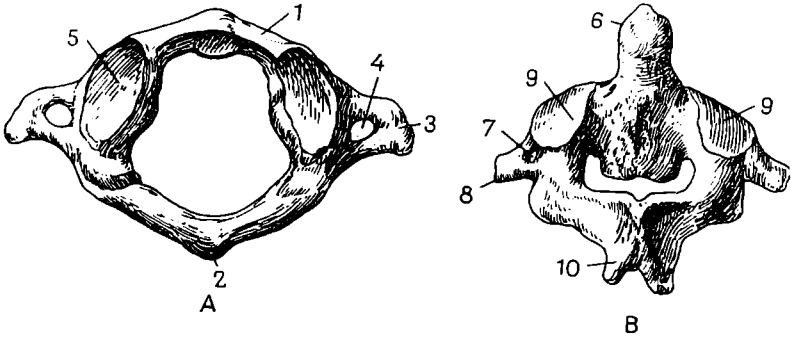
चित्र 24. प्रथम तथा द्वितीय ग्रीवा कशेरूक.

A – प्रथम ग्रीवा कशेरूक (ऊर्ध्व पक्ष); 1 – अग्र आर्क; 2 – पश्च आर्क; 3 – अनुप्रस्थ प्रक्रम; 4 – अनुप्रस्थ प्रक्रम में रंध्र; 5 – ऊर्ध्व संधि खात; B – द्वितीय ग्रीवा कशेरूक (पश्च पक्ष); 6 – दन्तक; 7 – अनुप्रस्थ प्रक्रम में रंध्र; 8 – अनुप्रस्थ प्रक्रम; 9 – एटलस के साथ संधि करने के लिये संधि समतल; 10 – मेरू प्रक्रम।
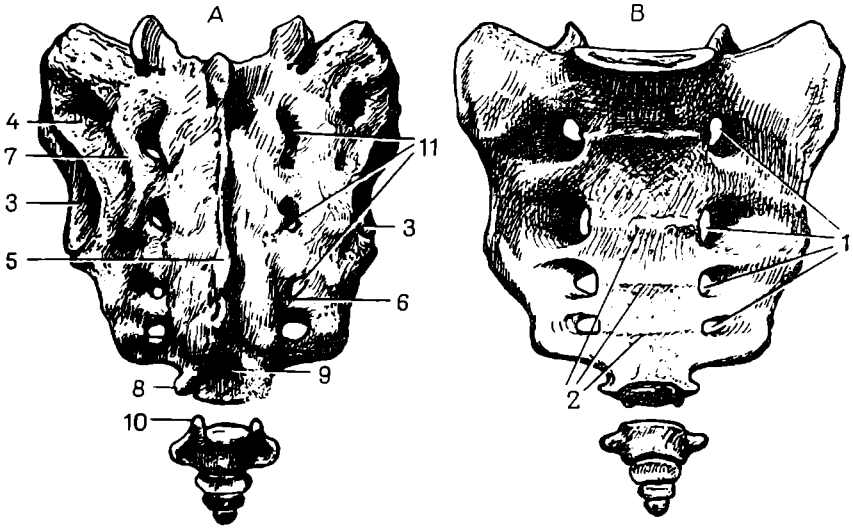
चित्र 25. सेक्रम तथा अनुत्रिक।

A – पश्च पक्ष; B – अग्र पक्ष; 1 – अग्र सेक्रमी रंध्र; 2 – अग्र (या श्रोणी) समतल; 3 – अलिंद समतल; 4 – पार्श्व भाग; 5,6 तथा 7 – सेक्रम के पश्चसमतल पर शिखा; 8 – सेक्रम का शिखर; 9 – सेक्रमी नलिका का निम्न रंध्र; 10 – अनुत्रिक; 11 – पश्च सेक्रमी रंध्र।

होते हैं जो कशेरूक प्रवर्धों की संधि के फलस्वरूप बनते हैं, तथा पश्च सेक्रमी रध्रों के भार युगल होते हैं। सेक्रमी रंध्र तंत्रिकाओं के लिए मार्ग बनाते हैं। सेक्रम के अन्दर एक नलिका होती है जो कशेरूक नलिका का रोष है। उस बिंदु पर, जहां सेक्रम और पांचवां कटि कशेरूक संधि करते हैं, वहां आगे की ओर उत्सेध है जिसे उच्चांतरीय कहते हैं। सेक्रम के पार्श्व भागों में कर्णभ रूपी संधि तल होते है जो श्रोणि अस्थियों के साथ संधि करते हैं।

आनुत्रिक चार या पांच अविकसित संगलित कशेरूकों से बना होता है तथा मानव के पूर्वजों की पुच्छ का अवशेष है।

मेरू दंड की संरचना कशेरूकों की संधि उपास्थियों, संधियों और स्नायु द्वारा होती है। कशेरूकों के ढ़ांचे उपास्थियों के द्वारा जडे होते हैं। इन उपास्थियों को अन्तःकशेरूक डिस्क कहते हैं। अग्र तथा पश्य अनुदेर्ध्य स्नायु कशेरूक दंड के साथ-साथ कशेरूकों के ढ़ांचों के अग्र एवं पश्च तलों पर वर्धन करते हैं। कशेरूकों की संधियां संधि प्रवर्धों द्वारा बनती हैं तथा अन्तः कशेरूक कहलाती हैं। संधि तल की आकृति के आधार पर इन्हें विसर्पणी कहा जाता है। कशेरूकों के बीच स्नायु (ligamenta flava) अनुप्रस्थ प्रवर्ध (अन्तः-अनुप्रस्थ स्नायु) और शूनमय प्रवर्ध (अन्तः शूनमय स्नायु) भी होते हैं। शूनमय प्रवर्धों के शिखरों की संधि अधिमेरू स्नायु द्वारा होती है जिसे मेरू दंड के ग्रीवा भाग में कंधरा स्नायु कहते हैं।

अग्र तथा पश्च शीर्षधरानुकपाल झिल्लियां ऐटलस और कपाल अस्थि के बीच में खींची हुई होती हैं। प्रथम ग्रीवा कशेरूक की उर्ध्व संधि खात कपाल अस्थि के साथ मिलकर एक युग्मित कॉन्डिजॉयड शीर्षधरानुकपाल संधि बनाते है। इस संधि में मामूली-सा आनमन् वर्धन और पार्श्व झुकाव सम्भव है। प्रथम और द्वितीय ग्रीवा कशेरूकों के बीच 3 संधियां होती है जिसके कारण ऐटलस (शिखर समेत) द्वितीय ग्रीवा कशेरूक के दतांभप्रवर्ध या दंतक के चारों ओर ध्रुवण कर सकता है।

मेरू दंड में आनमन वर्धन पार्श्व झुकाव तथा विमोटन सम्भव है। इसमें सर्वाधिक गतिशील कटि भाग है, जिसके बाद दूसरे स्थान पर सर्वाधिक गतिशील ग्रीवा भाग है।

मेरू दंड की वक्रता. नवजात शिशु का मेरू दंड लगभग सीधा होता है। जैसे जैसे शिशु का विकास होता है, वैसे-वैसे मेरू दंड की वक्रता भी बनने लगती है। वयस्क के मेरू दंड में दो अग्र वक्र ग्रीवा तथा कटि वक्र दो पश्च वक्र वक्षीय और सेक्रमी वक्र होते है। मनुष्य के ऊर्ध्वाधर आसन के साथ सम्बंधित सामान्य परिघटना है तथा इनका यांत्रिकीय महत्व है क्योंकि चलते दौड़ते या कूदते समय इसके कारण सिर व धड़ को धक्का नहीं लगता। अत्य धिक अग्र वक्र लॉरडॉसिस कहलाता है तथा अत्यधिक पश्च वक्र काइफोसिस कहलाता है। कुछ व्यक्तियों में मेरू दंड का पार्श्व वक्र विकसित हो जाता है जिसे स्कोलिओसिस कहते हैं। प्रत्यक्ष स्केलिओसिस मेरू दंड की रोगी अवस्था का परिणाम होता है।
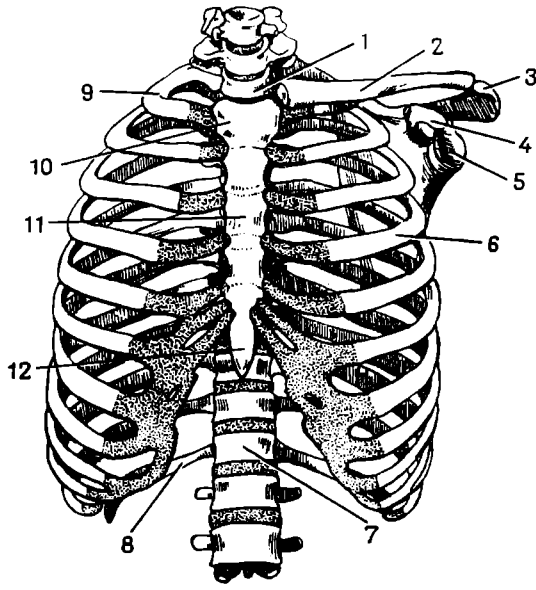
चित्र 26. वक्ष का अस्थि-पंजर।

1 – प्रथम वक्षीय कशेरूक; 2 – **क्लेविकल**; 3 – **अंसफलक का अंसकूट प्रक्रम**; 4 – **असंफलक का अंसतुंड प्रक्रम**; 5 – **असंफलक का अंस उलूखल**; 6 – शिरा (**चतुर्थ**); 7 – **बारहवां वक्षीय कशेरूक**; 8 – **बारहवां** शिरा; 9 – **प्रथम** शिरा; 10 – **दण्डाभ कोशिका**; 11 – उरोस्थि पिंड; 12 – उरोस्थि का अस्याभ प्रक्रम।

वक्ष

वक्ष उरोस्थि पर्शुका के 12 जोड़ें वक्षीय कशेरूक और उनकी संधियों से बनता है (चित्र 26)। **उरोस्थि** या **स्टर्नम** वक्ष के मध्य अग्र भाग में चपटी अस्थि होती है। उरोस्थि के तीन भाग होते हैं: उर्ध्व भाग या मैनुब्रियम; मध्य भाग या ढांचा; और अधिवार्ती भाग या उरोस्थि प्रवर्ध। मैनुब्रियम ढांचे के साथ संधि अधिक कोण बनाते हुए करता है जो बाहर की ओर निकला हुआ होता है। उरोस्थि की ऊर्ध्व सीमा पर तथाकथित उरोस्थि की युग्म खांच होती है; इसकी पार्श्व सीमाओं पर जत्रुक के लिए खांचे होती है तथा पर्शुका के 7 जोडे होते हैं।

कभी-कभी उरोस्थि में छिद्र करना पड़ता है ताकि सूक्ष्मदर्शी अध्ययन के लिए अस्थि के स्पंजी पदार्थ में से लाल अस्थि मज्जा निकाला जा सके।

पर्शुका (costae) दीर्घ चपटी वक्र अस्थियां होती हैं (चित्र 26)। प्रत्येक पर्शुका अस्थि भाग व उपास्थि से बनी होती है। इसका एक ढ़ांचा दो सिरे अग्र तथा

पार्श्व, दो सीमाएं–उर्ध्व व अधिवर्ती, तथा दो तल – बाह्य व आन्तरिक होते हैं। पर्शुका के पश्च सिरे का एक सिर ग्रीवा और गुलिका होती हैं। पर्शुका के आन्तरिक तल की अधिवर्ती सीमा पर तंत्रिकाओं व रूधिर वाहिकाओं के लिए खांचा होता है। मानव शरीर में पर्शुका के 12 जोड़े होते हैं। पहले जोड़े तथा अन्य जोड़ों में केवल यही अन्तर है कि पहला जोडा क्षैतिज होता है। प्रत्येक प्रथम पर्शुका के ऊपरि तल पर एक विषमिका गुलिका (विषमिका अग्र पेशो को डालने के लिए) और दो खांचे होते हैं जिनमें से एक में अधोजत्रुक धमनी तथा अधोजत्रुक शिरा होता है। पर्शुका के अन्तिम दो जोड़े सबसे छोटे होते हैं। मानव शरीर में पर्शुकाएं तिरछी होती हैं: आगे के सिरे पीछे के सिरे की अपेक्षा नीचे को होते हैं।

वक्ष की संधियां. पर्शुकाओं के पश्च सिरे वक्षीय कशेरूकों के साथ संधियां बनाते हैं, पर्शुकाओं के सिर कशेरूक के ढ़ांचे के साथ तथा गुलिकाएं उनके अनुप्रस्थ प्रवर्धों के साथ संधि करती हैं। इन संधियों के कारण पर्शुकाएं ऊपर उठ सकती है तथा नीचे आ सकती हैं। पर्शुकाओं के ऊपरि सात जोडों (प्रथम सात जोड़ों) के अग्र सिरे अपनी उपास्थियों के द्वारा उरोस्थि के साथ संधि बनाते हैं। सामान्यतः इन पर्शुकाओं को **यथार्थ पर्शुकाएं** कहते हैं। पर्शुकाओं के शेष 5 जोड़ें (आठवां-बारहवां जोडे) उरोस्थि के साथ संधि नहीं करते तथा **मुक्त पर्शुकाएं** कहलाती हैं। आठवीं, नौवीं तथा दशवीं पर्शुकाओं की उपास्थियों ऊपर स्थित पर्शुका के साथ जुड़ी होती है और पर्शुक आर्क बनाते हैं। पर्शुका के ग्यारहवां व बारहवां जोडें पेशी के सामने स्वतंत्र रूप से समाप्त हो जाते है ये सर्वाधिक गतिशील पर्शुकाएं होती हैं और इन्हें मुक्त पर्शुका कहते हैं।

संपूर्ण वक्ष

वक्ष में निम्न महत्वपूर्ण आन्तरिक अंग होते हैं: हृदय, फेफड़े श्वासनली, ग्रासनली विशाल रूधिर वाहिकाएं और तंत्रिकाएं। वक्ष की लयवद्ध गति के फलस्वरूप इसकी क्षमता कम व अधिक हो जाती है, और निश्वसन तथा उच्छवसन स्थान लेते हैं। वक्ष का आकार व आकृति आयु, लिंग एवं वैयक्तिक विभेदों पर आधारित करते हैं। इसकी आकृति रूडित शकु जैसी होती है। पीछे से आगे तक की तुलना में पार्श्व से पार्श्व तक इसकी लम्बाई अधिक होती है। वक्ष के ऊपरि द्वार की तुलना में नीचें का द्वार अधिक चौडा होता है तथा बारहवां वक्षीय कशेरूक, पर्शुका के ग्यारहवें और बारहवें जोड़े पर्शुक आर्क तथा उरोस्थि प्रवर्ध द्वारा घिरा हुआ होता है।

नवजात शिशु का वक्ष एक पिरैमिड की भांति होता है। पार्श्व से पार्श्व तक इसकी लम्बाई आगे से पीछे तक की तुलना में कम होती है तथा इसकी पर्शुकाएं लगभग क्षैतिज होती हैं। शिशु के विकास के साथ-साथ शिशु के वक्ष की आकृति भी परिवर्तित

होती है। पुरूष की तुलना में स्त्री का वक्ष छोटा होता है। स्त्री के वक्ष का ऊपरि भाग पुरूष के वक्ष के ऊपरि भाग की तुलना में अधिक चौड़ा होता है। रोग वक्ष की आकृति को बिगाड़ सकता है। उदाहरणतया, तीव्र रिकेटस की स्थिति में वक्ष की परिणामी आकृति को कुक्कुट या कपोत वक्षीय कहते है (इसमें उरोस्थि अत्यधिक प्रत्यक्ष हो जाती है। बाल्यावस्था से ही (डॉक्टरी देख-रेख में) क्रमवद्ध शारीरिक व्यायाम वक्ष व सम्पूर्ण जीव का सही विकास करते हैं।

अंस मेखला तथा ऊर्ध्व अग्रांग

अंस मेखला अस्थियों के दो जोडों से बनता है: जत्रुक तथा अंसफलक। बाहु अस्थियों में ऊर्ध्व बाहु, अग्रबाहु तथा हस्त की अस्थियां आती हैं। हस्त की अस्थियों में मणिबंध, करभ तथा अंगुलास्थियां आती हैं।

अंस मेखला की अस्थियां व संधियां

जत्रुक एक वक्र अस्थि होती है जिसकी आकृति तिरछे "f" जैसी होती है (चित्र 26) ; इसका एक ढांचा तथा दो सिरे होते हैं जिन्हें उरोस्थि तथा एक्रोमियल कहते हैं।
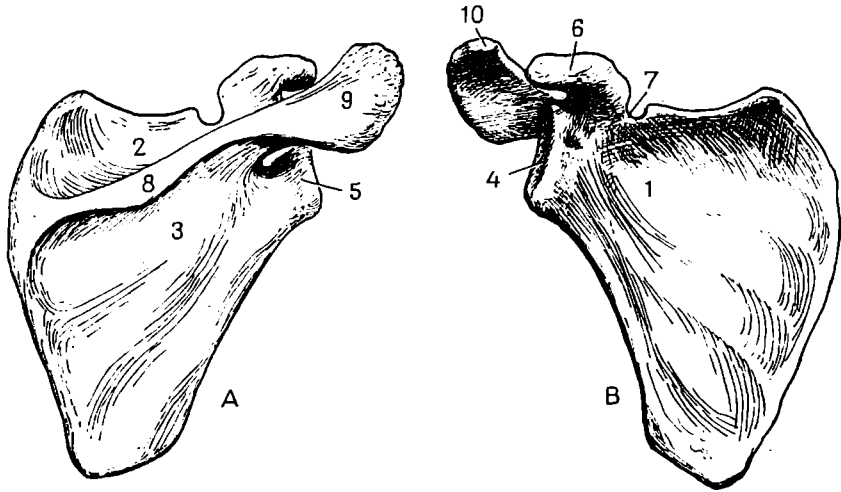
चित्र 27. अंसफलक (दक्षिण)।

A – पश्च पक्ष ; B – अग्र पक्ष ; 1 – अंसफलकास्थ खात ; 2 – अधिकंटक खात : 3 – अवकंटक खात ; 4 – अंस उलूखल ; 5 – असंफलक ग्रीवा ; 6 – अंसतुंड प्रक्रम ; 7 – खांच ; 8 – मेरू ; 9 तथा 10 – अंसकूट प्रक्रम।

अंसफलक एक चपटी त्रिकोणीय अस्थि होती है (चित्र 27)। इसमें अग्र या पर्शुक तल, पश्च तल, अंसतुंड तथा एक्रोमियल प्रवर्ध और अंस उलूखल नामक अस्थि अवसाद होता है। अग्र तल पर्शुका की ओर होता है तथा इसमें एक अवसाद होता है जिसे अंसफलकाधास्थ खात कहते हैं। अंसफलक के पश्च तल पर अस्थि उठाव, जिसे अंसफलक का मेरू दंड कहते हैं, अस्थि के पश्च तल को दो अवसादों में विभाजित कर देता है: इन्हें अधिकंटक एवं अवकंटक खात कहते हैं। अंसफलक का अंस उलूखल उर्ध्व बाहु की अस्थि के साथ संधि करता है।

अंस मेखला की अस्थियों की संधियां जत्रुक के सिरे मेनुब्रियम एवं एक्रोमियन के साथ संधि करते हैं और दो संधियां बनाते हैं: उरोस्थिजत्रुक संधि तथा एक्रोमियो-जत्रुक संधि। उरोस्थिजत्रुक संधि पल्याण रूपी (पल्याण संधि) भी हो सकती है या गोलाभीय (कन्दुक खल्लिका संधि) भी हो सकती है। इसमें अन्तःसंधि उपास्थि या डिस्क होती है। इस संधि में जत्रुक की गति ऊपर नीचे, आगे और पीछे सम्भव है। एक्रोमियोजत्रुक संधि विसर्पणी संधि है तथा इसमें अस्थियों की केवल मामली-सी गति ही सम्भव है। दोनों संधियों के चारों ओर स्नायु होते हैं। एक सघन स्नायु, जिसे अंसतुंड एक्रोमियल स्नायु कहते हैं, एक्रोमियल तथा अंसतुंड प्रवर्धों के बीच स्थित होता है।

अस्थियां औरबाहु की संधिया

प्रगंडिका (ऊर्ध्व बाहु अस्थि) एक दीर्घ नलिकाकार अस्थि होती है। इसके एक कांड या अस्थिकांड और दो सिरे या अधिप्रवर्ध होते हैं (चित्र 28)। प्रगंडिका के ऊपरी सिरे पर सिर होता है जो असंफलक दीर्घ व लघु गुलिका तथा संकुचित भाग; जिसे शारीर-ग्रीवा कहते है, के साथ संधियां बनाता है। गुलिकाओं के नीचे प्रगंडिका संकीर्ण हो जाती है और कुछ-कुछ शल्म-ग्रीवा बनाती है (प्रगंडिका में विभंग प्रायः इसी स्थान पर होते है)। अस्थिकांड में रूधिर वाहिओं (पोषण छिद्र) तथा तंत्रिकाओं के लिए प्रवेश छिद्र होते हैं, और इसके कुछ भाग का खुरदुरा तल होता है जिस के साथ अंसछद पेशी जुड़ती है।

अस्थि के अधि सिरे के पार्श्व में खुरदरी उठाव होते हैं जिन्हें मध्य तथा पार्श्व अधि-अस्थिकांड कहते हैं। इस सिरे पर भी संधि तल होते हैं जिनपर अंतः प्रकोष्ठिका तथा बहिः प्रकोष्ठिका जुड़ती हैं, और जंचुम एवं कफोकि नामक दो खात होते हैं।

अग्रबाहु की अस्थियां अग्रबाहु की दो अस्थियां होती है: अंतःप्रकोष्ठिका तथा बहिः प्रकोष्ठिका। ये दीर्घ नलिकाकार अस्थियां होती है।

अन्तः प्रकोष्ठिका मध्य अस्थि होती है (चित्र 29)। इसके ऊपरी सिरे पर चंचुम तथा कफोणि प्रवर्ध, अर्धचन्द्र खांच और एक अस्थिप्रोत्थ होते हैं। इसके अधि सिरे पर सिर तथा वर्तिकाभ प्रवर्ध होते हैं।
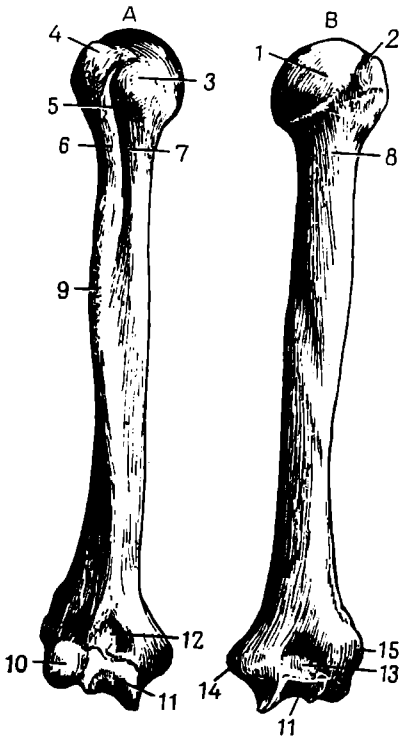
गिंचत्र 28. प्रडिका (दक्षिण)। A–अग्र पक्ष ; B–पश्च पक्ष ; 1–सिर ; 2–शारीर ग्रीवा ; 3–लघु गुलिका ; 4–महा गुलिका ; 5–द्विशिर-स्की खांच (अथवाअन्तरागुलिका सल्कस) ; 6–महा गुलिका का शिखर ; 7–लघु गुलिका का शिखर ; 8–शल्य ग्रीवा ; 9–त्रिकोणाकार गण्डक ; 10 तथा 11–अग्र बाहु अस्थियों के साथ संधि करने के लिये संधि समतल ; 12–चंचुभ खात ; 13–कफोणि खात ; 14–मध्य अधिअस्थिकंद ; 15–पार्श्व अधिअस्थिकंद।
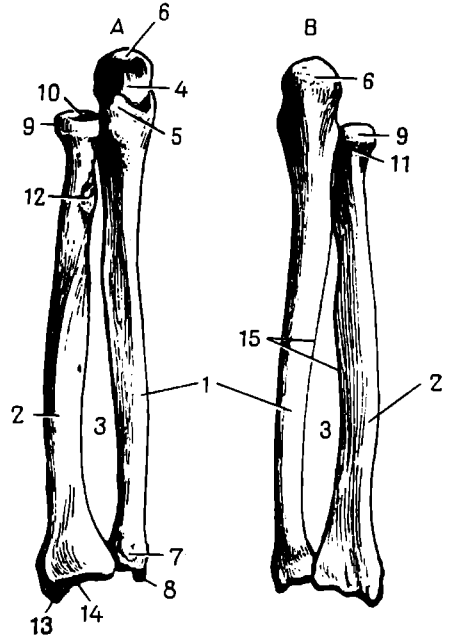
चित्र 29. अग्रबाहु की अस्थियां (दक्षिण)। A–अग्र पक्ष ; B–पश्च पक्ष ; 1–अंतः-प्रकोष्ठिका ; 2–बहिः प्रकोष्ठिका ; 3–अन्तरास्थि अवकाश ; 4 अर्धचन्द्र खांच ; 5–चंचुभ प्रक्रम ; 6–कफोणि ; 7 अंतः प्रकोष्ठिका का शिर ; 8–अंतः प्रकोष्ठिका का वर्तिकाभ प्रक्रम ; 9–बहिः प्रकोष्ठिका का शिर ; 10–बहिः प्रकोष्ठिका के शिर पर खात ; 11–बहिः प्रकोष्ठिका की ग्रीबा; 12–बहिः प्रकोष्ठिका का गण्डक ; 13–बहिः प्रकोष्ठिका का वर्तिकाभ प्रक्रम ; 14–मणिबंध अःस्थयों के साथ संधि करने के लिये बहिः प्रको-ष्ठिका का संधि समतल।
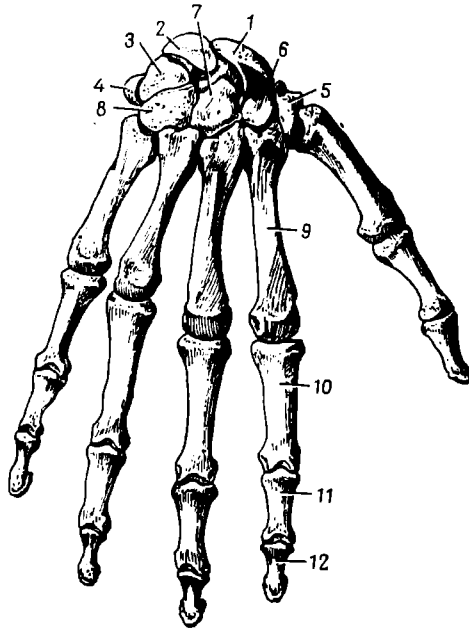
चित्र 30. दक्षिण हस्त की अस्थियां (पृष्ठ पक्ष)।
1 – नौकाकार ; 2 – नवचंद्रास्थि ; 3 – त्रितली ; 4 – गोलकास्थि ; 5 – महा बहुकोणी ; 6 – लघु बहुकोणी ; 7 – समुंडिका ; 8 – अग्रवक्र ; 9 – कराभिका ; 10 – निकटस्थ अंगुलास्थि ; 11 – मध्य अंगुलास्थि ; 12 – नरवरक अंगुलास्थि।
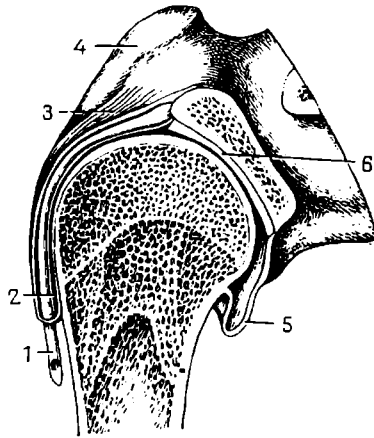
चित्र 31. दक्षिण अंस संधि (काट)।
1 – बाहु-द्विशिरस्क के शिरे का कण्डरा ; 2 – इस कण्डरा की स्राव छद ; 3 तथा 5 – संधि कैपस्यूल ; 4 – अंसफलक का अंसकूट प्रक्रम ; 6 – अंसफलक का अंस-खात।

बहिः प्रकोष्ठिका के ऊपरी सिरे पर खांचे समेत सिर, ग्रीवा तथा अस्थिप्रोत्थ होते है: इसके अधि सिरे पर संधि तल होता है, जहां पणिबंध की अस्थियों के साथ **संधि होती है और एक वर्तिकाभ प्रवर्ध होता है (चित्र 29)। अग्रबाहु की दोनों अस्थियों के अस्थिकांड तीन किनारें होते हैं; इनके सर्वाधिक** तीक्ष्ण किनारे एक दूसरे की ओर आमुख होते हैं तथा इन्हें अन्तरास्थि शिरवर कहते हैं।

हस्त (manus) **की अस्थियां** मणिबंध, करभ तथा अंगुलास्थियों में विभाजित की गई हैं (चित्र 30)। मणिबधं अस्थियां की संख्या आठ है तथा ये चार-चार अस्थियों की दो कतारों में स्थित होती हैं। निकटस्थ कतार में नौकाकार, नवचंद्राकार त्रितली तथा मत्स्यरूपी अस्थियां होती हैं। दूरस्थ कतार में दो बहुकोणी अस्थियां दीर्घ तथा लघु समुंडिका तथा अग्रवक्र (अंकुशाकार) अस्थियां होती हैं। हथेली की ओर आमुख मणिणबंध अस्थियां मणिबंध परिरेखा बनाती है जिस पर एक अनुप्रस्थ स्नायु खींचा होता है। स्नायु तथा पणिबंध अस्थियों के बीच एक अवकाश होता है यानी मणिबंध नलिका जिस में पेशी कण्डरा गुज़रते है। काचाभ 5 अस्थियों से बनता है जो अंगूठे से आरम्भ होकर एक, दो, तीन, अदि संख्या द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। ये नलिकाकार अस्थियां होती हैं। प्रत्येक कचाभ अस्थि का आधार कांड तथा सिर होता है। अंगुलि की अस्थियां या अंगुलास्थियां अपेक्षाकृत छोटी नलिकाकार अस्थियां होती हैं। अंगुठे में दो अंगुलास्थियां होती हैं: निकटस्थ एवं नरवरकी अन्य प्रत्येक अंगुलि में 3 अंगुलास्थियां होती हैं, निकटस्थ या प्रथम, मध्य या द्वितीय, नरवरकी या तृतीय।

बाहु की अस्थियों की संधियां. बाहु की अस्थियों की संधियां संधियों द्वारा ही होती हैं। सर्वाधिक विशाल संधियां अंस संधियां (articulatio humeri), कफोणि संधि (articulatio cubiti) तथा रेडियोमणिबंध संधि (articulatio radiocarpea) होती हैं।

अंस संधि (articulatio humeri) अंसफलक के अंस उलुखल तथा प्रगंडिका के सिर द्वारा बनती है (चित्र 31)। इस कन्दुक खल्लिका संधि में आनमन, वर्धन, अपवर्तन, अभिवर्तन, घ्रुवण तथा पर्यावर्तन सम्भव हैं। बाहु द्विशिरस्क पेशी के दीर्घ सिर का कण्डरा इस संधि में से गुज़रता हैं।

कफोणि संधि तीन अस्थियों से बनी है: प्रगंडिका, अंतःप्रकोष्टिका और बहिः प्रकोष्ठिका (चित्र 32)। सामान्य संधि कैप्स्यूल तीन संधियों को जोड़ता है – प्रगंडिका अंतःप्रकोष्ठिकीय प्रगंडिकावहिः-प्रकोष्ठिकीय तथा अन्तराप्रकोष्ठिकीय। संधि केप्स्यूल के चाटों ओर स्नायु होते हैं। कफोणि संधि में आनमन तथा वर्धन सम्भव है।

अग्रबाहु अस्थियां अन्तरास्थि झिल्लियों तथा दो अन्तराप्रकोष्ठिकों जिन्हे निकटस्थ तथा दूरस्थ संधियां कहते हैं, द्वारा संधि करते हैं। निकटस्थ संधि कफोणि संधि का भाग बनाती है। अन्तराप्रकोष्ठिकीय संधियां धुराग्रीय संधियां हैं और इनमें अनुदैर्घ्य

ग्रक्ष के चारों ग्रोर घ्रुवण सम्भव है तथा हस्त वहि: प्रकोष्ठिका के साथ घूमता है। ग्रग्रबाहु का ग्रन्दर की ग्रोर मुड़ना (हथेली नोचे की ग्रोर) ग्रवतानन कहलाता है, तथा बाहर को मुड़ना उत्तानन कहलाता है।

रेडियोमणिबंधी संधि बहि: प्रकोष्ठिका तथा मणिबंध की निकटस्थ कतार की ग्रस्थियों की संधि करता है तथा यह कॉन्डिलायॅड संधि कहलाती है। इसमें ग्रानमन, वर्धन ग्रपवर्तन, ग्रभिवर्तन तथा पर्यावर्तन सम्भव है। संधि केप्स्यूल स्नयुग्रों द्वारा जकड़ा गया होता है। रेडियोमणिबंध तथा ग्रन्तराम-मणिबंध संधियां (मणिबंध ग्रस्थियों की दो कतारों के बीच की संधि) मणिबन्ध कहलाता है।

हस्त में निम्न संधियां होती हैं: (1) ग्रन्तरामणिबंधी (विसर्पणी); (2) मणिबंध-करभिका (यह भी विसर्पणी है, केवल यहां ग्रपवाद है: दीर्घ बहुकोणिय ग्रौर प्रथम करभिका ग्रस्थियों, जो पल्याण संधि है, के बीच); (3) करभिका–ग्रंगुलास्थि (कन्दुका-खल्लिका); (4) ग्रंत:ग्रंगुलास्थि (हिंज)। हस्त की सभी संधियां स्नायु द्वारा बंधी होती हैं।

बाहु की, विशेषत: ग्रंगुलियों की संधियों में नाना प्रकार की गति सम्भव हैं। इसका कारण यह है कि उत्पत्ति की क्रिया में मानव के पूर्वजों का ग्रग्र ग्रग्रांग श्रम का ग्रंग बन गया।

चित्र 32. दक्षिण कोहनी संधि (ग्रग्र पक्ष)।

1 – प्रगंडिका; 2 – प्रगण्डिका की चुंचुभ खात; 3 – मध्य ग्रधिग्रस्थिकंद; 4 तथा 7 – ग्रग्र बाहु की ग्रस्थियों के साथ संधि करने के लिये प्रग्रंडिका के संधि समतल। 5 तथा 11 – संधि कैप्स्यूल प्रबलन तथा स्नायू; 6 – ग्रंत: प्रकोष्ठिका का चंचुभ प्रक्रम; 8– ग्रंत: प्रकोष्ठिका; 9 – बहि: प्रकोष्ठिक 10 – बहि: प्रकोष्ठिका का शिर; 12 – प्रगंडिका का पार्श्व ग्रधिग्रस्थिकद।

श्रोणि मेखला तथा ग्रधि ग्रग्रांग

श्रोणि मेखला या श्रोणि में दो विशाल श्रोणि ग्रस्थियां (coxae) होती हैं – प्रत्येक पार्श्व में एक ग्रस्थि।
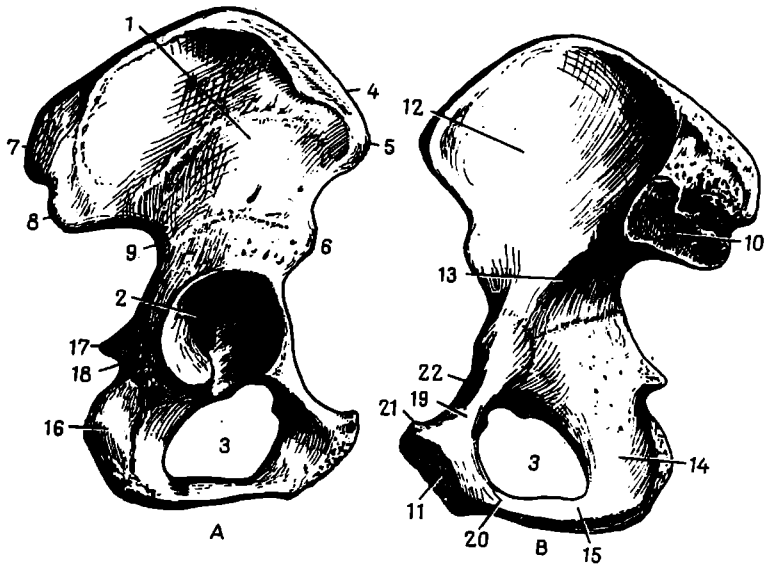
चित्र 33.

A — बाहरी समतल ; B — आन्तरिक समतल ; 1 — श्रोणि-अस्थि ; 2 — श्रोणि उलूखल ; 3 — श्रोणिरंध्र ; 4 — श्रोणि शिखर ; 5 — अग्र महा कशेरूक ; 6 — अग्र लघु कशेरूक ; 7 — पश्च महा कशेरूक ; 8 — पश्च लघु कशेरूक ; 9 — महा नितंब खांच ; 10 — आलिंद समतल ; 11 — जघन अस्थि के द्वितीय अर्ध के साथ संधि के लिये समतल ; 12 — श्रोणि खात ; 13 — श्रोणि-अस्थि की चापाकार रेखा ; 14 — श्रोणिखण्ड की महा तथा 15 — लघु शाखा ; 16 — आसनास्थि गण्डक ; 17 — आसनास्थि कशेरूक ; 18 — लघु नितंब खांच ; 19 — जघनास्थि की महा तथा 20 — लघु शाखा ; 21 — जघनास्थि गुलिका ; 22 — जघनास्थि कंकतांग।

श्रोणि अस्थियां सेक्रम तथा अनुत्रिक की संधि करती हैं तथा मिलकर श्रोणि बनाती है। टांग की अस्थियों में ऊर्वस्थि, जंघा की अस्थियां तथा पाद की अस्थियां आती हैं। पाद की अस्थियां गुल्फ और प्रपद और पादांगुलि की अस्थियों में विभाजित की गई हैं।

श्रोणि की अस्थियां तथा संधियां

श्रोणि अस्थि (os innominatum or os coxae) तीन अस्थियों की संधि है : इलियम, जघनास्थि तथा श्रोणिखण्ड।

इनकी संधि के स्थान पर श्रोणिउलूखल होता है (चित्र 33) जो जंघा की अस्थि

के सिर के साथ संधि करता है। इलियम का ढ़ांचा तथा एक पंख होता है। पटंव की सीमा को इलियम का शिखर कहते है और यह दो उठाव में विभाजित होता है—अग्र उध्र्व कंटक तथा पश्च ऊर्ध्व कंटक। इन उठाव के नोचे अग्र अधोवर्ती तथा पश्च अधोवर्ती कंटक होते हैं। इलियम पर चापाकार रेखाएं, श्रोणिय खात, नितंब रेखाएं और एक कर्णाभ संधि तल होते हैं।

जघनास्थि का एक ढ़ांचा तथा दो शाखाएं (rami)—उध्र्व शाखा तथा अधीवर्ती शाखा—होती है; उध्र्व शाखा पर जघन गुलिका तथा जघन शिखर होता है। श्रोणिखण्ड का एक ढ़ांचा उध्र्व तथा अधोवर्ती शाखाएं, श्रोणिखण्ड अस्थिप्रोत्थ तथा श्रोणिखण्ड, कंटक होते हैं। श्रोणिखड कंटक महा नितंब खांच को निम्न नितंब खांच से पृथक करता है। जघन तथा श्रोणिखण्ड श्रोणिरंध्र को बांध देते है जो लगभग पूर्णतया संयोजी ऊतक झिल्लियों से ढ़का हुआ होता है।

श्रोणि की संधियां. श्रोणि की निम्न संधियां होती हैं: (1) सेक्रम तथा इलियम के कर्ण तल द्वारा त्रिकश्रोणीय संधि (युग्मित); यह दृढ़ स्नायु द्वारा बंधी होती है तथा विसर्पणी संधि है; (2) जघन संधि, या संधान जघा, जो दो जघन अस्थियों द्वारा बनती है जिनकी संधि उपास्थि द्वारा होती है जिसमे स्लिट जैसी कोटर होता है (इस प्रकार की संधि को हैमीआर्प्रोसिस कहते हैं); (3) श्रोणि के उचित स्नायु: त्रिकमेरू स्नायु (सेक्रम व श्रोणिखण्ड कंटक के बीच)। ये स्नायु नितंबी खांचों के साथ मिलकर महा तथा निम्न नितंब रंध्रों को बांध देते हैं जिनमें से पेशियां, तंत्रिकाएं तथा रूधिर वाहिकाएं गुज़रती हैं।

संपूर्ण श्रोणि

श्रोणि को दो श्रोणि अस्थियां, सेक्रम तथा अनुत्रिक और उनकी संधियां बनाती हैं (चित्र 34)। इनमें महा (मिथ्या) श्रोणि व निम्न (यथार्थ) श्रोणि पृथक की गई हैं। दोनों श्रोणियां-इलियोश्रोणि रेखा द्वारा पृथक की गई है जो चापाकार रेखा के साथ-साथ उच्चांतरीय में से गुजर कर जघन शिखर तथा संधान के महा अपांत में सें गुज़रती है। मिश्या श्रोणि श्रोणि पंखीं द्वारा बांधी गई होती है। यथार्थ श्रोणि को जंघा श्रोणिखण्ड, सेक्रम तथा अनुत्रिक बनाते है। यथार्थ श्रोणि का प्रवेश-द्वार अंतर्गम तथा निकास निर्गम कहलाता है।

यथार्थ श्रोणि के कोटर में आशय, मलाशय, तथा आंतरिक जननांग होते है (स्त्री श्रोणि में गर्भाशय, गर्भाशयी नलिका तथा अर्डाशय होते है: पुरूष श्रोणि में प्रॉस्टट, शुक्राशय तथा डिफेरेन्ट वाहिनी होती हैं)। स्त्री की यथार्थ श्रोणि जन्म नलिका होती है जिसमें से प्रसव के समय बच्चा गुज़रता है। श्रोणि की आकृति तथा आकार लिंग पर आधारित करता है। स्त्री श्रोणि अधिक विस्तृत होती है, लेकिन पुरूष
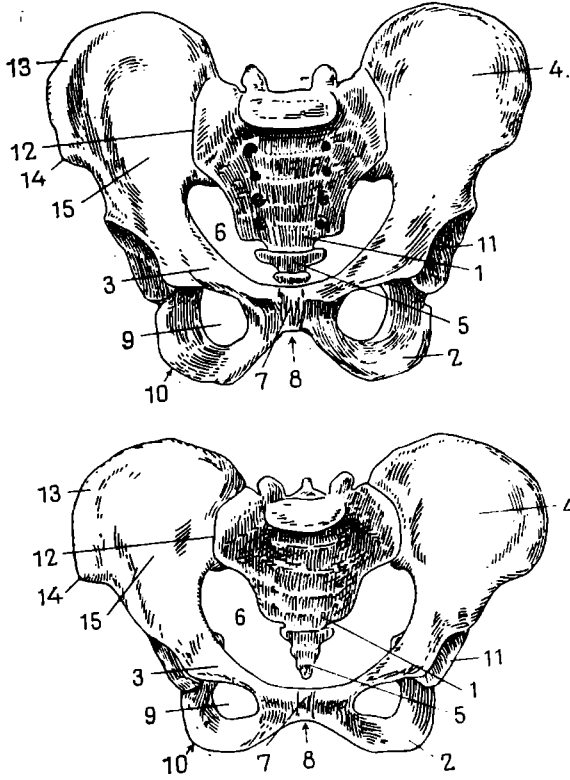
चित्र 34. पुरुष (ऊपर) तथा स्त्री (नीचे) का श्रोणि प्रदेश

1 – सेक्रम ; 2 – श्रोणिखण्ड ; 3 – जघनास्थि ; 4 – श्रोणिअस्थि ; 5 – अनुत्रिक ; 6 – यथार्थ श्रोणि प्रदेश का प्रवेश ; 7 – जघनास्थि संधान ; 8 – संधान कोण (जघनास्थि कोण) ; 9 – श्रोणिरंध्र ; 10 – श्रोणिखण्ड अस्थिप्रोत्थ ; 11 – श्रोणि उलखल ; 12 – सेक्रमी श्रोणिअस्थि संधि ; 13 – श्रोणिअस्थि शिखर ; 14 – अग्र महा कशेरूक ; 15 – श्रोणिअस्थि खात :

श्रोणि की तुलना में अधिक नीची होती है; स्त्री श्रोणि के परंव अधिक विस्तृत होते हैं, उच्चांतरीय श्रोणि कोटर में अधिक नहीं जाता है; सेक्रम अधिक विस्तृत तथा इसका वक्र कम होता है। पुरूषों में संधान के नीचे निम्न जघन शाखाओं के बीच का कोण समकोण से कम होता है, जबकि स्त्री में यह कोण अधिक होता है तथा प्रायः इसकी आकृति आर्क जैसी होती है। स्त्री श्रोणि के माप का ज्ञान प्रसूति कार्य के लिए आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक स्त्री के लिए ये भिन्न होता है। नीचे स्त्री श्रोणि के अत्यधिक महत्वपूर्ण औसत माप दिये गए हैं:

1. अग्र महा श्रोणि कटंकों के बीच की दूरी को कटंक दूरी (distantia spinarum) कहते हैं तथा यह 25-26 से. मी. तक होती है।

2. श्रोणि शिखरों के सबसे दूरस्थ बिन्दुओं के बीच की दूरी को शिखर दूरी (distantia cristarum) कहते हैं तथा यह 28-29 से.मी. के बराबर होती है।

3. ऊरोस्थि के महा शिखरकों के बीच की दूरी शिखरक दूरी (distantia trocharterica) कहलाती है तथा 30-31 से.मी. होती है।

4. जघन संधान के महा उपांत व खात के बीच की दूरी, जो पांचवें कटि कशेरूक और सेक्रम के बीच की दूरी के समान होती है, बाह्य संयुग्म (चित्र 35) कहलाता है तथा इसकी दूरी 20-21 से.मी. होती है। ये सभी माप श्रोणि के बाहर से एक विशेष उपक्रम, जिसे श्रोणिमापी कहते हैं, द्वारा लिए गए हैं।
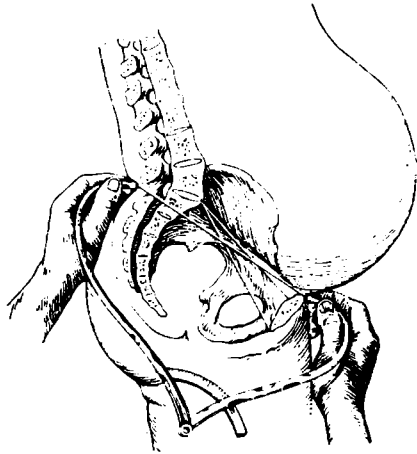
चित्र 35. बाह्य संयुग्मन का मापना (आरेख)

5. जघन संधान की निम्न उपांत और उच्चांतरीप के बीच की दूरी विकर्णी संयुग्म कहलाता है ताथ 12.5-13 से.मी तक होता है। विकर्णी संयुग्म को योनि निरीक्षण के समय मापा जाता है।

6. उच्चांतरीय तथा जघन संधान के आन्तरिक तल पर पीछे की ओर दूरस्थ

बिन्दु के बीच की दूरी प्रसूति या यथार्थ संयुग्म कहलाता है तथा यह 10.5-11 से.मी. के बराबर होती है। प्रसूति संयुग्म का माप बाह्य संयुग्म में से 9 से.मी घटा कर निकाला जाता है, या अधिक परिशुद्ध माप प्राप्त कहने के लिए विकर्णी संयुग्म में से 1.5=2 से.मी. घटा दिये जाते है।

7. जघन संधान की निम्न उपांत तथा अनुत्रिक के शिखर के बीच की दूरी यथार्थ श्रोणि के निर्गम के आकार को मापने के लिए ज्ञात की जाती है। इसकी औसत दूरी 11 से. मी. है। इसमें सें 1.5 से. मी. कम करने पर (अनुत्रिक तथा अध्यावरण की मोटाई) यथार्थ श्रोणि के निर्गम का आकार प्राप्त हो जाता है, जो लगभग 9.5 से. मी. है। प्रसव के समय अनुत्रिक की गति के कारण यह आकार 11 से. मी. तक बढ़ सकता है।

पुरूष श्रोणि के परिमाप स्त्री श्रोणि के परिमापों से 1.5-2 से. मी. कम होते हैं।

टांग की अस्थियां एवं संधियां

उर्वस्थि (femur) अस्थि-पंजर में सबसे दीर्घ नलिकाकार अस्थि है (चित्र 36)। इसके ऊपरी सिरे पर एक सिर, ग्रीवा और दो उटाव होते हैं, जिन्हें महा शिखरक तथा लघु शिखरक कहते हैं। कांड की आकृति बेलनाकार होती है तथा इसमें खुरदुरी कटक (linea aspera) इसके पश्च तल पर होता है। उर्वस्थि के निम्न सिरे पर उर्विका के निचले सिरे पर दो उठाव हैं, – मध्यवर्ती तथा पार्श्व अस्थिकंद – जिनके बीच में अंतराकंद खात होती है। अस्थिकंद के पार्श्व में उठाव मध्यवर्ती तथा पार्श्व अधिअस्थिकंद कहलाते हैं।

जानुफलक एक त्रिकोणीय अस्थि होती है जिसके कोण गोल होते हैं (दे० चित्र 16)। यह उर्विका के निचले सिरे पर स्थित होती है। जानुफलक चतुःशिरस्क उर्विका पेशी कण्डरा में विकसित होती हैं। पेशियों के कण्डराओं में विकसित होने वाली अस्थियों को वर्तुलिका अस्थियाँ कहते हैं।

मध्यांग की अस्थियां.. मध्यांग में दो अस्थियाँ होती हैं – अंतर्जंधिका अस्थि तथा बेर-अस्थि (splint bone) । ये दोनों अस्थियाँ नलिकादार होती हैं।

अंतर्जंघिका अस्थि बेर अस्थि (बहिर्जंधिका अस्थि) की तुलना में अधिक गठी हुई होती है तथा यह मध्यांग की मध्यवर्ती अस्थि होती है (चित्र 37)। इसके ऊपरी सिरे पर मध्यवर्ती तथा पार्श्व अस्थिकंद, अंतराकंद उठाव, उर्विका के साथ संधि करने के लिये दो संधि समतल, तथा पेशियों के संलगन के लिये अस्थिप्रोत्थ होते हैं। अंतर्जंधिका का काँड तीन धारों वाला होता है; इसकी अग्र धार शिखर कहलाती है। अंतर्जंधिका के निचले सिरे पर एक उठाव होता है, जिसे गुल्फवर्ध कहते हैं, तथा घुटिकास्थि के साथ संधि करने के लिये एक संधि समतल होता है (चित्र 37)।

बहिर्जंघिका का एक सिर होता है जिसके ऊपरी सिरे पर अंतर्जंघिका के साथ संधि करने के लिये संधि समतल होता है। इसके साथ-साथ इसका एक गुल्फवर्ध होता है जिस पर इसके निचले सिरे पर घुटिकास्थि के साथ संधि करने के लिये संधि समतल होता है। (चित्र 37)

पद की अस्थियों को पादांगुलियों के गुल्फ, प्रपद तथा अंगुलास्थियों में विभाजित किया गया हैं (चित्र 38)। कुल सात गुल्फ अस्थियाँ होती हैं: पार्ष्णिका, पादमलवा, नौकाकार, घनास्थि तथा तीन फानाकार अस्थियाँ। पार्ष्णिका पर पार्ष्णिका गुलिका नामक उठाव होता है। गुल्फ अस्थियों का विन्यास चित्र 38 में दिखाया गया है। प्रपद अस्थियों की सँख्या 5 होती हैं जो नलिकादार होती हैं। पादांगुलियों की अस्थियाँ अंगुलियों की अंगुलास्थियों की तुलना में छोटी होती हैं। अंगुष्ठ की भाँति पदांगुष्ठ की भी दो अंगुलास्थि होती हैं। शेष सभी पादांगुलियों में प्रत्येक में तीन अंगुलास्थियाँ होती हैं।

पैर की अस्थि संधियां. पैर की अस्थियाँ परस्पर संधियों की मदद से जुड़ती हैं। इनमें से सबसे बड़ी संधियाँ हैं: श्रोणि संधि, जानुफलक संधि तथा गुल्फ संधि।

श्रोणि-संधि श्रोणि–उलूखल तथा उर्विका के सिर से बनती है (चित्र 39)। इस कन्दुक खलिका संधि में निम्न सम्भव हैं: मुड़ना, विस्तारण, अभिवर्तन, अपवर्तन, घूर्णन तथा पर्यावर्तन। स्कन्ध संधि की तुलना में श्रोणि संधि की क्रिया अधिक सीमित होती है। स्नायु संधि कैप्स्यूल को और दृ बनाते हैं तथा सबसे अधिक दृढ़ स्नायु श्रोणि ऊरू स्नायु होता है। यह संधि कैप्स्यूल को आगे से दृढ़ करता है तथा अग्र निम्न श्रोणि मेरू से (उर्विका पर) अन्तराशिखरक रेखा तक विस्तरित होता है। यह स्नायु मनुष्य में अधिक विकसित होता है क्योंकि उसकी मुद्रा ऊर्ध्वाधर होती है। यह श्रोणि संधि में विस्तारण को सीमित करता है। संधि के अन्दर एक गोल स्नायु होता है।

जानुफलक संधि तीन संधियों से बनी हुई होती है: उर्विका, अन्तर्जंधिका तथा जानुफलक (चित्र 40)। इस संधि की विशेषताएँ हैं: दो अन्तरासंधि तंतूपास्थि और दो अन्तरासंधि क्रॉसनुमा स्नायु। बाह्य स्नायु संधि कैप्स्यूल को दृढ़ बनाते हैं। कैप्स्यूल की स्राव परत संधि के अन्दर तहें और स्राव पुटी भी बनाती हैं। यह संधि एक हिंज तथा कन्दुक खल्लिका संधि दोनों ही है। इसमें मुड़ना, विस्तारण सम्भव हैं और जब यह मुड़ती है तो मध्यांग थोड़ा-सा घूम जाता है।

मध्यांग की अस्थियां अन्तरास्थि झिल्लियों द्वारा जुड़ी होती हैं। इन अस्थियों के ऊपरि सिरे अतिरिक्त रूप से एक विसर्पणी संधि द्वारा तथा निचले सिरे एक स्नायु द्वारा जुड़े होते हैं।

कोण संधि मध्यांग अस्थियों एवं घुटिकास्थि के निचले सिरों से बनती है और
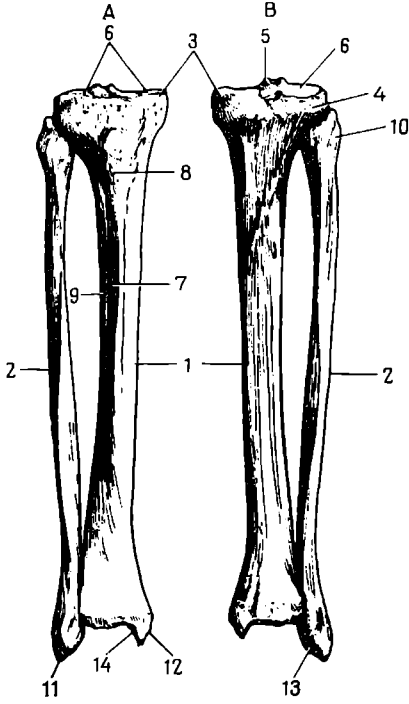
चित्र 36. उर्विका (दक्षिण) A – अग्र पक्ष ; B – पश्च पक्ष 1 शरि –; 2– ग्रीवा; 3 – लघु शिखरक ; 4 – महा शिखरक ; 5 – ऐस्पर रेखा ; 6 – मध्य अस्थिकंद ; 7 – पार्श्व अस्थिकंद ; 8 – अन्तराअस्थिकंद खात ; 9 – पार्श्व अधिअस्थिकंद ; 10 – मध्य अधिअस्थिकंद ; 11 – जानुपृष्ठ अवकाश ; 12 – पटेला के साथ संधि करने का समतल.
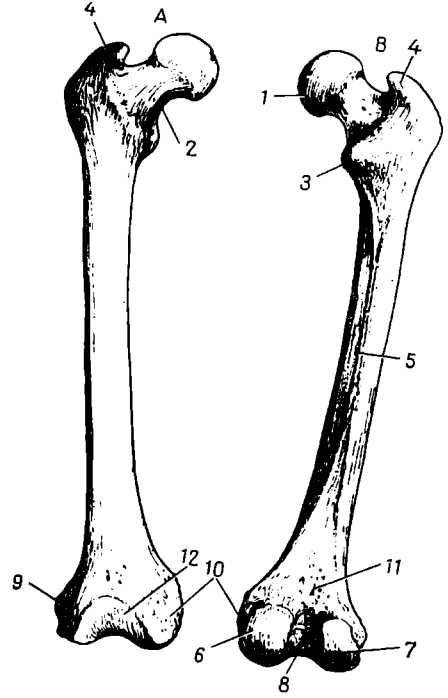
चित्र 37. जंघा की अस्थियां (दक्षिण) A – अग्र पक्ष ; B – पश्च पक्ष ; 1 – टिबिया ; 2 – बहिर्जंघिका ; 3 – मध्य अस्थिकंद ; 4 – पार्श्व अस्थिकंद ; 5 – अन्तराअस्थिकंद उच्चस्थल ; 6 – उर्विका के साथ संधि करने का संधि समतल ; 7 – अग्र शिखर ; 8 – पेशी संलगन के लिये अस्थिप्रोत्थ ; 9 – अन्तरास्थि कटक ; 10– बहिर्जंघिका का शिखर ; 11 – टिबिया का गुल्फवर्ध ; 12 – बहिर्जंघिका का गुल्फवर्ध; 13 – घुटिकास्थि के साथ साथ संधि करनेके लिये गुल्फवर्ध का संधि समतल ।

अंतर्जंघिका तथा बहिर्जंघिका के गुल्फवर्ध घुटिकास्थि में काँटे की भाँति स्थित होते हैं। यह हिंज संधि है।

पैर में निम्न संधियाँ पायी जाती हैं: (1) टैलोगुल्फास्थि – छुटिकास्थि तथा गुल्फास्थि के बीच; (2) टैलोगुल्फास्थि नौकाकार; (3) चौपार्ट संधि (chopart's joint) जो टैलोगुल्फास्थि नौकाकार और गुल्फास्थि घनास्थि को जोड़ती है; (4) नौकाकार, फानाकार तथा धनाकार अस्थियों के बीच संधि; (5) गुल्फप्रपद संधि जो फानाकार और घनाकार अस्थियों को प्रपद अस्थियों के साथ जोड़ती हैं; (6) प्रपद-अंगुलास्थि संधि; (7) अन्तराअंगुलास्थि संधि। पैरों की सभी अस्थियो को स्नायु दृढ़ करते हैं।

सबसे अधिक क्रिया ऊपरी (टैलो-ऊरू महापेशी) तथा निचली (टैलोगुल्फ) तथा टैलो-गुल्फ नौकाकार) संधियों में सम्भव हैं जो **पैर की संधि** के नाम से जानी जाती हैं। ऊपरि गुल्फ़ संधि पृष्ठ आनमन तथा पादतल आनमन सम्भव करती है। निम्न गुल्फ संधि पैर का अवतानन एवं उत्तानन सम्भव करती है। अवतानन पैर की बाह्य सीमा को ऊपर उठाता है तथा आन्तरिक सीमा को नीचे लाता है। उत्तानन इसके विपरीत करता है। इस स्थिति में पैर का अभिवर्तन एवं अपवर्तन भी होता है। ऊपरी तथा निचली गुल्फ संधियों में क्रियाएँ एक साथ भी हो सकती हैं।

त्तर्च 38. दक्षिण पाद काअस्थिय (उच्च पक्ष)

1 – घुटिकास्थि; 2 – पार्ष्णिका; 3 – घनास्थि; 4 – नौकाकार; 5, 6 तथा 7 – फानाकार; 8 –प्रथम प्रपदिका; 9तथा 10 – अस्थियों की संधि रेखाएं।

संपूर्ण पैर. पैर का प्रकार्य अधिकांश स्थितियों में सहारा देना है। पैर की अस्थियाँ एक समतल पर स्थित नहीं हैं; ये अनुदैर्घ्य तथा अनुप्रस्थ वक्र बनाती हैं जिनकी उत्तलता पृष्ठ पक्ष की और तथा अवतलता पादतल पक्ष की ओर होती है। न वक्रों को पैर की आर्क कहते हैं। एक अनुदैर्घ्य आर्क होती है तथा एक अनुप्रस्थ आर्क होती है। खड़े होने की स्थिति में पैर गुल्फ अस्थिप्रोत्थ तथा प्रपद अस्थियों के शिखरों पर आधारित होता है। पैर की आर्क गति के समय कम्कपाहट को कम करती हैं। कुछ लोगों में पैर की आर्क चपटी होती हैं; इस अवस्था को चपटा पैर कहते हैं।
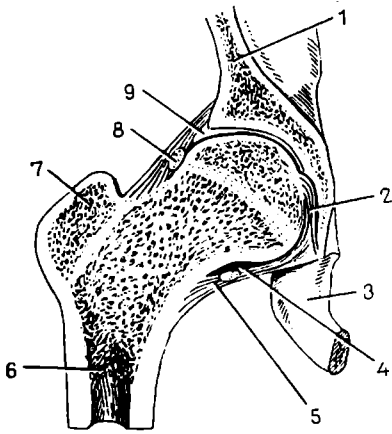
चित्र 39. श्रोणि-संधि
1 – श्रोणि अस्थि ; 2 – गोल स्नायु ; 3 – श्रोणिखण्ड ; 4 – उर्विका की ग्रीवा ; 5 – संधि कैप्स्यूल ; 6 – उर्विका ; 7 – महा शिखरक ; 8 – जोना आर्बिकुलारिस 9 – अंस ओष्ठ ।
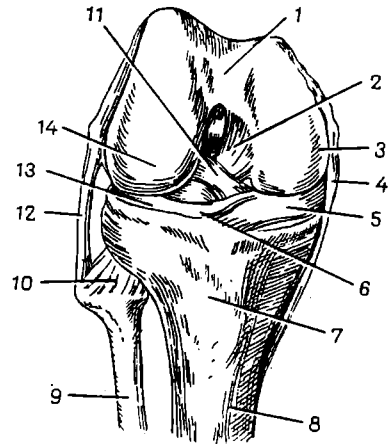
चित्र 40. जानु संधि (दक्षिण), कैप्स्यूल निकाल दिया गया है एवं उर्विका को मोड़ दिया गया है (अग्र पक्ष)।
1 – पटेला के संधि करने का समतल ; 2 तथा 11 – क्रॉसनुमा स्नायु ; 3 तथा 14 – उर्विका के अस्थिकंद ; 4 तथा 12 – संधि कैप्स्यूल को युग्मित करने वाले स्नायु ; 5 तथा 13 – नवचन्द्रक ; 5 – नवचन्द्रकों को संधि करने वाले स्नायु ; 7 – टिबिया का अस्थिप्रोत्थ ; 8 – टिबिया ; 9 – बहिर्जंघिका ; 10 – बहिर्जंघिका तथा टिबिया के शिरों के बीच स्नायु।

करोटि

सिर के अस्थि भाग को **करोटि** कहते हैं। करोटि (चित्र 41) में एक कोटर होता है जिसमें मस्तिष्क होता है। करोटि की अस्थियाँ मुख कोटर ; नासा कोटर ; नेत्रकोटर, जिनमें दृष्टि के अंग स्थित होते हैं ; श्रवण के अंग वाले कोटर बनाती हैं। तंत्रिकाएँ तथा रुधिर वाहिकाएँ करोटि में अनेक रंध्र-द्वारों में से गुज़रती हैं। करोटि को प्रायः कपाल तथा आनन भागों में बाँटा जाता है। कपाल भाग का एक आधार और एक गुम्बद होता है। यह दो युग्मित अस्थियों – भित्तीय तथा शंख अस्थियों, – और चार अयुग्मित अस्थियों अग्र, एँथमाइड, अनुकपाल तथा फानरूप – से बनता है। आनन करोटि छः युग्मित अस्थियों – जंभिका, गंडास्थि, नासास्थि
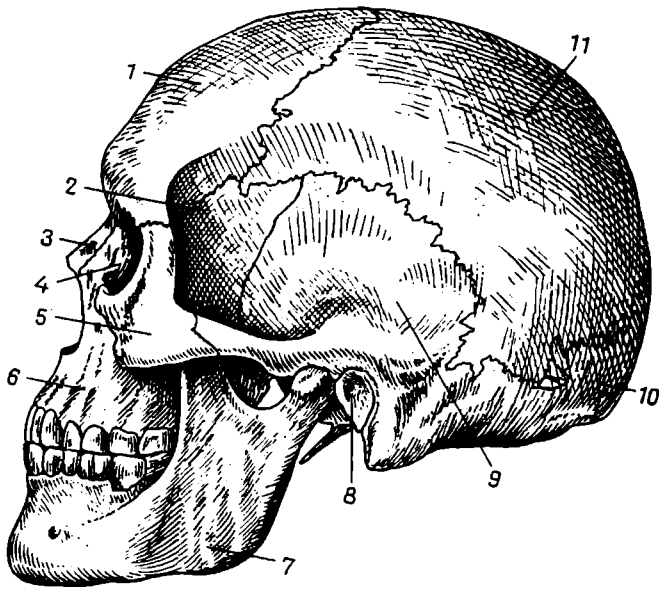
चित्र 41 . करोटि (पार्श्व पक्ष)
1 – अग्रललाट पालि ; 2 – जतुक अस्थि (महा पक्ष) ; 3 – नासास्थि ; 4 – अश्रु अस्थि ; 5 – गंडास्थि ; 6 – जंभिका ; 7 – चिबुकास्थि ; 8 – बाह्य ध्यानिक कुहर ; 9 – शंख अस्थि ; 10 – अनुकपाल अस्थि ; 11 – भित्तीय अस्थि ।

अश्रुगन्थि अस्थि, तालु अस्थि तथा निम्न नासा शंखिकास्थि, – तथा दो अयुग्मित अस्थियों – वोमर तथा चिबुकास्थि, – से बनती है। कंठिकास्थि को आनन करोटि की अस्थि माना जाता है। करोटि की अस्थियों की विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ होती हैं। करोटि की कुछ अस्थियों के लिये वायुविवर नामक वायु से परिपूर्ण कोटरों की विद्यमानता विशिष्ट होती है। ऐसे कोटर जंभिका, ऍथमाइड अग्र, फानरूप और शंख अस्थियों में स्थित होते हैं। वायु विवरों के अतिरिक्त जो नासा ग्रसनी के साथ सम्बंधित होते हैं, शेष सभी कोटर नासा कोटर के साथ सम्बंधित होते हैं।

कपाल अस्थियां

अग्र अस्थि एक शल्क, दो नेत्रकोटरीय भाग तथा एक नासा कोटरीय भाग से बनती है (चित्र 42) । शल्क पर युग्मित उठाव होते हैं जिन्हें अग्र अस्थिप्रोत्थ तथा अधिनेत्रगुहा कटक कहते हैं। अग्र रूप से प्रत्येक नेत्रगुहा भाग अधिनेत्रगुहा सीमा
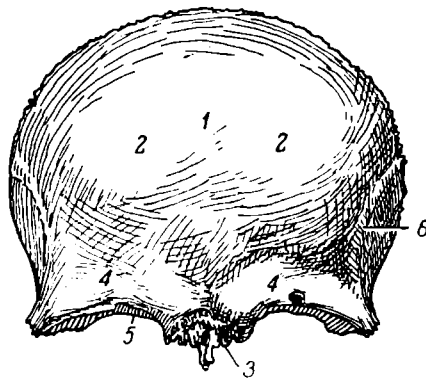
चित्र 42. अग्र अस्थि (वाह्य समतल)
1 – शल्क ; 2 – अग्र अस्थिप्रोत्थ ; 3 – नासा भाग ; 4 – अध्यक्षि कटक ; 5 – अध्यक्षि तट ; 6 – शंख रेखा।

पर आकर समाप्त होता है। अग्र अस्थि के अन्दर एक वायु विवर (अग्र विवर) होता है जो एक अस्थि विभाग द्वारा दो अर्धों में बँट जाता है।

ऍथमाइड अस्थि एक अनुदैर्ध्य या चालनीरूप प्लेट, दो नेत्रकोटर प्लेटों तथा दो लैबिरिंथ से बनती है। प्रत्येक लैबिरिंथ छोटे वायु विवरों या वायु कोशिकाओं से बनता है जो महीन अस्थि प्लेटों से विभाजित होते हैं। दो वक्र अस्थि प्लेटें – निम्न और मध्यवर्ती नासा शंख – प्रत्येक लैबिरिंथ की आन्तरिक सतह से नीचे लटके रहते हैं। भित्तीय अस्थि एक युग्मित इस्थि है। इसकी आकृतिनचतुष्फलकीय प्लेट जैसी होती है (चित्र 47)। इसकी वाह्य सतह पर भित्तीय अस्थिप्रोत्थ नामक एक उठाव होता है।

अनुकपाल अस्थि एक शल्क, दो पार्श्व भागों, तथा एक आधारीय भाग से बनती है (चित्र 43)। ये भाग एक बड़े रंध्र – महारंध्र – को बाँधे होते हैं जिसके द्वारा कपाल गुहा मेरू-नाल के साथ सम्बंधित होती है। अनुकपाल अस्थि का पिंड फानरूपी अस्थि के साथ जुड़ा होता है जो इसकी ऊपरि सतह पर एक ढाल बनाता है। शल्क की बाहरी सतह एक वाह्य प्रोद्वर्ध होता है जिसे इनिअोन कहते हैं। महारंध्र के दोनों ओर एक अस्थिकंद होता है। इन अस्थिकंदों द्वारा अनुकपाल अस्थि ऐटलस के साथ जुड़ी होती है। प्रत्येक अस्थिकंद के आधार पर एक नाल होती है जिसमें अधोजिह्व तंत्रिका होती है।

फानरूपी अस्थि या **आधारीय अस्थि** एक पिंड, प्रवर्धों के तीन जोड़े: महा पक्ष, लघु पक्ष तथा त्यंगिका प्रवर्ध (चित्र 44) से बनती है। पिंड की ऊपरि सतह पर अधः स्फीतिका खात साहित तथाकथित पल्याणिका होती है। अधः स्फीतिका खात में अधः स्फीतिका स्थित होती है। प्रत्येक लघु पक्ष के आधार में चाक्षुष रंध्र होता है। पक्ष (महा तथा लघु) महा नेत्र कोटर विदर को बाँधे होते हैं। महा
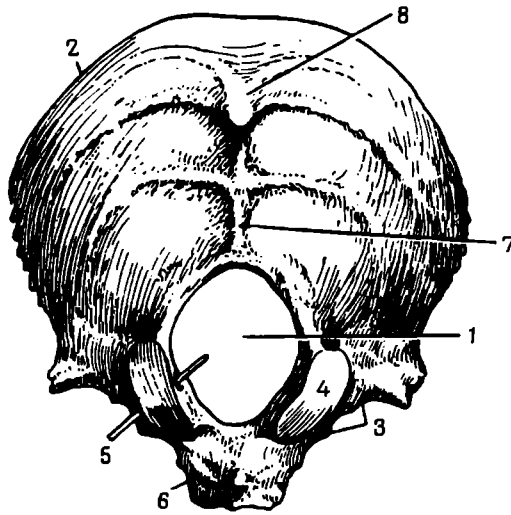
चित्र 43. अनुकपाल अस्थि (बाह्य समतल).

1 – महारंध्र ; 2 – शल्क ; 3 – पार्श्व भाग ; 4 – अस्थिकंद ; 5 – अधोजिह्व तंत्रिका की नलिका ; 6 – पिंड (आधारी भाग) ; 7 – बाह्य अनुकपाल कटक ; 8 – इनिअोन ।
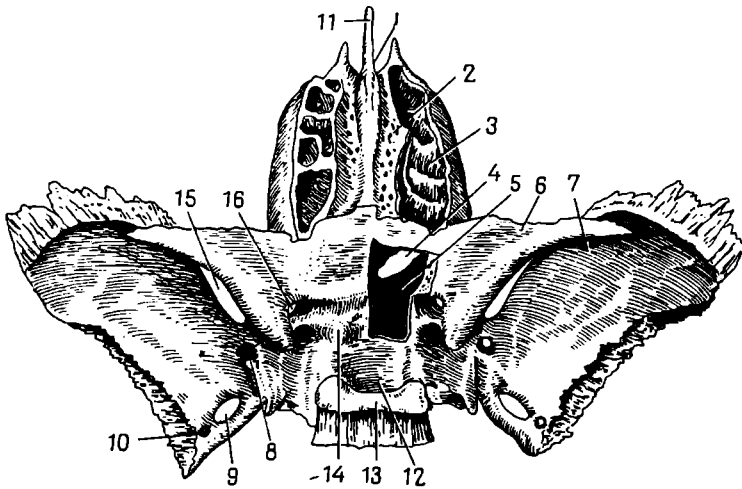
चित्र 44. जतुक (आधारी) तथा एथमॉइड अस्थियां

1 – क्रिस्टा गैल्ली ; 2 – एथमॉइड अस्थि का चालनीरूप पट्ट ; 3 – एथमॉइड अस्थि की भ्रमिका ; 4 – जतुक कोटर तक जाने वाला रंध्र ; 5 – जतुक कोटर ; 6 – लघु पक्ष ; 8 – महा पक्ष ; 8 – वर्तुल रंध्र ; 9 – अंडाकार रंध्र ; 10 – शूलमय रंध्र ; 11 – एथमॉइड अस्थि का लम्ब पट्ट ; 12 – एथमॉइड अस्थि की पल्याणिका ; 13 – पल्याणिका का पृष्ठ ; 14 – पल्याणिका की गुलिका ; 15 – महा कक्षीय विदर ।

पक्ष में तीन रंध्र होते हैं: गोलाकार, अण्डाकार तथा शूलमय। फानरूपी अस्थि के पिंड के अन्दर एक वायु विवर होता है जो एक अस्थि विभाग द्वारा दो भागों में विभाजित होता है।

शंखास्थि. एक युग्मित अस्थि है (चित्र 45)। इसके चार भाग होते हैं: शल्क, अश्माभ या पिरैमिडी भाग, कर्णमूल भाग एवं कर्णपटह भाग (चित्र 45)। इसमें श्रवण अंग, श्रवण-नली, ग्रीवा नाल तथा आनन तंत्रिका नाल स्थित होते हैं। अस्थि की बाहरी सतह पर बाह्य ध्वनिक कुहर होता है। इसके आगे चिबुकीय खात होती है जिसमें निचले जबड़े का संधि प्रवर्ध होता है। शल्क गंड प्रवर्ध को बनाता है जो गंड आर्क बनाने के लिये गंडास्थि के शंख प्रवर्ध के साथ संधि करता है। पिरैमिड की तीन सतहें होती हैं। इसकी पश्च सतह पर आन्तरिक ध्वनिक कुहर होता है जो आनन एवं ध्वनिक तंत्रिकाओं के लिये मार्ग बनाता है। आनन तंत्रिका स्टाइलोमैस्टॉइड रंध्र द्वारा शंखास्थि से बाहर आती है। दीर्घ वर्तिकाभ प्रवर्ध पिरैमिड की निम्न सतह से उठता है। पिरैमिड के अन्दर कर्णपटही कोटर तथा आन्तरिक कर्ण होते हैं। मैस्टॉइड भाग में एक उठाव होता है जिसे मैस्टाइड प्रवर्ध कहते हैं, जिसमें वायु विकार होते हैं। मैस्टॉइड प्रवर्ध की कोशिकाओं की शोथ अवस्था कर्णमूलता कहलाती है।

आनन अस्थियां

ऊपरी जबड़ा (या जंभिका) एक युग्मित अस्थि है (चित्र 46)। इसका एक पिंड तथा चार प्रवर्ध होते हैं: अग्र, गंड, तालव तथा कूपिका प्रवर्ध। ऊपरि जबड़े के पिंड की चार सतहें होती हैं, अग्र, पश्च या अवशंख, ऊर्ध्व या नेत्रकोटरीय, और मध्यवर्ती या नासा सतहें। अग्र सतह पर एक गड्ढा होता है जिसे रदनक कहते हैं, और पश्च सतह पर एक उठाव होता है जिसे जंभिका अस्थिप्रोत्थ कहते हैं। कूपिका प्रवर्ध में दंत मूलों के लिये आठ कोशिकाएँ होती हैं। जंभिका के पिंड में जंभिका विवर नामक वायु विवर होता है।

गंडास्थि (दे० चित्र 41) की आकृति अनियमित चतुष्कोण जैसी होती है। यह आनन के पार्श्व में एक उठाव उत्पन्न करती है तथा गंड आर्क का एक भाग बनाती है।

नासा अस्थि (दे० चित्र 41) अस्थि की एक आयताकार प्लेट है जो नासा पुल का एक भाग बनाती है।

अश्रु अस्थि (दे० चित्र 41) एक छोटी अस्थि है। इसका एक रंध्र व शिखर होता है और यह अश्रु थैली की खात तथा नासा-अश्रु नाल का भाग बनाती है।
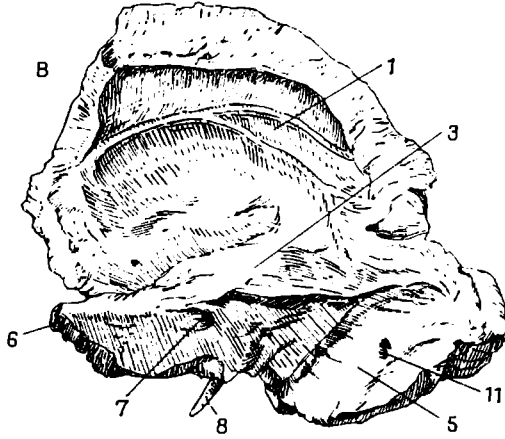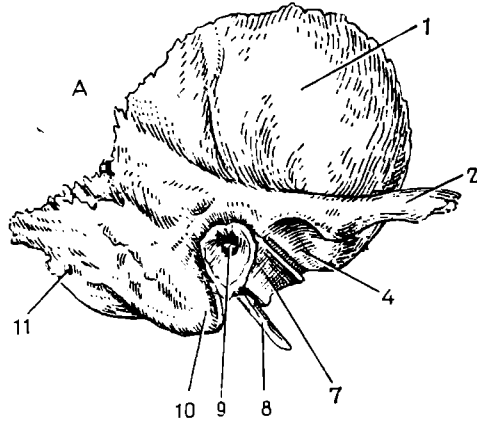
चित्र 45. शंख अस्थि (दक्षिण)

A – बाह्य समतल ; B – आन्तरिक समतल ; 1 – शल्क ; 2 – गंड प्रवर्ध ; 3 – पिरैमिड का अग्र समतल ; 4 – संधि खात ; 5 – अवग्रह सल्कस ; 6 – पिरैमिड का शिखर ; 1(A) – कर्णपटही भाग ; (B) – आन्तरिक ध्वानिक कुहर ; 8 – पर्तिकाभ प्रवर्ध ; 9 – बाह्य ध्वानिक कुहर ; 10 – कर्णमूल प्रवर्ध ; 11– कर्णमूल रंध्र ।

तालव अस्थि क्षैतिज तथा उर्ध्वाधर प्लेटों से बनती है और कठोर तालव का भाग तथा नासा कोटर की पार्श्व दीवार बनाती है।

निम्न शंख अस्थि की एक महीन वक्र प्लेट है जो नासा कोटर की पार्श्व दीवार पर स्थित होती है। आनन करोटि की सभी ऊपर की अस्थियाँ युग्मित होती है।

वोमर एक अनियमित चतुष्कोणीय प्लेट है; यह नासा सेप्टम का भाग बनाती है।
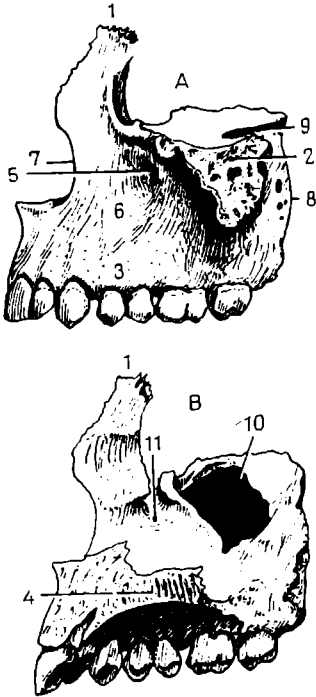
चित्र 46. जंभिका

A – वाम, वाह्य पक्ष; B – दक्षिण, आन्तरिक पक्ष; 1 – अग्र प्रवर्ध; 2 – गंड प्रवर्ध; 3 – कूपिकी प्रवर्ध; 4– तालव प्रवर्ध; 5 – अवकक्षीय रंध्र; 6 – रदनक खात; 7 – नासा खांच; 8– जंभिका अस्थिप्रोत्थ; 9 – अवकक्षीय सल्कस; 10 – जंभिका कोटर; 11– अश्रु खांच।
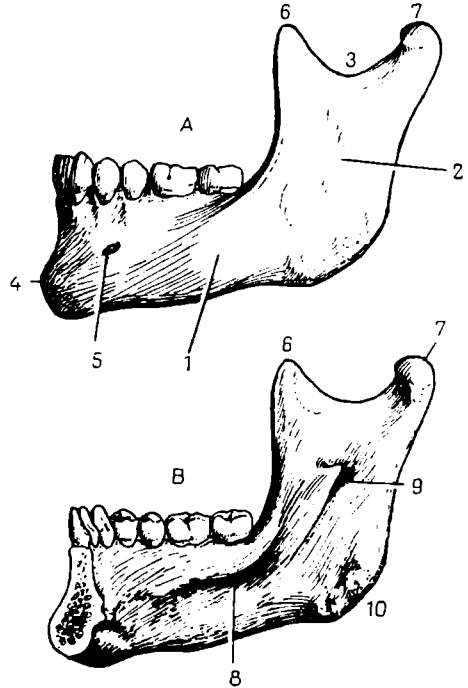
चित्र 47. चिबुकास्थि

A – वाम अर्ध, बाह्य पक्ष; B – दक्षिण अर्ध, आन्तरिक पक्ष; 1 – पिंड; 2– शाखा; 3 – खांच; 4 – चिबुक प्रोद्वर्ध; 5 – चिबुक रंध्र; 6 – चंचुभ प्रवर्ध; 7– संधि प्रवर्ध: 8 – चिबुककंठिका रेखा; 9 चिबुकास्थि रंध्र; 10 – चिबुकास्थि कोण।

चिबुकास्थि (निचला जबड़ा) U-आकृति की अस्थि है और यह एक पिंड तथा दो शाखाओं से बनती है (चित्र 47)। पिंड की ऊपरि सतह को कूपिका सतह कहते है क्योंकि इसमें दंत मूलों के लिये 16 कोशिकाएँ होती है। पिंड की बाहरी सतह पर दो मानसिक गुलिकाएँ तथा दो मानसिक रंध्र होते हैं ; एक मानसिक मेरू तथा एक चिबुककंठिका रेखा आन्तरिक सतह पर होती है। चिबुकास्थि की प्रत्येक शाखा पिंड पर अधिक कोण बनाते हुये उठती है तथा ऊपर दो प्रवर्धों बनाकर समाप्त होती है – चंचुभ तथा अस्थिकंद प्रवर्ध जो एक गाँठ द्वारा परस्पर पृथक होते हैं। प्रत्येक शाखा की आन्तरिक सतह पर चिबुकास्थि रंध्र होता है जो इसी नाम वाली नाल तक जाता है। निचला जबड़ा करोटि में केवल एक ही गतिशील अस्थि है।
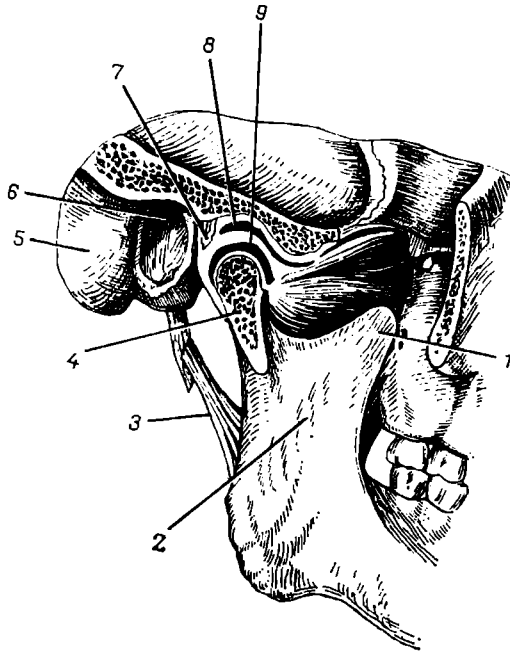
चित्र 48. दक्षिण चिबुकास्थि संधि (भाग).
1 – चंचुभ प्रवर्ध ; 2 – चिबुकास्थि की शाखा ; 3 – स्टाईलोमैंडिबुलट स्नायु ; 4 – संधि प्रवर्ध ; 5 – कर्णमूल प्रवर्ध ; 6 – बाह्य ध्वानिक कुहर ; 7 – संधि कैप्स्यूल ; 8 संधि खात ; 9 – डिस्क।

कंठिकास्थि की आकृति "U" जैसी होती है। यह एक पिंड तथा शृंगवर्ध (महा तथा निम्न) के दो युगलों से बनती है। यह निचले जबड़े तथा कंठ के बीच स्थित होता है तथा इसकी ग्रीवा पर अनेक पेशियाँ स्थित है।

6 08385

करोटि की अस्थियों की संधियां

चिबुकास्थि के अतिरिक्त सभी करोटि अस्थियाँ सीवन की मदद से संधि करती हैं। आकृति के आधार पर सीवन दन्ती, शल्कसम तथा चपटे होते हैं। अग्र और पार्श्वक अस्थियों के बीच संधि दन्ती सीवन का उदाहरण हैं, तथा शंख तथा पार्श्वक अस्थियों के बीच संधि शल्कसम सीवन है; और आनन करोटि की अस्थियों के बीच सीवन चपटा होता है। करोटि के अत्यधिक महत्वपूर्ण सीवन निम्न हैं: अग्र तथा पार्श्वक अस्थियों के बीच सीवन किरीट सीवन कहलाता है; तथा दो पार्श्वक अस्थियों के बीच सीवन को सममितार्धी सीवन कहते हैं और पार्श्वक तथा अनुकपाल अस्थियों के बीच सीवन लैम्डॉइडी सीवन कहलाता है। अधिक आयु वाले लोगों में सीवन का प्राय: अस्थि भवन हो जाता है।

चिबुकास्थि अथवा शंखचिबुकास्थि संधि (चित्र 48)। चिबुकास्थि शंख अस्थियों के साथ युग्मित शंख-चिबुकास्थि या चिबुकास्थि संधि द्वारा जुड़ती हैं। इस संधि में एक अन्तरासंधि उपास्थि या डिस्क होती है तथा युग्मित संधि की स्नायु दृढ़ कर देते हैं। इस संधि में निम्न गतियाँ सम्भव हैं: ऊपर उठना तथा नीचे गिरना, आगे, पीछे तथा पार्श्व में हटना। ये सभी गतियाँ चर्वण के समय स्थान लेती है। चिबु-कास्थि बोलने के समय ऊपर उठता व नीचे गिरता है।

संपूर्ण करोटि

करोटि प्रमस्तिष्क तथा आनन भागों में विभाजित होती है। प्रमस्तिष्क करोटि का ऊपरि भाग गुम्बर कहलाता है तथा निचला भाग आधार कहलाता है। प्रमस्तिष्क करोटि के आधार का अग्र भाग नीचे की और से आनन करोटि की अस्थियों द्वारा ढ़का हुआ होता है। करोटि का गुम्बद अग्रास्थि, पार्श्वक अस्थियों तथा अनुकपाल अस्थियों के शल्क के ऊपरि भाग से बनता है। गुम्बद की अस्थियाँ चपटी होती हैं। ये एक सघन पदार्थ की बाहरी व आन्तरिक प्लेटों से बनती हैं जिनके बीच एक स्पंजी पदार्थ होता है।

करोटि का आधार अग्र, अनुकपाल, फानरूपी तथा शंख अस्थियो से बनता है। करोटि के आधार में बाहरी तथा आन्तरिक सतहें होती हैं।

करोटि के आधार की बाह्य सतह (चित्र 49) पर महा रंध्र अनुकपाल अस्थि के अस्थिकंद, अधोजिह्व तंत्रिका की नाल, युज्ञ रंध्र, शूकाभ प्रवर्ध, ग्रीवा नाल का रंध्र, स्टाइलोमैस्टाइड रंध्र, फानरूपी अस्थि का व्यंगिका प्रवर्ध तथा अन्य संरचनाएँ होती हैं। करोटि के आधार की आन्तरिक सतह (चित्र 50) तीन कपाल खात-अग्र मध्यवर्ती तथा पश्च खातों में–विभाजित होती है। इसके निम्न भाग तथा रंध्र होते हैं: एँथमाइड अस्थि की चालनीरूप प्लेट, चाक्षुष रंध्र, महा चाक्षुष
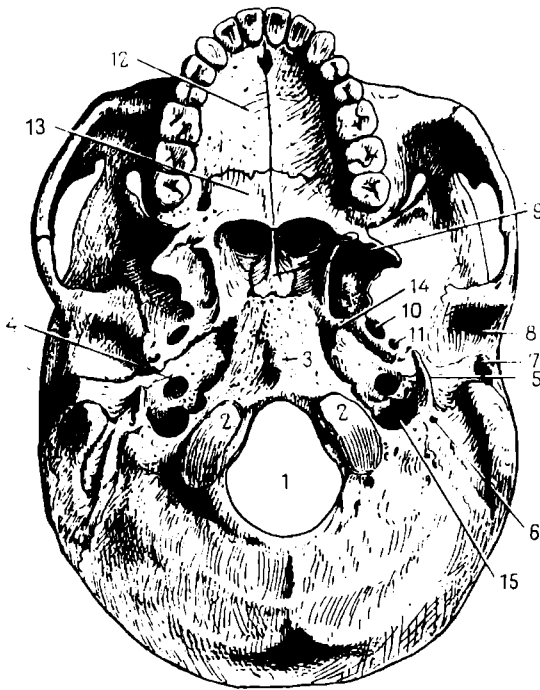
चित्र 49. करोटि के आधात का बाह्य समतल.
1 महा रंध्र ; 2–अनुकपाल अस्थिकंद ; 3–ग्रसनी गुलिका ; 4–ग्रीवा नलिका का बाह्य रंध्र 5–वर्तिकाभ प्रवर्ध ; 6–स्टाइलोमैस्टोइड रंध्र ; 7–बाह्य ध्वानिक कुहर ; 8–संधि कैप्स्यूल ; 9–सीरिका ; 10–अंडाकार रंध्र ; 11–स्पाइनोसम 12 –जंभिका का तालाव प्रवर्ध ; 13–तालाव अस्थि का क्षैतिज पट्ट ; 14–दीर्ण रंध्र ; 15–युग्न रंध्र।

विदर, पल्याणिका, गोलाकार रंध्र, अंडाकार रंध्र तथा शूलमय रंध्र मध्यकृत रंध्र, शखास्थि का पिरैमिड, आन्तरिक ध्वनिक कुहर और अन्य संरचनाएँ।

प्रमस्तिष्क करोटि की अस्थियों की आन्तरिक सतह में छिद्र होते हैं जिनमें डूरा के शिरीय कोटर, तथा मस्तिष्क के जाइरस और सल्कस के लिये अवकाश एवं दं दंदुरता होते हैं।

कुछ करोटि अस्थियों में (पार्श्वक अस्थियाँ, शंखस्थि का मैस्टाइड भाग, इत्यादि) छिद्र होते हैं जो उत्सर्जी शिरों के लिये मार्ग बनाते हैं जिनमें से डूरा के शिरीय कोटर और करोटि अस्थियों के शिरे शिरोवल्क के अवत्वक शिरों के साथ संबन्ध बनाते हैं।
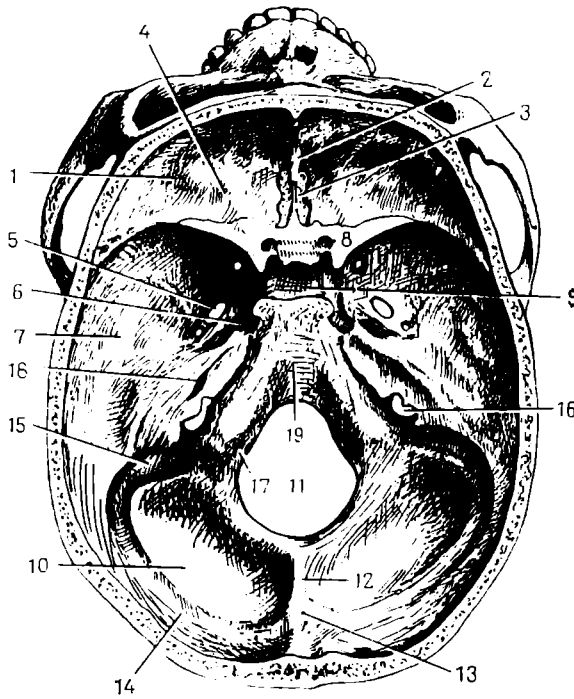
चित्र 50. करोटि के आधार का आन्तरिक समतल

1 – अग्र कपाल खात ; 2 – क्रिस्टा गैलली ; 3 – एथमॉइड अस्थि का चालनीरूप पट्ट ; 4 – अग्र अस्थि का कक्षीय भाग ; 5 – अंडाकार रंध्र ; 6 – दीर्ण रंध्र ; 7 – मध्य कपाल खात ; 8 – लघु पक्ष ; 9 – पल्याणिका ; 10 – पश्च कपाल खात ; 11 – महा रंध्र ; 12 – आन्तरिक अनुकपाल कटक ; 13 – आन्तरिक अनुकपाल प्रोद्वर्ध ; 14 – अनुप्रस्थ सल्कस ; 15 – अवग्रहरूपी सल्कस ; 16 – युज्ञ रंध्र ; 17 – अधोजि तंत्रिका की नलिका ; 18 – आन्तरिक ध्वानिक कुहर ; 19 – ढाल।

करोटि के पार्श्व में शंख, अवशंख तथा त्र्यंगिका-तालव खात होती हैं। शंख तथा अवशंख खात में पेशियाँ होती हैं। त्र्यंगिका-तालव खात अवशंख खात में विस्तरित होते हैं। यह कपाल कोटर के साथ गोलाकार रंध्र द्वारा, नासा कोटर के साथ जतुक-तालव द्वारा, नेत्रकोटर के साथ निम्न चाक्षुष विदर द्वारा, और मुख कोटर के साथ त्र्यंगिका-तालव नाल द्वारा सम्बन्ध बनाती है।

आनन करोटि की अस्थियाँ मुख कोटर, नासा कोटर तथा नेत्रकोटर का अस्थि-पंजर बनाती हैं।

मुख कोटर में ऊपरि तथा अग्र-पार्श्व अस्थि दीवारें होती हैं। ऊपरि दीवार कठोर

तालव है जो जंभिका के तालव प्रवर्धों और तालव अस्थियों की क्षैतिज प्लेटों से बनता है। कोटर की अग्र-पार्श्व दीवारें जबड़ों के कूपिका प्रवर्धों और दंत द्वारा बनती हैं।

नासा कोटर में निम्न ऊपरि तथा दो दो पार्श्वक दीवारें और एक सेप्टम होता है। निम्न दीवार ही कठोर तालव है। नासा कोटर का ऊपरि भाग अग्र अस्थि के नासा भाग और ऍथमाइड अस्थि की क्षैतिज प्लेट से बँधा हुआ होता है। पार्श्वक दीवार ऊपरि जबड़े, तालव अस्थि की उर्ध्वाधर प्लेट तथा एँथमाइड अस्थि की लैबिरिंथ से बनती है। सेप्टम वोमर और ऐथमाइड अस्थि की लम्बनुमा प्लेट से बनता है और नासा कोटर को दक्षिण एवं वाम अर्धों में विभाजित करता है। नासा कोटर की पार्श्वक दीवार तीन वक्र अस्थि प्लेटें बनाती है जिन्हें ऊपरि, मध्यवर्ती तथा निम्न शंख कहते हैं जो नासा कोटर के प्रत्येक अर्ध को तीन नासा मार्गों में विभाजित करती हैं—ऊपरि, मध्यवर्ती तथा निम्न नासा मार्ग। करोटि में नासा कोटर में एक अग्र तथा दो पश्च रंध्र होते हैं। अग्र रंध्र को नाखरूप रंध्र कहते हैं। पश्च रंध्र कीपाभ रंध्र कहलाते हैं। इनके द्वारा नासा कोटर नासाग्रसनी के साथ सम्बन्ध रखती हैं। मैस्टाइड प्रवर्ध की वायु कोशिकाओं के अतिरिक्त सभी वायु विवर नासा कोटर में खुलते हैं।

नेत्र कोटर की चार दीवारें होती हैं: ऊपरि, निम्न, बाह्य तथा आन्तरिक। ऊपरि दीवार अग्र अस्थि के नेत्रकोटरीय भाग द्वारा बनती है, तथा निम्न दीवार जंभिका के नेत्रकोटरीय सतह द्वारा बनती है। बाह्य दीवार गंडास्थि तथा जतुक अस्थि के महा पंख द्वारा बनती है, और आन्तरिक दीवार अश्रु अस्थि और एथमाइड अस्थि की नेत्रकोटरीय प्लेट से बनती है। चाक्षुष रंध्र तथा महा नेत्रकोटरीय विदर नेत्र कोटर से कपाल कोटर में आते हैं, निम्न नेत्रकोटरीय विदर त्र्यंगिका-तालव खात में आता है; नासाश्रु नाल नासा कोटर में आती है।

नेत्रकोटर में नेत्रगोलक तथा अश्रु ग्रन्थि होती है। नेत्रगोलक का पश्च भाग केशिकीय ऊतक से घिरा हुआ होता है जो तंत्रिकाओं एवं रुधिर वाहिकाओं के लिये मार्ग बनाता है तथा नेत्रपेशियों को स्थान देता है।

करोटि की आयु विशेषता

करोटि के गुम्बद की अस्थियाँ एवं निम्न शंख के सिवा आनन करोटि की सभी अस्थियाँ विकास के दो स्तरों से गुज़रती हैं: झिल्लीमय और अस्थिमय। अन्य करोटि अस्थियाँ विकास के तीन स्तरों से गुजरती हैं: झिल्लीमय, उपास्थिमय तथा अस्थिमय। नवजात शिशु की करोटि के गुम्बद में झिल्लीमय करोटि के अनअस्थिभवनित अवशेष होते हैं जिन्हें कलांतराल कहते हैं।

कुल छः कलांतराल होते हैं: अग्र, पश्च, पार्श्व तथा दो पश्च पार्श्वक। सबसे बड़ा कलांतराल अग्र कलांतराल होता है, इसके बाद पश्च कलांतराल आता है। अग्र कलांतराल अग्र, सममितार्धी तथा करोटी सीवन के संधि के स्थान पर स्थित होता है तथा इसकी आकृति समचतुर्भुजीय होती है। कलांतराल का अस्थिभवन 18 मास की आयु पर होता है। पश्च कलांतराल लैम्डॉइडी तथा सममितार्धी सीवन की संधि के स्थान पर स्थित होता है। यह अग्र कलांतराल की तुलना में काफ़ी छोटा होता है तथा इसकी अस्थिभवन की आयु 2 मास होती है। अन्य कलांतरालों का अस्थिभवन जन्म के एकदम बाद ही हो जाता है। कुछ रोगों जैसें रिकेट्स, के कारण कलांतरालों का अस्थिभवन बाद में होता है।

प्रमस्तिष्क करोटि की तुलना में नवजात शिशु की आनन करोटि वयस्क की अपेक्षा कम विकसित होती है। करोटि अस्थियों के वायु विवर अविकसित होते हैं।
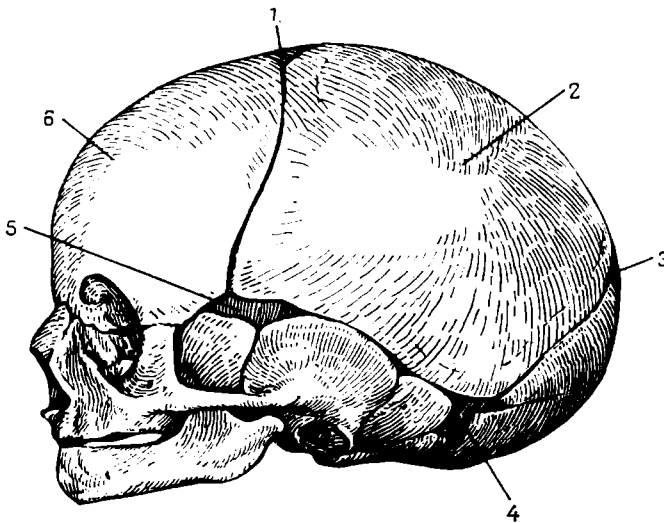
चित्र 51. नवजात शिशु की करोटि

1 – अग्र कलांतराल ; 2 – भित्तिक अस्थिप्रोत्थ ; 3 – पश्च कलांतराल ; 4 – पश्च पार्श्व कलांतराल ; 5 – अग्र पार्श्व कलांतराल ; 6 – अग्र अस्थिप्रोत्थ।

दंत भी नहीं होते। वृद्ध लोगों में सीवन का अस्थिभवन हो जाता है तथा करोटि अस्थियों के स्पंजी पदार्थ की परतें कम हो जाती हैं।

दंत के बाहर निकलने पर कुपिका प्रवर्धों की कोशिकाएँ क्षीण हो जाती हैं।

पुरूष की करोटि की तुलना में स्त्री की करोटि छोटी होती है तथा उसकी, अस्थिप्रोत्थ और उठाव कम प्रत्यक्ष होते हैं।

अध्याय 3

पेशी तंत्र

पेशियों का शरीरक्रिया विज्ञान

कुछ सामान्य बातें

पेशियाँ प्रेरक उपकरण का सक्रिय भाग हैं। इनके संकुचन के फलस्वरूप विभिन्न गतिविधियाँ होती हैं। कार्य के आधार पर सभी पेशियों को दो ग्रुपों में बाँटा गया है: ऐच्छिक तथा अनैच्छिक पेशियां।

ऐच्छिक पेशियां रेखित पेशी ऊतक से बनी होती हैं तथा मनुष्य के इच्छानुसार संकुचित हो जाती हैं। इस ग्रुप में सिर, कांड तथा अंगाग्रों की सभी पेशियाँ, अर्थात् अस्थि पंजर की एवं कुछ आन्तरिक अंगों (जैसे जिह्वा, कंठ आदि) की पेशियाँ आती हैं।

अनैच्छिक पेशियां चिकनी (अरेखित) पेशी ऊतक से बनी होती हैं तथा आन्तरिक अंगों, रूधिर वाहिकाओं तथा त्वचा की दीवारों में पायी जाती हैं। इन पेशियों का संकुचन मनुष्य की इच्छा द्वारा नियंत्रित नहीं होता है।

स्मरण रहे कि हृद् पेशी, हालांकि इसका संकुचन इच्छा द्वारा अनियंत्रित है, विशेष संरचना वाले रेखित पेशी ऊतक से ही बनी होती है (पृ० 234)।

मानव जीव में 400 से अधिक अस्थि-पंजर पेशियाँ विद्यमान हैं तथा ये व्यस्कों में संपूर्ण शरीर के भार का लगभग 2/5 वाँ भाग बनाती हैं।

अस्थि-पंजर पेशियों की संरचना जटिल होती है। ये भिन्न-भिन्न (12 से.मी तक की) लम्बाई वाले पेशी तंतुओं से बनी होती हैं तथा ये तंतु सामान्यतः परस्पर समानांतर होते हैं और बंडल में होते हैं। प्रत्येक पेशी ऐसे अनेक बंडलों से बनती है। विभिन्न पेशी बंडल तथा अपने आप में पूर्ण पेशियां महीन संयोजक ऊत्तक से आच्छादित होती हैं। उसके अतिरिक्त, पेशियों के समूह या पृथक पेशियां संयोजी ऊतक की सघन पट्टियों द्वारा जुड़ी होती है जिसे संपट्ट कहते हैं। पेशियों के सिरों पर कण्डरा स्थित होती हैं जिनके द्वारा पेशियां अस्थियों के साथ जुड़ती हैं।

कण्डरा सघन तंतु वाले संयोजी ऊतक से बने होती हैं तथा संकुचनशील नहीं होती हैं। तंतु या झिल्लीदार पट्टी से बनी हुई आवर्धित कण्डरा कण्डराकला कहलाती है।

पेशी-तंतु एवं संयोजी ऊतक के अतिरिक्त प्रत्येक पंजरी पेशी में रूधिर वाहिकाएँ

ग्रौर तंत्रिकाएँ होती हैं। रूधिर रूधिर वाहिकाग्रों में प्रवाह करते हुए पेशियों को पोषक पदार्थ देता है तथा उनके ग्रपशिष्ट उत्पादों को बाहर ले ग्राता है। तंत्रिकाएँ पेशियों का सम्बन्ध केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के साथ बनाती है। पेशियों में प्रेरक एवं संवेदी तंत्रिका तंतु होते हैं। पेशी की ग्रवस्था के बारे में ग्रावेग (संकेत) संवेदी तंतुग्रों द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचा दिए जाते हैं। संवेदनशीलता के इस रूप को पेशी संवेद कहते हैं। पेशी को संकुचित करने वाले तंत्रिका-ग्रावेग मस्तिष्क से प्रेरक तंतुग्रों द्वारा भेजे जाते हैं। पेशियों का तंत्रिकायन करने वाली तंत्रिकाग्रों को चोट लगने पर एच्छिक गतिविधियों में विक्षोभ (पेशी पक्षाघात) उत्पन्न हो जाती है।

ग्राकार ग्रौर ग्राकृति के ग्रनुसार पेशी को लंबी, छोटी या चौड़ी पेशी कहा जाता है। लंबी पेशियां मुख्यतः ग्रंगाग्रों में पायी जाती हैं ग्रौर उनकी संरचना भिन्न-भिन्न होती है (चित्र 52)। चौड़ी पेशियां धड़ में होती हैं ग्रौर छोटी पेशियां पसलियों ग्रौर मेरूदंड के बीच होती हैं।
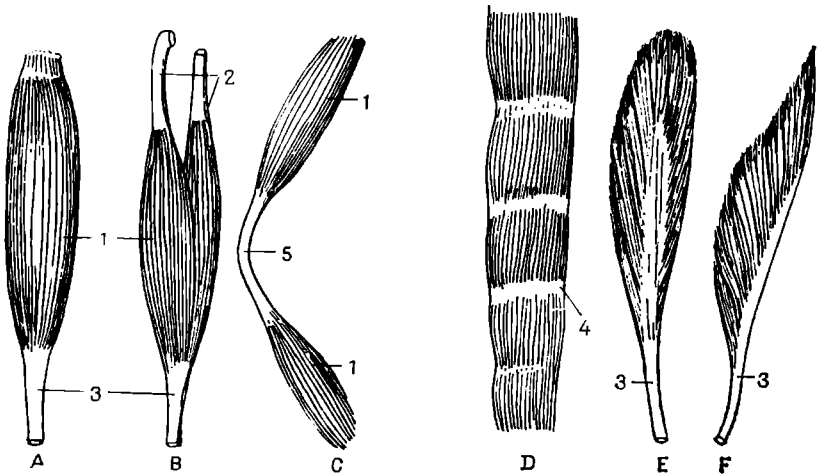
चित्र 52. पेशियों के स्वरूप

A–तर्कुरूपी; B–द्विशिरस्की; C–द्विस्थूली; D–कडरीय क्रॉस बैंड वाले पेशी; E–द्विग्रचक्रिक; F–ग्रचक्रिक; 1–पेशी का तुंद; 2–तथा 3–पेशियों के कण्डरा; 4–कंडरीय क्रॉस बैंड; 5–मध्यवर्ती कण्डरा।

लगभग सभी पेशियाँ एक, दो या ग्रधिक संधियों के ऊपर फैली हुई होती हैं, ग्रौर संकुचित होने पर संधियों में गति उत्पन्न करती हैं। सर्वाधिक सामान्य गतियाँ निम्न हैं: ग्रानमन् (मोड़) वर्धन, ग्रपवर्तन, ग्रभिवर्तन तथा घूर्णन ग्रानमन करने वाली पेशियाँ प्रायः संधि के ग्रागे स्थित होती हैं, जबकि वर्धन करने वाली पेशियाँ

संधि के पीछे स्थित होती हैं। केवल जानु संधि एवं गुल्फ संधि में अग्र पेशियाँ वर्धन करती हैं और पश्च पेशियाँ आनमन करती हैं। संधियों के पार्श्व भागों में स्थित पेशियाँ अपवर्तन करती हैं, तो संधियों के मध्यवर्ती भाग में स्थित पेशियाँ अभिवर्तन कार्य पूरा करती हैं। उर्ध्वाधर अक्ष के प्रति अनुप्रस्थ स्थित पेशियाँ आवर्तन का कार्य करती हैं।

पेशियों के शारीर अध्ययन में पेशियों का **उद्गम** एवं **निवेशन** पारिभाषिक शब्दों को प्रयुक्त किया जाता है। इनमें से प्रथम शब्द पेशी के उस शिरे को व्यक्त करता है जो संकुचन के दौरान अचर रहता है; तथा दूसरा पारिभाषिक शब्द पेशी के चल शिरे का सूचक है। जब शरीर या इसके विभिन्न भागों की स्थिति में परिवर्तन होता है अधिकांश पेशियों में इन बिंदुओं के स्थान भी बदल जाते है, अर्थात् अचर बिन्दु चल बन जाते हैं और चल बिन्दु अचर में परिवर्तित हो जाते हैं। पेशियों के कार्य को समझाने के लिए अन्तिम को सामान्य रूप से **अविरोधी** और **विरोधी** में बाँट दिया गया है। अविरोधी वे संकुचनशील पेशियाँ हैं जो किसी भाग को गतिमय करती हैं। विरोधी वे पेशियाँ हैं जो उनका विरोध करने में संलग्न हैं। उदाहरणतया, अनेक पेशियाँ कांड (धड़) का आनमन करने में भाग लेती हैं–ये सभी पेशियाँ अविरोधी हैं। अन्य पेशियाँ कांड का वर्धन करती हैं; ये पेशियाँ आकोचनी पेशियों की विरोधी हैं। पेशियों के अनेक ग्रुपों का कार्य समन्यवी रूप से होता है। उदाहरणतया, जब आकोचनी पेशियाँ संकुचित होती हैं तब प्रसारिणी विश्रांत हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप मानव शरीर के विभिन्न भागों की गति का कार्य सहजता से हो जाता है। अधिकतर गतियों (चलना, दौड़ना आदि) में अनेक पेशियाँ भाग लेती हैं। विभिन्न ग्रुपों का संकुचन एवं विश्रांति निश्चित क्रम और निश्चित बल के साथ होती है। यह गतियों के समन्यवी रूप को सिद्ध करता है जो तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित होता है। कुछ रोग गति-समन्वय में विक्षोभ के कारण होते हैं। ऐसी स्थितियों में गतियों का सहज़ रूप बिगड़ जाता है तथा गतियाँ असमान रूप से और झटके से घटती हैं। जब दो या अधिक पेशियाँ परस्पर सहयोग करके ऐसी गति करती है जिसे अकेली पेशी नहीं कर सकती, तो इन पेशियों को सहकर्मी कहते हैं तथा इस इकट्ठी सहयोगी क्रिया को सहकर्म कहते हैं।

संपट्ट संयोजी ऊतकों का सघन गुच्छ होता है जो पेशी या पेशियों के ग्रुप को बाँधता है। शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में संपट्ट की मोटाई भिन्न-भिन्न होती है। प्राय: इनका नाम इनके स्थित होने के स्थान के अनुसार होता है (कंधे का संपट्ट, अग्रबाहु का संपट्ट आदि)। एक क्षेत्र का संपट्ट दूसरे क्षेत्र के संपट्ट के साथ जुड़ा होता है। पेशियों के लिए संपट्ट द्वारा बनाये गये संयोजी ऊतकीय आवरण। पेशियों को अपने स्थान से इधर-उधर हिलने नहीं देते। प्रसिद्ध रूसी वैज्ञानिक न० पीरागोव ने मानव शरीर के संपट्ट के सिद्धाँत के अध्ययन में काफ़ी योग दिया।
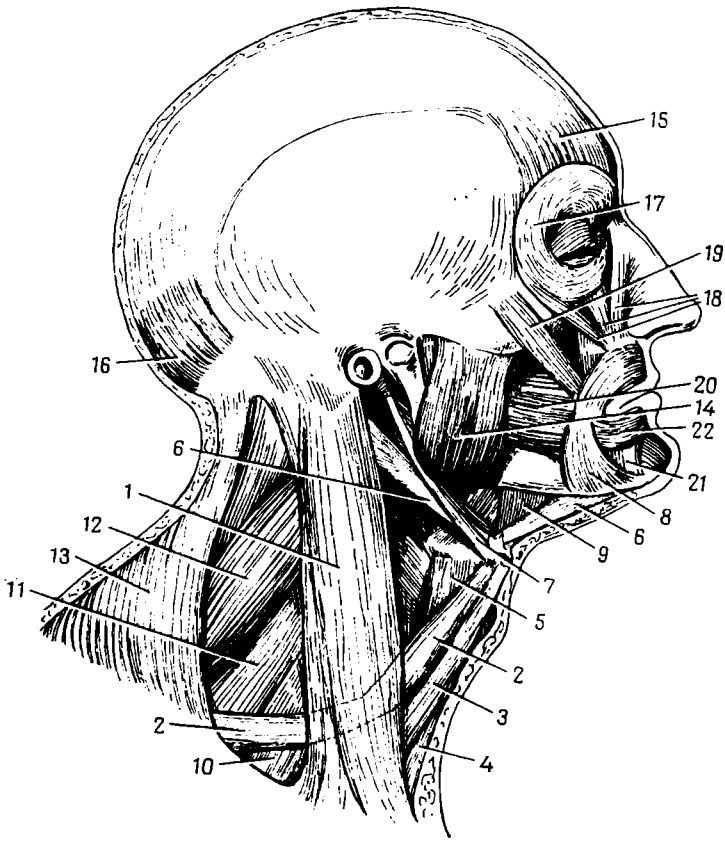
चित्र 53. शिर तथा ग्रीवा की पेशियां (पार्श्व पक्ष).

1 – उरोजत्रुककर्णमूलिका ; 2 – अंसकंठिका ; 3 – उरोस्थिकंठिका 4 – उरोस्थिअवटु ; 5 – अवटुकंठिका ; 6 – द्विउदरक ग्रीवा ; 7 – स्टाइलोकंठिका 8 – ट्राईऐंगुलारिस (Triangularis) 9 – जीनिओहाइऑइड ; 10 – अग्र स्केलिनस ; 11 – मध्य स्केलिनस ; 12 – उन्नयनी अंसफलक ; 13 – समलंबिका ; 14 – चर्वणी ; 15 – ललाटिका ; 16 – अनुकपाली ; 17 – नेत्र मण्डलिका ; 18 – क्वाड्रेटस लेबी सुपिरिओरिस (Quadratus labii superioris) 19 – गंड ; 20 – कपोलिका ; 21 – क्वाड्रेटस लेबी इन्फिरीओरिस (Quadratus labii iuferioris) 22 – आर्बिकुलारिस ओरिस (orbicularis oris)।

सिर की पेशियां एवं संपट्ट

सिर की अधिकांश पेशियाँ चेहरे के क्षेत्र में स्थित होती हैं।

शिरोवल्क के नीचे, करोटि का गुंबज़ एक विस्तृत कण्डरा द्वारा घिरा होता है जिसे गैली अपेन्यूरोटिका कहते हैं, जो शिरोवल्क के साथ एकदम चिपकी हुई होती है लेकिन पर्यास्थि के साथ हल्के-से जुड़ी हुई होती है। यह अग्रकपाल की पेशी का प्रारम्भ और पश्चकपाल पेशी का मध्य है। इन पेशियों के संकुचन के फलस्वरूप गैली अपोन्यूरोटिका (शिरोवल्क) के साथ आगे और पीछे गति करती है। चेहरे की पेशियाँ दो ग्रुपों में बांटी गई है: मुद्रा पेशियाँ (चेहरे के भाव की पेशियाँ) तथा चर्वण पेशियाँ।

मुद्रा पेशियों या चेहरे के भाव की पेशियों (चित्र 53) का उद्‌गम करोटि में तथा त्वचा में स्थित उनके निवेशन में होता है। इन पेशियों के संकुचन के फलस्वरूप चेहरे के भाव में परिवर्तन हो जाता है। सबसे बड़ी मुद्रा पेशियाँ निम्न हैं: ललाटिका, नेत्र-मंडलीय, मुख-मंडलीय, कपोलिका, निम्न ओष्ठीय चतुरस्त्रा, उच्च ओष्ठीय चतुरस्त्रा।

ललाटिका पेशी त्वचा के नीचे और अग्रललाट के क्षेत्र में स्थित होती है तथा गैली अपोन्यूरोटिका से भवों की त्वचा तक विस्तृत होती हैं। यह पेशी भवों को ऊपर उठाती है तथा अग्रललाट की त्वचा में अनुप्रस्थ रेखाएँ बनाती है।

नेत्र-मंडलीय पेशी नेत्रच्छद दरार के चारों ओर स्थित होती है तथा इसका संकुचन नेत्र को बंद कर देता है।

मुख-मंडलीय पेशी मुख के चारों ओर स्थित होती है जो इसके संकुचित होने पर बंद हो जाता है।

कपोलिका पेशी कपोल में स्थित होती है। इसके संकुचन के फलस्वरूप कपोल दंत के साथ चिपक जाते हैं। कपोलिका पेशी पर वसा-ऊतक होता है जो कपोल को गोल करता है।

उस पेशी, जिसके संकुचन के फलस्वरूप ऊपरी ओष्ठ उठता है, का उद्‌गम जंभिका और कपोलस्थि होता है तथा वह नासौष्ठ मोड़ के क्षेत्र में ऊपरि ओष्ठ की त्वचा में घुसी होती है।

उस पेशी का उद्‌गम, जो संकुचित होने पर निचले ओष्ठ को नीचे करती है, निचले हनु पर होता है तथा वह निचले ओष्ठ की त्वचा के नीचे होती है।

चेहरे के भाव व्यक्त करने वाली और भी कई छोटी पेशियाँ होती हैं: कपोलस्थिक (जो मुख के कोनों को ऊपर व बाहर की ओर खींचती है), त्रिकोणिक (जो मुख के कोनों को नीचे व बाहर की ओर खींचती है), भ्रू-संकोची पेशी

(भौंह को सिकोड़ती है), रिसोरियस (हंसी की पेशी), ग्रादि। चेहरे के भाव की पेशियाँ भली-भांति व्यक्त संपट्ट में बंधी हुई नहीं होती हैं।

चर्वण की पेशियों के दोनों छोर करोटि ग्रस्थियों के साथ बँधे होते हैं—इनमें से एक छोर निचले हनु के साथ ग्रवश्य ही बँधा होता है। इन पेशियों के संकुचन वाक् व चर्वण के समय निचले हनु की गतियों को नियंत्रित करते हैं। चर्वण पेशियों के चार युगल होते हैं: चर्वणिका पेशी, शंखपेशी, पार्श्विनी त्र्यंगिका पेशी ग्रौर मध्य-वर्ती त्र्यंगिका पेशी।

चर्वणिका पेशी (दे० चित्र 53) कपोलस्थिक मेहरान से निचले हनु के कोने के बाह्य समतल तक विस्तरित है तथा निचले हनु को ऊपर उठाता है (मुख को बंद कर देता है)। यह पेशी तथा इसके पीछे स्थित कर्णपूर्व ग्रन्थि सघन संपट्ट द्वारा ढ़की हुई होती है।

शंखपेशी सम्पूर्ण शंख खात को घेरे हुए होती है तथा नीचे की ग्रोर मध्य से गुज़रते हुए जाइगोमी ग्रार्क के ग्रन्दर विस्तरित रहती है तथा निचले हनु की चंचुभ प्रवर्ध में विविष्ट कर जाती है; यह निचले हनु को ऊपर उठाती है ग्रौर पश्च गुच्छे इसका ग्रांकुचन कर देते हैं। शंखपेशी का सघन संपट्ट होता है।

पार्श्विनी त्र्यंगिका पेशी ग्रवशंख खात में स्थित होती है। यह जतुकास्थि के त्र्यंगिका प्रवर्ध से चिबुकास्थि के संधि प्रवर्ध तक विस्तरित है ग्रौर चिबुकास्थि को विपरीत दिशा में विस्थापित करती है। जब यह पेशी दोनों ग्रोर से संकुचित होती है तो यह निचले हनु का बहिः सरण करती है।

मध्यवर्ती त्र्यंगिका पेशी जतुकास्थि के त्र्यंगिका प्रवर्ध से निचले हनु के कोने के मध्य समतल तक विस्तरित होता है ग्रौर निचले हनु को ऊपर उठाता है। ग्रतएव, चर्वण पेशियाँ निचले हनु को ऊपर उठाती है ग्रौर उसे ग्रागे, पीछे एवं बाजू में ले जाती हैं। निचला हनु ग्रीवा की पेशियों द्वारा, जो निचले हनु व कंठिकास्थि के बीच स्थित होता है, नीचे ग्राता है।

ग्रीवा की पेशियां तथा संपट्ट

ग्रीवा की पेशियों को (चित्र 53) चार ग्रुपों में बाँटा जा सकता है: (1) प्लैटीस्मा पेशिभ; (2) उरोजत्रुक कर्णमूलिका पेशी; (3) कंठिकास्थि के ऊपर ग्रौर नीचे स्थित पेशियाँ; (4) ग्रीवा में गहरी स्थित पेशियाँ

(1) **प्लैटीस्मा पेशिभ** पेशी का एक महीन, व विस्तृत पट्ट होता है, जो ग्रीवा के पार्श्व में त्वचा के नीचे स्थित होता है। संकुचित होने पर यह ग्रीवा की त्वचा को खींचता है तथा मुख के कोनों को नीचे कर देता है।

2. **उरोजत्रुक कर्णमूलिका** पेशी ग्रीवा की सर्वाधिक बड़ी पेशी है जो जत्रुक एवं

स्टर्नम से कर्णमूल प्रवर्ध तक विस्तरित है। यह पेशी शिर को बाजू में लाती है (और उसी समय चेहरे को विपरीत दिशा में धकेलती है)। जब दोनों ओर पेशियाँ संकुचित होती हैं तो सिर पीछे की ओर गिर जाता है।

3. **कंठास्थि के ऊपर स्थित ग्रीवा की पेशियां** चिबुकास्थि को नीचे करती हैं, यदि वह अचर होती है, और कंठास्थि एवं कंठ को ऊपर उठाती हैं। ये गतियाँ चबाने और निगलने के समय स्थान लेती हैं।

कंठास्थि के ऊपर चार पेशियाँ स्थित होती हैं: (1) द्वउदख ग्रीवा जो दो तुंदों से बनी होती है जो परस्पर मध्यवर्ती कण्डरा द्वारा जुड़े हुए होते हैं। अग्र तुंद चिबु-कास्थि के साथ सम्बंधित होता है और मध्यवर्ती कण्डरा कंठास्थि के साथ संबंधित होता है; पश्च तुंद कर्णमूल प्रवर्ध के साथ सम्बंधित होता है।

(2) चिबुककंठिका—यह चिबुकास्थि से कंठास्थि तक द्वितरित है और मुख कोटर की अधोःदीवार या डायाफ्राम बनाती है। (3)—जीविओहाइआइड—चिबु-कास्थि के चिबुकांग से कंठिकास्थि तक विस्तरित है। (4) **स्टाईलोहाइआइड** शंखास्थि के शूकाभ प्रवर्ध से कंठास्थि तक विस्तरित है। पेशियों का कार्य केवल कंठास्थि को ऊपर उठाना है।

ग्रीवा की निम्न पेशियाँ कंठास्थि के नीचे स्थित है: (1) उरोस्थिकंठिका—उरोस्थि से कंठिकास्थि तक विस्तरित है और कंठिकास्थि को नीचे लाती है; (2) स्टर्नोथाइरॉइड स्टर्नम से अवटु उपास्थि तक विस्तरित है; यह अवटु उपास्थि और कंठिका को नीचे लाती है। (3) थाइरोहाइऑइडअवटु उपास्थि से कंठिकास्थि तक विस्तरित होता है; यह अवटु उपास्थि को ऊपर उठाती है या कंठिकास्थि को नीचे लाती है। (4) अंसकंठिनी—स्केपुला की ऊपरि सीमा से कंठिकास्थि तक विस्तरित है और दो तुंदों एवं मध्यवर्ती कण्डरा से बनी हुई होती है; यह कंठिकास्थि को नीचे लाती है।

4. **ग्रीवा की गहरे स्थित पेशियों** में तीन स्केलीनस पेशियाँ (अग्र, मध्य तथा पश्च), बृहदंत्र दीर्घ पेशी और लांगस कैपिटीस आती हैं। स्केलीनस पेशियों का आरम्भ ग्रैव कशेरूक में होता है तथा निवेशन प्रथम (स्केलीनस अग्र एवं मध्य) तथा द्वितीय (स्केलीनस पश्च) पर्शुका में होता है। ये पेशियाँ पर्शुकाओं को ऊपर उठाती हैं। और इस प्रकार अंतःश्वसन क्रिया में भाग लेती हैं। अग्र और मध्य पेशियों के बीच में अवकाश होता है जिसे स्केलीनस अन्तराअवकाश कहते हैं और इसमें वाहिकाएँ और तंत्रिकाएँ होती हैं।

बृहदंत्र दीर्घ पेशी एवं लांगस कैपिटीस पेशी ग्रैव कशेरूक के अग्र भाग में स्थित होती हैं। संकुचित होने पर बृहदंत्र दीर्घ पेशी कशेरूक दंड के ग्रैव भाग को मोड़ देती है तथा लांगस कैपिटीस शिर को मोड़ती है। **ग्रीवा के संपट्ट.** ग्रीवा में तीन संपट्ट होते हैं: उपरिस्थ, मध्यस्थ तथा गंभीर। उपरिस्थ संपट्ट बहुत ही महीन होता है

और प्लैटीस्मा पेशिभ को आवृत करता है। मध्यस्थ संपट्ट उरोजत्रुक कर्णमूलिका, कंठिकास्थि के ऊपर व नीचे स्थित सभी पेशियों को आवृत करता है और अधोजंभ ग्रन्थि का कैप्स्यूल बनाता है एवं ग्रीवा के शिरों के साथ जुड़ा होता है। जब अंस-कंठिनी पेशी संकुचित होती है यह संपट्ट तन जाता है और शिरों का विस्फारण हो जाता है जिससे रूधिर को हृदय की ओर प्रवाह करने में मदद मिलती है।

ग्रीवा के गंभीर संपट्ट (अग्र ओर से) ग्रीवा की गंभीर पेशियों तथा मेरू दंड के ग्रैव भाग को आवृत करते हैं।

वक्ष की पेशियां एवं संपट्ट

वक्ष की पेशियों (प्लेट I) को दो ग्रुपों में विभाजित किया गया है:

(1) ऊपरिस्थ अग्रांग की अस्थियों पर स्थित पेशियाँ (वृहत् अंसपेशी, लघु अंसपेशी, अधोजत्रुक पेशी तथा अग्र ऋकचिनी);

(2) वक्ष की स्थानीय पेशियाँ (बाह्य एवं आन्तरिक अन्तरापर्शुका)। **बृहत अंसपेशी** अग्र वक्ष दीवार की सतह पर होती है। इसका उद्गम स्टर्नम तथा क्लेविकल पर होता है और इसका निवेशन प्रगंडिका के अन्तरागुलिका सल्कस पर स्थित होती है। यह बाहु का योगोत्पाद करती है तथा यदि बाहु अचर है तो पर्शुकाओं को ऊपर उठाती है। बाहु के ऊपर उठने पर यह बाहु को नीचे लाती है।

लघु अंसपेशी बृहत् अंसपेशी के नीचे स्थित होती है तथा द्वितीयपंचम पर्शुका से स्कैपुला के अंसतुंड प्रवर्ध तक विस्तरित रहती है। यह स्कैपुला को नीचे की ओर तथा आगे की ओर लाती है। यदि स्कैपुला अचर हो तो यह पर्शुका को ऊपर उठाती है।

अधोजत्रुक पेशी प्रथम पर्शुका से जत्रुक तक विस्तरित होती है और संकुचित होने पर यह जत्रुक को नीचे तथा बीच की ओर खींचती है।

अग्र ऋकचिनी पेशी वक्ष के पार्श्व समतल पर स्थित होती है और संकुचित होने पर जत्रुक को नीचे तथा बीच की ओर खींचती है। इसका उद्गम आरादंत के रूप में आठ ऊपरि पर्शुका पर होता है तथा निवेशन निम्न कोण पर स्कैपुला की कशेरूक सीमा पर होता है। पेशी स्कैपुला को आगे की ओर, बाहर की ओर खींचती है तथा चारों ओर घुमाती है (हाथ की उर्ध्वाधर स्थिति में अभिवर्तन हो सकता है)।

बाह्य तथा आन्तरिक अन्तराशिरीय पेशी शिरों के बीच अवकाश में स्थित होती हैं। बाह्य अंतराशिरीय पेशियाँ शिरों को ऊपर उठा देती है तथा इस प्रकार निश्वसन में भाग लेती हैं, जबकि आन्तरिक अन्तराशिरीय पेशियाँ शिरों को दबाती हैं और उच्छ्वसन में भाग लेती हैं।

वक्ष के संपट्ट अंसीय क्षेत्र में तीन संपट्ट हैं: पृष्ठीय, गंभीर और अन्तर्वक्षीय।
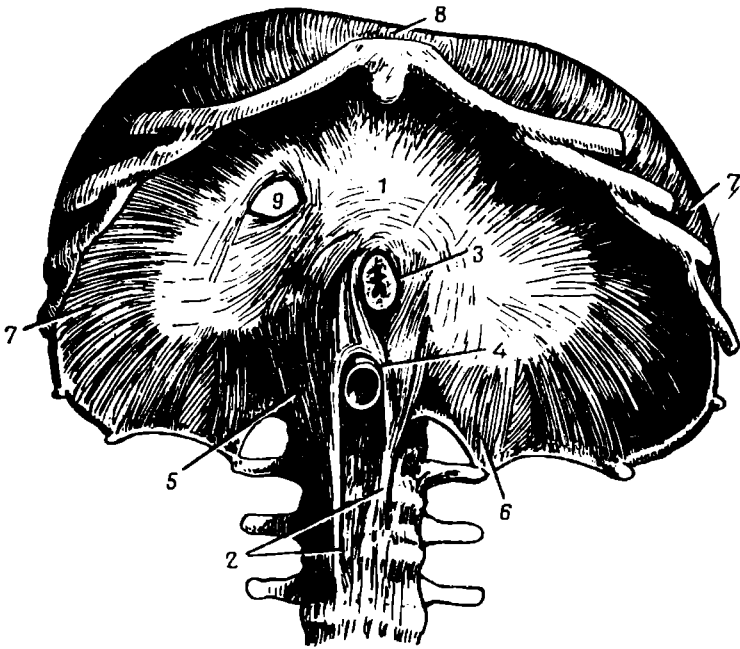
चित्र 54. मध्यपट (निम्न पक्ष).
1 – कण्डरीय केन्द्र; 2, 5 तथा 6 – कटि भाज के वृतंक; 3 – ग्रसिका का प्रवेश रंध्र; 4 – महाधमनी का रंध्र; 7 – पर्शुक भाग; 8 – वक्षीय भाग; 9 – निम्न महाशिरा।

पृष्ठीय संपट्ट बृहत् अंसपेशी तथा अग्र ऋकचिनी को ढके हुए होता है। गंभीर संपट्ट बृहत् अंसपेशी के नीचे स्थित होता है तथा लघु अंसपेशी और बाह्य अन्तराशिरीय पेशी को ढके हुएं होता है। अन्तर्वक्षीय संपट्ट वक्ष कोटर के अन्दर की दीवारों का अस्तर बनाता है।

वक्ष की पेशियों का वर्णन करते समय प्रायः डायाफ्राम का भी वर्णन किया जाता है।

डायाफ्राम (चित्र 54) एकल पेशी है जो उदरीय कोटर से वक्ष कोटर को पृथक करती है और इसीलिए इसे वक्षउदरीय विभाजन कहते हैं। यह एक महीन पेशीकण्डरा गुम्बदनुमा तथा ऊपर की ओर उत्तल पट्ट होता है। डायाफ्राम का उद्गम स्टर्नम, शिरों तथा कटि – कशेरूक पर होता है, अतएव इसका तीन भागों में अध्ययन किया जाता है। कटि-कशेरूक स्वयं दो भागों – दक्षिण और वाम अर्धों में बटाँ होता है जिनमें से प्रत्येक में तीन डूरा होते हैं। डायाफ्राम में तीन बड़े रंध्र

होते हैं: कटि-भाग में महाधमनी तथा ग्रसिका के लिए तथा कण्डरा केन्द्र में उर्ध्व निम्न शिरा के लिए। डायाफ्राम श्वसनक्रिया में भाग लेता है। यह संकुचित होने पर नीचे आ जाता है जिसके फलस्वरूज वक्ष की क्षमता बढ़ जाती है तथा फुफ्फुस विस्तृत हो जाते है और अन्तःश्वसन होता है। जब डायाफ्राम विश्रांति की अवस्था में होता है तो यह अपनी मूल अवस्था में लौट आता है (ऊपर उठ जाता है), तथा वक्ष की क्षमता कम हो जाती है और उच्छ्वसन स्थान लेता है।

उदर की पेशियां तथा संपट्ट

उदर की पेशियों में निम्न आते हैं: बाह्य तिर्यक् पेशी तथा आंतर तिर्यक् पेशी, उदर अनुप्रस्थ उदर पेशी, उदरीय ऋजु पेशी तथा द्विघाती कटि-पेशी। ये वक्ष तथा श्रोणि की अस्थियों के बीच में स्थित होती हैं तथा उदरीय कोटर की दीवारें बनाती हैं। बाह्य तिर्यक् पेशी, आंतर तिर्यक पेशी और अनुप्रस्थ उदर पेशी चौड़ी समतल पेशियाँ हैं जिनके तदनुरूपी कण्डरा या कण्डराकला सपाट होते हैं।

बाह्य, तिर्यक् पेशी (दे० प्लेट I) का उद्गम आठ निम्न शिरों पर होता है तथा यह पेशी मध्यवर्ती रेखा की ओर नीचे की तरफ विस्तरित है। पेशी के सबसे पीछे स्थित बंडलों का निवेशन श्रोणि-शिखर पर होता है, जबकि शेष अन्य बंडल कण्डराकला सपाट में मिल जाते हैं। कण्डराकला सपाट की निम्न सीमा मुड़ी हुई होती है जो एक रंध्र बनाती है जिसे वंक्षण स्नायु कहते हैं। यह श्रोणि अस्थि की अग्र उर्ध्व कशेरूक से जघन गुलिका तक विस्तरित होती है।

आन्तर तिर्यक् पेशी (चित्र 55) बाह्य तिर्यक पेशी के नीचे स्थित होती है तथा श्रोणि शिखर और वक्षण स्नायु पर इसका उद्गम होता है। पेशी बंडल निम्न प्रकार विस्तरित होते हैं: ऊपरिस्थ बंडल नीचे के शिरों में निवेशित होते हैं तथा शेष कण्डराकला सपाट में मिल जाते हैं।

अनुप्रस्थ उदर पेशी (चित्र 55) आंतर तिर्यक् पेशी के नीचे स्थित होती है तथा इसका उद्गम छः निम्न शिरों की उपास्थियों, श्रोणि शिखर तथा वंक्षण स्नायु पर होता है। पेशी बंडल अनुप्रस्थ रूप से बढ़ते हैं, मध्यवर्ती रेखा तक विस्तरित हैं तथा कण्डराकला सपाट में मिल जाते हैं।

उदरीय ऋजु पेशी (चित्र 55) मध्यवर्ती रेखा के पार्श्व में स्थित होती है तथा यह पाँचवे-सातवे शिरां की उपास्थियों से जघनस्थि तक विस्तरित होती है। इस पेशी को 3-4 कण्डरीय बैंड काटते हैं। यह पेशी कण्डरीय पट्ट के अन्दर स्थित होती है जो बाह्य तिर्यक् पेशी तथा आंतर तिर्यक् पेशी के कण्डराकला सपाटों एवं अनुप्रस्थ उदर पेशी से बनती है।
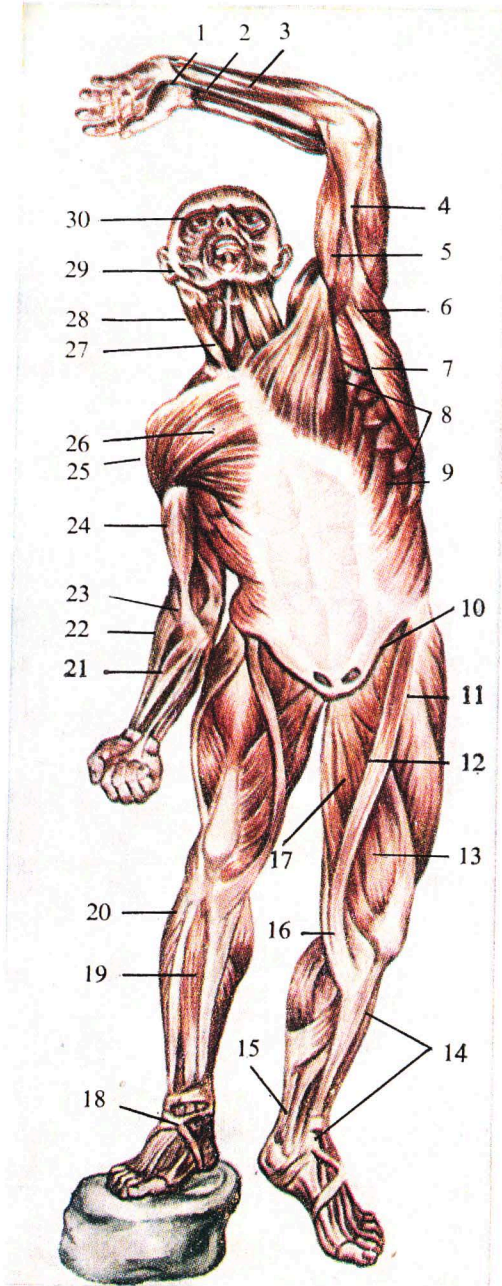
प्लेट I. मानव शरीर की पेशियां
(अग्र पक्ष)

1 – पालमारिस लोंगस ; 2 – फ्लेक्सर डिजिटोरस सबलिमिस ; 3 – फ्लेक्सर कार्पी अल्नेरिस ; 4 – बाहु त्रिशिरस्क ; 5 – अंसतुंड बाहुपेशी ; 6 – बृहत अंसाभिवर्तिका ; 7 – लैटिसिमस डॉर्साइ ; 8 – अग्र ककचिनी ; 9 – बाह्य तिर्यांक पेशी ; 10–इलिओसोअस ; 11 तथा 13 – चतु: शिरस्क फेमोरिस ; 12 – सारटोरियम ; 14 – अग्रअंतर्जंघिया धमनी ; 15 – पार्श्विक कंडरा ; 16 – गैस्ट्राक्निमियम ; 17 – तनुपेशी ; 18 – प्रसारणी को आधार देने वाले अधो : स्नायु ; 19 – अग्रअंतर्जंघिका धमनी ; 20 – पेरोनिअल ; 21 – फ्लेक्सर कार्पी रेडिआलिस ; 22 – बाहु बहि : प्रकोष्ठिक पेशी ; 23 – तंतु पट्ट ; 24 – बाहु द्विशिरस्क ; 25 – अंतछदा ; 26 – बृहत अंसपेशी ; 27 – उरोस्थि कंठिका ; 28 – उरोजत्रुक कर्णमूलिका ; 29 – चर्वणी ; 30 – नेत्र मण्डलिका ।

प्लेट II

1 – उरोजत्रुक कर्णमूलिका ; 2 – समलंबिका ; 3 – ग्रंसछदा ; 4 – बाहु त्रिशिरस्क ; 5 – बाहु त्रिशिरस्क ; 6 – बाहु बहि : प्रकोष्ठिक पेशी ; 7 – प्रसारणी कार्पी रेडिग्रालिस लोंगस ; 8 – (बाहु का) प्रसारणी डिजिटोरस समाजी ; 9 – नितंब महापेशी ; 10 – फेमोरिस द्वि-शिरस्क ; 11 – गैस्ट्राक्निमियस ; 13 – सोलियस ; 12 तथा 15 – पेरोनियम लोंगस ; 14 – (पाँव का) (कण्डरा) प्रसारणी डिजिटोरम लोंगस ; 16 – संपट्ट लाता (fascia lata) ; 17 – संपट्ट लाता प्रदिश ; 18 – बाह्य तिर्यक् पेशी ; 19 – लैटिसिमस डॉर्साइ ; 20 – चतुष्कोणी ; 21 – ऊर्ध्वटेरेस ; 22 – फ्रास्पिने-टस ; 23 – बाहु त्रिशिरस्क ; 24 – बाहु पेशी ; 25 – बाहु द्वि-शिरस्क ।
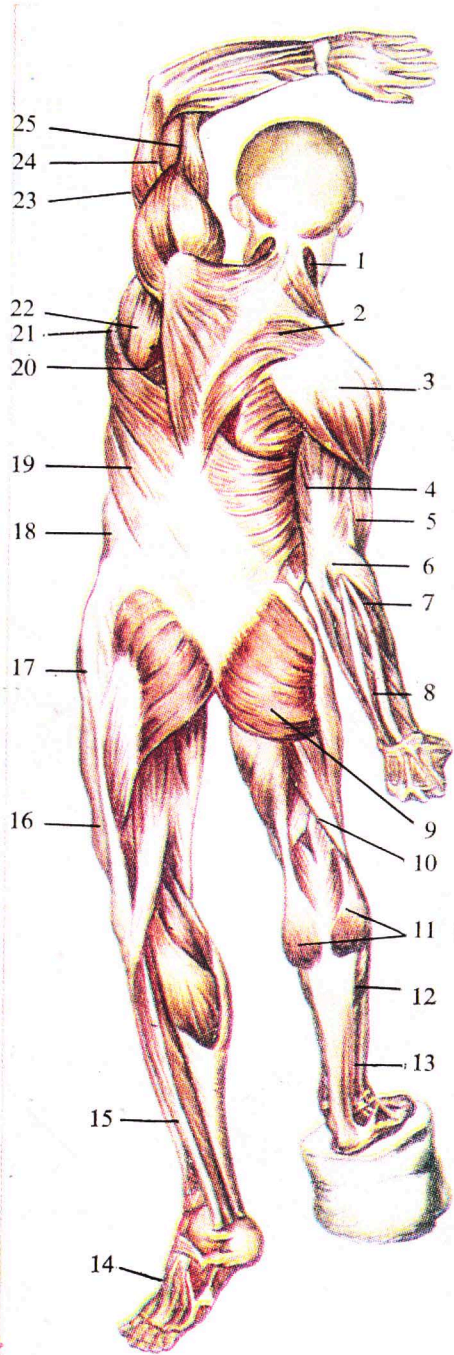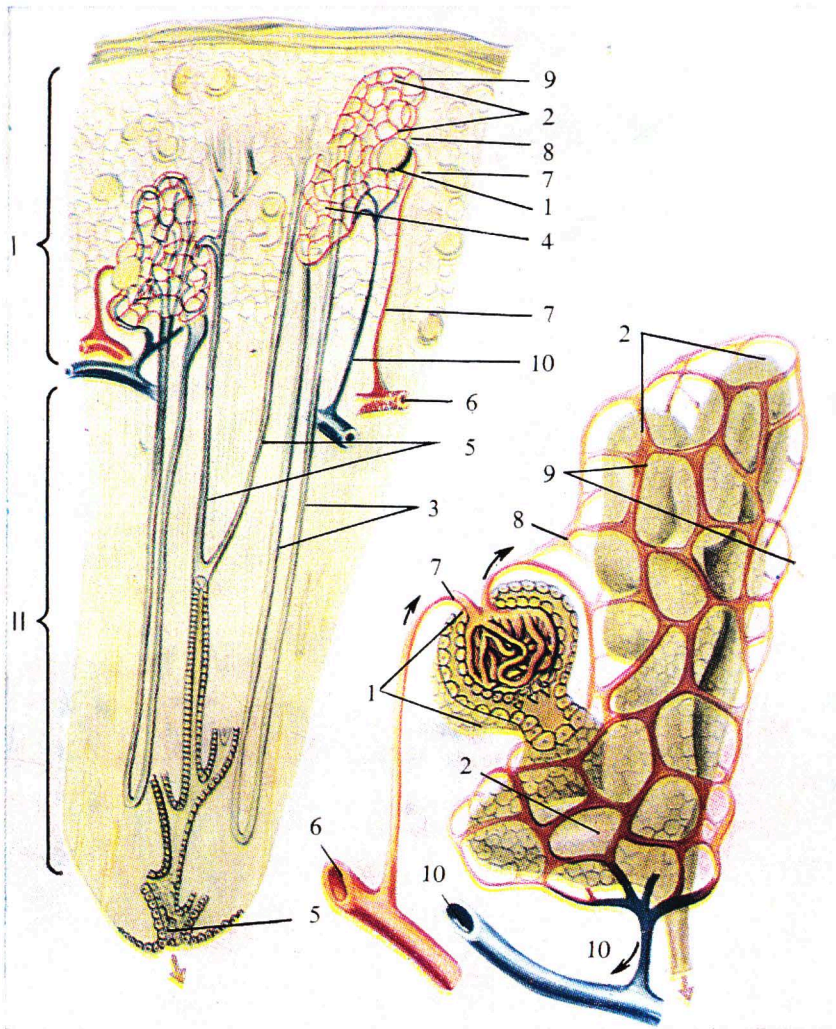
प्लेट III वृक्क की सूक्ष्मदर्शीय संरचना (आरेख)।
वायीं ओर — वल्कुटी I तथा मध्यांश स्तर। दायीं ओर — अतिआवर्धित कैप्स्यूल सहित केशिका गुच्छ और मूत्रजनन-नलिका का आरम्भ
1 — कैप्स्यूल सहित केशिका गुच्छ; 2, 3 तथा 4 — मूत्रजनन-नलिका के विभिन्न भाग; 5 — एकत्रित करने वाली नलिकाएं जिनमें से मूत्र लघु कलश में जाता है; 6 — धमनी; 7 — केशिका गुच्छ में रुधिर लाने वाली वाहिका; 8 — केशिका गुच्छ में से रुधिर बाहर निकालने वाली वाहिका; 9 — नलिकाओं के चारों ओर केशिकाएं; 10 — शिरा।
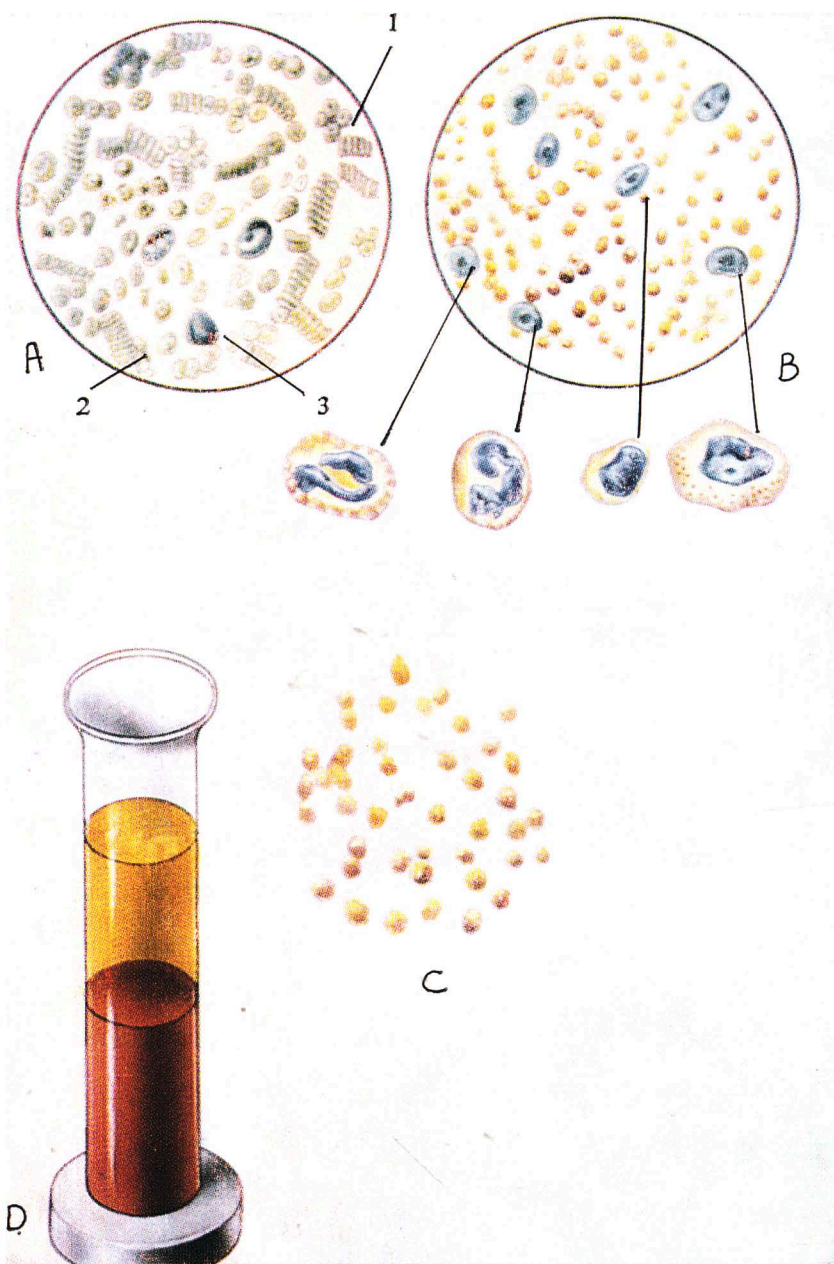
प्लेट IV रुधिर

A – सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखने पर रुधिर ; 1 तथा 2 – रक्ताणु ; 3 – श्वेताणु ; B – अभिरंजित रुधिर निर्मिति ; (नीचे – अतिआवधित विभिन्न श्वेताणु) । C – रक्ताणु । D – दीर्घकालीन अवसादन के बाद स्कंदन के प्रति सुरक्षित रुधिर) ऊपर की परत – प्लाज्मा (रक्ताणु स्थिर हो चुके हैं) ।
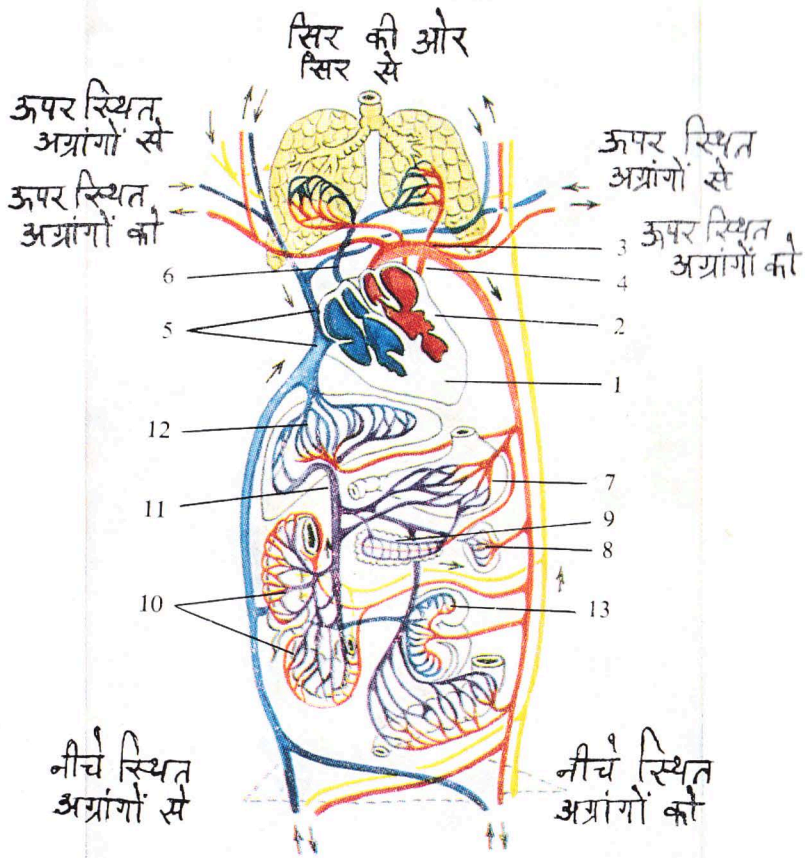
प्लेट V रुधिर तथा लसीका परिसंचरण का आरेख।
धमनी रुधिर को ले जाने वाली वाहिकाएं लाल रंग की हैं; शिरीय रुधिर को ले जाने वाली वाहिकाएं नीले रंग की हैं; तथा निवाहिका शिरा तंत्र – जाम्ब रंग का है, और लसीका वाहिकाएं पीले रंग की हैं।
1 – हृदय का दक्षिण अर्ध; 2 – हृदय का वाम अर्ध; 3 – महाधमनी; 4 – फुफ्फुसी शिरा; 5 – ऊर्ध्व महाशिरा तथा निम्न महाशिरा; 6 – फुफ्फुसी कांड; 7 – आमाशय; 8 – प्लीहा; 9 – अग्नाशय; 10 – लघु तथा वृहत आंत्र; 11 – निवाहिका शिरा; 12 – यकृत; 13 – वृक्क।

प्लेट VI धमनी तंत्र (आरेख) 1 – सतही शंख धमनी ; 2 – आनन धमनी ; 3 – दक्षिण सामान्य ग्रीवा धमनी ; 4 – वाम सामान्य ग्रीवा धमनी ; 5 – बाहु शीर्ष धमनी का कांड (अनामी धमनी) ; वाम अधोजत्रुक धमनी ; 7 – महाधमनी की आर्क ; 8 – दक्षिण कक्षीय धमनी ; 9 – वाम बाहु धमनी ; 10 – अरीय धमनी ; 11 – अंत : प्रकोष्ठिक धमनी ; 12 – वृक्कीय धमनी ; 13 – उदरीय महाधमनी ; 14 – बाह्य श्रोणीय धमनी ; 15 – ऊरू धमनी ; 16 – गंभीर ऊरू धमनी ; 17 – जानुपृष्ठ धमनी ; 18 – अग्र अंतर्जंघिका धमनी ; 19 – पश्च अंतर्जंघिका धमनी ; 20 – डार्सालिस पेडिस धमनी।
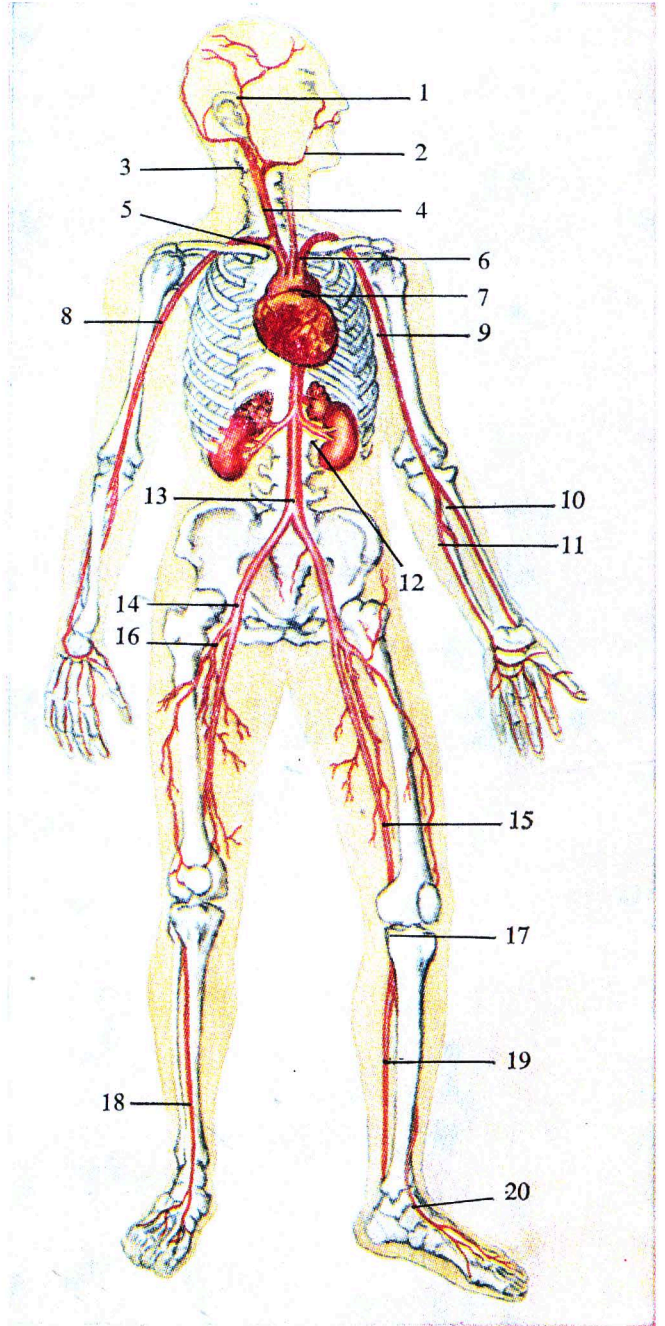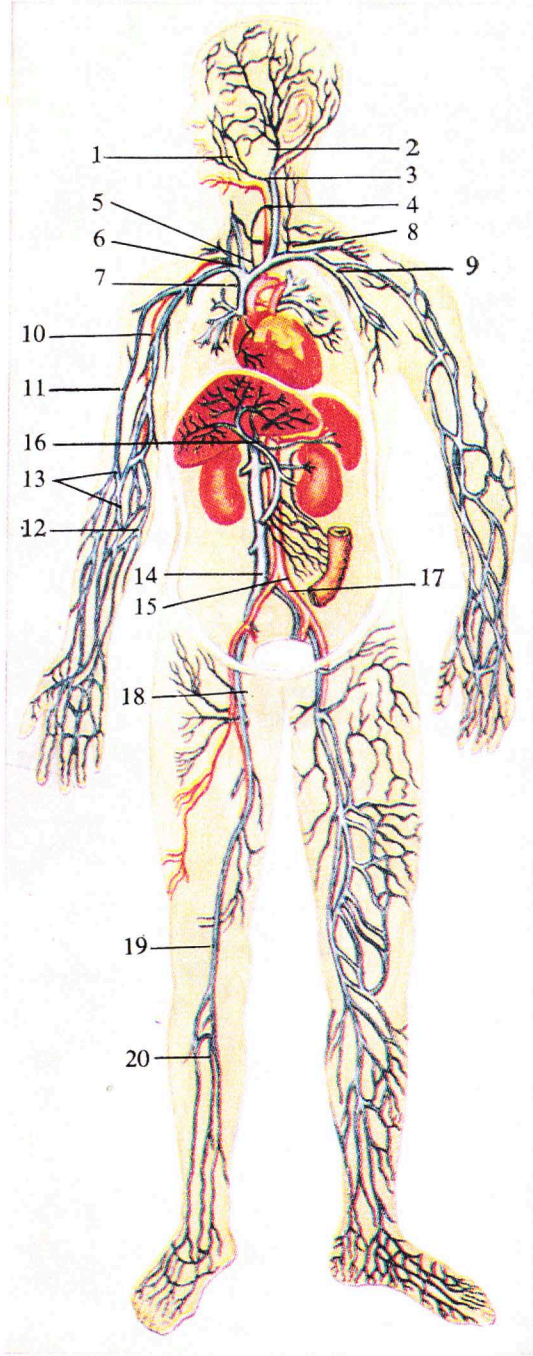
प्लेट VII शिरीय तंत्र (आरेख) 1 – आनन शिरा ; 2 – त्व्यंगिका जालक ; 3 – सामान्य आनन शिरा ; 4 – आंतरिक युज्ञ शिरा ; 5 – वाम वाहु शीर्ष (अनामी) शिरा ; 6 – दक्षिण बाहु शीर्ष (अनामी) शिरा ; 7 – ऊर्ध्व महाशिरा ; 8 – अधोजत्रुक शिरा ; 9 – कक्षीय शिरा ; 10 – बाहु शिरा ; 11 – शिरस्थ शिरा ; 12 – अन्तर्बाहु शिरा ; 13 – मध्योत्तर शिरा ; 14 – निम्न महाशिरा ; 15 – उदरीय महाधमनी ; 16 – निवाहिका शिरा ; 17 – वाम सामान्य श्रोणि शिरा ; 18 – ऊरू शिरा ; 19 तथा 20 – साफेना मैग्ना ।
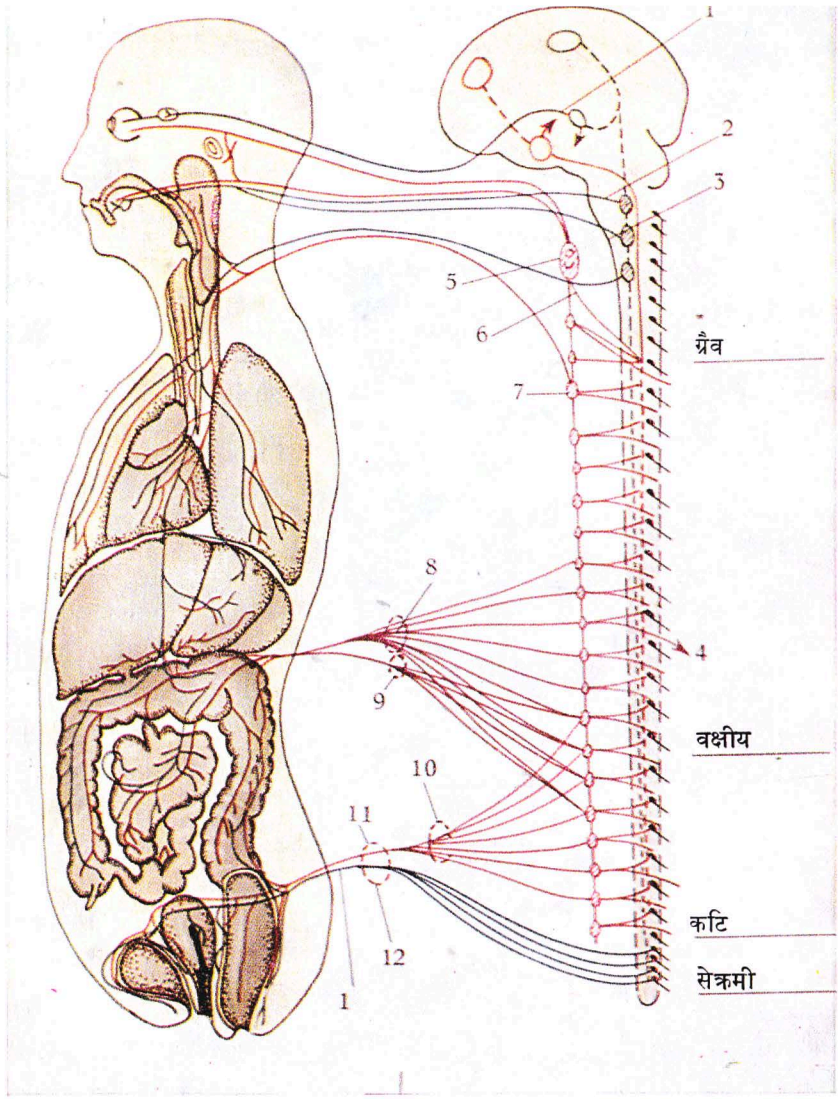
प्लेट VIII तंत्रिका तंत्र का कायिक भाग (आरेख)। अनुकम्पी केन्द्रक, गुच्छिकाएं तथा तंतु लाल रंग द्वारा दिखाये गये हैं, व परानुकंपी – नीले रंग द्वारा।

1. अक्षिप्रेरक तंत्रिका ; 2. आनन तंत्रिका ; 3. जिह्वाग्रसनी तंत्रिका ; 4. त्वचा वाहिका, स्वेद ग्रन्थि, पेशियां ; 5. ऊर्ध्व ग्रैव गुच्छिका ; 6. वेगस तंत्रिका ; 7. ताराकार गुच्छिका ; 8. सौर जालक ; 9. ऊर्ध्व आंत्रयोजनी गुच्छिका ; 10. अधोजठर तंत्रिका; 11. अधोजठर जालक ; 12. श्रोणि अंतरंग तंत्रिका
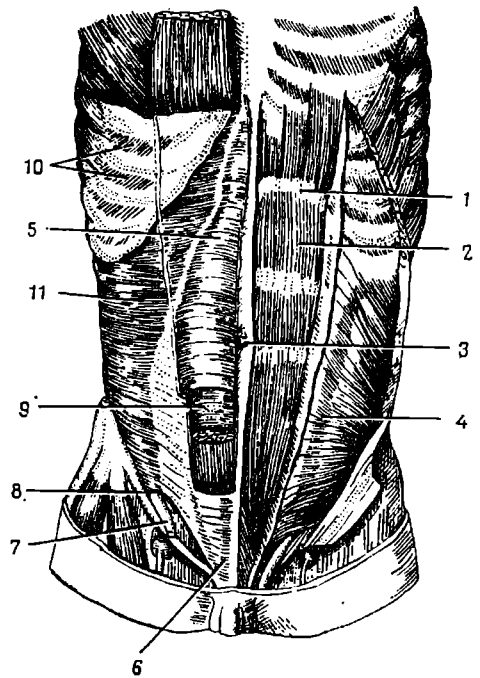
चित्र 55. उदरीय पेशी। दक्षिण : तिर्यक उदर हटा दिया गया है तथा उदरीय ऋजु पेशी को काट दिया गया है। वाम ; बाह्य तिर्यक पेशी को हटा दिया गया है। 1 – कण्डरीय क्रॉस बैंड ; 2 – उदरीय ऋजु पेशी ; 3 – नाभिका ; 4 – आंतर उदरीय तिर्यक पेशी ; 5 तथा 6 – उदरीय ऋजु पेशी आच्छद ; 7 – शुक्राणु नलिका ; 8 – वंक्षण स्नायु ; 9 – अनुप्रस्थ उदरीय संपट्ट ; 10 – अन्तराशिरीय ; 11 – अनुप्रस्थ उदर पेशी।

द्विघाती कटि-पेशी बारहवें शिरे और श्रोणि-शिखर के बीच स्थित होती है। यह उदर कोटर की पश्च दीवार का भाग बनाती है तथा कशेरूक-दंड के कटि-भाग को मोड़ती है।

अग्र उदरीय दीवार की पेशियाँ और डायाफ्राम तथाकथित प्रेलुम उदर (prelum abdominale) बनाते हैं। संकुचित होने पर ये उदरीय कोटर में दाब बढ़ा देते हैं तथा मलविसर्जन, मूत्रविसर्जन और प्रसव में मदद देते हैं। चूंकि ये पेशियाँ शिरों के साथ सम्बंधित हैं, ये श्वसन में भी भाग लेती हैं। जब उदरीय तथा तिर्यक् पेशियाँ संकुचित होती हैं तो ये वक्ष को श्रोणि के पास ले आती हैं, यानी कांड को मोड़ देती हैं। तिर्यक् पेशियाँ कांड को घुमाने में भी भाग लेती हैं।

उदर के संपट्ट. बाह्य तिर्यक् पेशी एक महीन संपट्ट द्वारा ढ़की हुइ होती है। उदरीय कोटर की दीवारें अंतः उदरीय या अनुप्रस्थ संपट्ट द्वारा ढकी हुई होती हैं तथा इनके ऊपर पर्युदर्या चढ़ा हुआ होता है। उदरीय दीवार में ऐसे स्थान होते हैं जिनमें से अंतरंग (उदाहरणतया, आन्त्र लूप) कभी-कभी उदरीय कोटर में से निकल कर त्वचा तक आ जाते हैं, अर्थात् हर्निया पैदा हो जाता है। ये भाग निम्न हैं: वंक्षण नलिका, ऍल्वा रेखा, नाभि, इत्यादि।

वक्षण नलिका. वंक्षण लगभग पाँच सेन्टीमीटर लम्बा रेखा-छिद्र की भांति अवकाश होता है (चित्र 56)। यह वंक्षण स्नायु के ऊपर स्थित होता है तथा
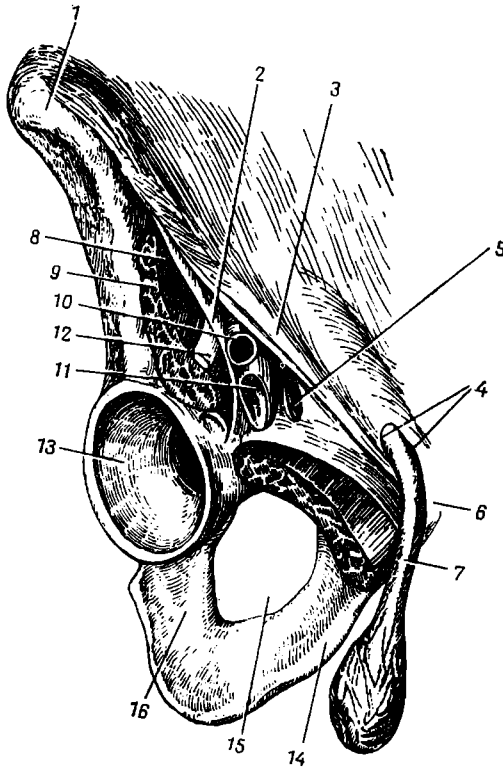
चित्र 5 .6 वंक्षण क्षेत्र (पुरुष)

(1 – श्रोणि अस्थि (अग्र महा कशेरूक); 2 – इलियोपेक्टिनियल स्नायु; 3 – वंक्षण स्नायु; 4 – अधित्वचीर वंक्षण रंध्र; 5 – ऊरू-नलिका का आन्तरिक रंध्र; 6 – जघन मुलिका; 7 – शुक्राणु नलिका; 8 – लैंकुना मस्क्यूलोरम (अवकाश); 9 – इलियोपसोअस पेशी; 10 – ऊरू धमनी; 11 – ऊरू वाहिनी; 12 – ऊरू तंत्रिका; 13 – श्रोणिउलूखल; 14 – जघनास्थि; 15 – श्रोणिरंध्र; 16 – श्रोणिखण्ड।

इसकी नीचे की दीवार बनाता है। आगे से नलिका के चारों ओर बाह्य तिर्यक् पेशी के कण्डराकला सपाट होते हैं, ऊपर से आंतर तिर्यक् पेशी की निम्न सीमाएँ और अनुप्रस्थ तिर्यक् पेशी होती हैं, और पश्च पक्ष की ओर से संपट्ट होता है। पुरूष की वंक्षण नलिका में शुक्राणु नलिका होती है, तथा स्त्री की वंक्षण नलिका में गर्भाशय होता है (दे० अध्याय 6, "जननमूत्र तंत्र")। नलिका में दो रंध्र होते हैं: गभीर वंक्षण (अथवा उदरीय वंक्षण) वलय और अवत्वक वंक्षण (या बाह्य उदरीय) वलय। अवत्वक वंक्षण वलय श्रोणि गुलिका के एकदम ऊपर त्वचा के नीचे स्थित होता है। यह बाह्य तिर्यक् पेशी के कण्डराकला सपाट में एक त्रिकोणीय रेखा-छिद्र होता है। गभीर वंक्षण वलय अग्र उदरीय दीवार के पश्च समतल पर वंक्षण स्नायु के मध्यवर्ती भाग के एकदम ऊपर स्थित होता है। यह कीयनुमा अवकाश होता है जिसके किनारे अंतः उदरीय संपट्ट बनाते हैं।

पुरूष शिशुओं में वृषण कटि क्षेत्र से वंक्षण नलिका में से गुज़रते हुए सेक्रोटम में आते हैं।

एल्बा ऐब्डोनिमिस रेखा बाह्य तिर्यक पेशी, आंतर तिर्यक् पेशी के कण्डराकला सपाटों तथा अग्र उदरीय दीवार की मध्योत्तर रेखा की दोनों ओर की अनुप्रस्थ उदरीय पेशी के कण्डरा तंतुओं की रैंफी होती है। ऐब्डोनिमिस रेखा उरोस्थि के उरोस्थि प्रवर्ध से श्रोणि सलंयन तक विस्तरित होता है।

नाभि एल्बा ऐब्डोनिमिस रेखा के लगभग बीच में स्थित होती है। यह एक धब्बा होता है जो शिशु के जन्म के बाद नाभि छिद्र के बंद हो जाने से बनता है। गर्भ का वंक्षण छिद्र नाभि रज्जु को आगे पहुँचाता है।

पीठ की पेशियां तथा संपट्ट

पीठ की पेशियों को दो ग्रुपों में विभाजित किया गया है: (1) ऊपरिस्थ अग्रांगों की अस्थियों में निवेशित पेशियाँ (समलंबिका, लैटिसिमस डॉर्साइ, चतुष्कोणी, तथा लिवेटर स्कैपुला);

(2) पीठ की मुख्य पेशियाँ (पश्च सिरैंटस तथा निम्न सिरैंटस, स्प्लीनियस, त्रिकमेरू आदि)।

समलंबिका पेशी (चित्र 57) एक विस्तृत समतलीय पेशी है जो पीठ के ऊपरि भाग में त्वचा के नीचे स्थित होती है। इसका उद्गम अनुकपाल अस्थि, कंधरा स्नायू तथा वक्षीय कशेरूक के मेरू प्रवर्ध पर होता है और इसका निवेशन स्कैपुला व जत्रुक के मेरू पर होता है। यह पेशी तीन भागों से बनी है: ऊपरि, मध्यवर्ती तथा निम्न। ऊपरि भाग स्कैपुला को ऊपर उठाता है, मध्यवर्ती भाग स्कैपुला को मेरू की ओर खींचता है तथा निम्न भाग स्कैपुला को नीचे करता है। संपूर्ण पेशी संकुचित होने पर स्कैपुला को मेरू की ओर खींचती है।
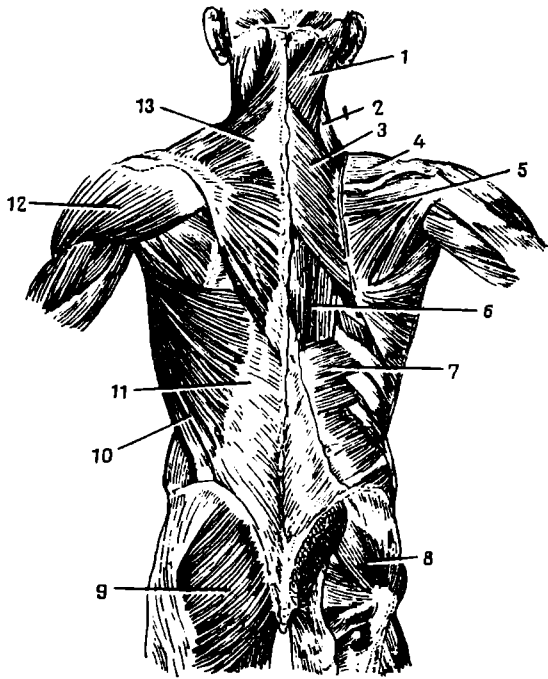
चित्र 57. पीठ की पेशियां। वाम : प्रथम समतल ; दक्षिण : द्वितीय समतल। 1 – स्प्लीनियम ; 2 – उन्नयनी ग्रंसफलक ; 3 – चतुष्कोणी ; 4 – ग्रध्यंसपेशी ; 5 – इंफ्रास्पीनेटस ; 6 – त्रिकमेरू पेशी ; 7 – पश्च ग्रधि ऋकचिनी ; 8 – नितम्ब मध्य पेशी ; 9 – नितम्ब महा पेशी ; 10 – लैरिसिमस डॉर्साइ ; 11 – कटिपृष्ठीय संपट्ट ; 12 – ग्रंसछदा ; 13 – समलंबिका।

लैटिसिमस डॉर्साइ (त्रित्र 57) एक समतलीय पेशी होती है जो पीठ के निम्न भाग में तथा वक्ष के पार्श्व भाग में त्वचा के नीचे स्थित होते हैं। इसका उद्‌गम छः निम्न वक्षीय कशेरूक, कटि-डॉर्सल संपट्ट ग्रौर श्रोणि शिखर पर होता है, तथा इसका निवेशन प्रगंडिका के ग्रन्तरागुलिका सल्कस में होता है। यह बाहु का ग्रभिवर्तन करती है तथा ऊपर उठे हुए बाहु को नीचे लाती है।

चतुष्कोणी पेशी (चित्र 57) पीठ के ऊपरि भाग में समलंबिका पेशी के नीचे स्थित होती है। इसका उद्‌गम दो निम्न ग्रैव तथा चार ऊपरि वक्षीय कशेरूक पर होता है, ग्रौर इसका निवेशन स्कैपुला की कशेरूक सीमा पर होता है; यह स्कैपुला को मेरू की ग्रोर खींचती है।

लिवेटर स्कैपुला ग्रीवा के पार्श्व भाग में समलंबिका पेशी के ऊपरि भाग के

नीचे स्थित होती है और चार ऊपरि ग्रैव कशेरूक से स्कैपुला के मध्य कोण तक विस्तरित होती है। यह स्कैपुला को ऊपर उठाती है। पीठ की मुख्य पेशियाँ गभीर पेशियाँ हैं।

पश्च उर्ध्व सिरैंटस पेशी चतुष्कोणी पेशी के नीचे स्थित होती है व दो निम्न ग्रैव तथा दो ऊपरि वक्षीय कशेरूक के मेरू प्रवर्धों से ऊपरी शिरों (द्वितीय से पंचम) तक विस्तरित है। यह शिरों को ऊपर उठाती है और श्वसन में भाग लेती है।

निम्न पश्च सिरैंटस पेशी लैटिसिमस डॉर्साइ के नीचे स्थित होती है और कटि-डॉर्सल संपट्ट से चार निम्न शिरों तक विस्तरित होती है। यह शिरों को दबाती है और श्वसन में भाग लेती है।

शिर और ग्रीवा की **स्प्लीनियस पेशी** (चित्र 57) ग्रीवा के पश्च तल पर समलंबिका पेशी के नीचे स्थित है। संकुचित होने पर यह शिर को फैलाती है तथा एक ओर संकुचित होने पर उसी तरफ ही शिर को घुमाती है।

त्रिकमेरू पेशी (चित्र 57) एक शक्तिशाली पेशी है तथा यह कशेरूक दंड के पार्श्व में स्थित होती है। यह सेक्रम से अनुकपाल अस्थि तक विस्तरित होती है। यह पेशी कशेरूक-दंड को विस्तरित करती है तथा इसीलिए कभी-कभी इसे ऋजु दंड भी कहते हैं। लघु पेशियों की अन्य कई परतें त्रिकमेरू पेशी से भी अधिक गभीर होती हैं।

पीठ के संपट्ट. समलंबिका और लैटिसिमस डॉर्साइ पेशियों के ऊपर एक महीन संपट्ट चढ़ा हुआ होता है (चित्र 57)। इसकी आकृति चतुष्कोणीय होती है तथा कण्डराकला सपाट की भाँति कटि कशेरूक के मेरू प्रवर्धों और सैक्रमी शिखर के साथ दृढ़ता से जड़ा हुआ होता है। कटि-डॉर्सल संपट्ट दो परतों से बना हुआ होता है जिनके बीच में त्रिकमेरू पेशी स्थित होती है। विस्तृत उदरीय पेशियों के उद्गम का कुछ भाग इस संपट्ट पर होता है।

अंस मेखला की पेशियां

अंस मेखला में छः पेशियाँ होती हैं: अंसछदा, अध्यंसपेशी, इंफ्रास्पिनेटस अंस-फलकाधस्थ, बृहत् अंसाभिवर्त्तिका तथा लघु अंसाभिवर्त्तिका (प्लेट I तथा II)।

अंसछदा पेशी स्कैपुला मेरू और जत्रुक से प्रगंडिका के अंसछद अस्थिप्रोत्थ तक विस्तरित है। यह प्रगंडिका का क्षैतिज अवस्था में अपवर्तन करती है। पेशी के अग्र बंडल अंस को मोड़ते हैं तथा पश्च बंडल इसको विस्तरित करते हैं।

अध्यंसपेशी अध्यंसखात में स्थित होती है तथा इसका निवेशन प्रगंडिका की महा गुलिका पर होता है। यह अंसछदा पेशी के साथ मिलकर अंस का अपवर्तन करती है।

इंफ्रास्पिनेटस पेशी इंफ्रास्पिनेटस खात में स्थित होती है और इसका निवेशन प्रगंडिका की महा गुलिका पर होता है। यह अंस को बाहर की ओर घुमाती है।

अंसफलकाधस्थ पेशी अंसफलकाधस्थ खात में स्थित होती है तथा इसका निवेशन प्रगंडिका की निम्न गुलिका पर होता है। यह अंस को अन्दर की ओर घुमाती है।

बृहत् अंसाभिवर्त्तिका पेशी स्कैपुला से प्रगंडिका के अन्तरागुलिका सल्कस तक विस्तरित है और अंस को अन्दर की ओर मोड़ती है।

लघु अंसाभिवर्त्तिका पेशी स्कैपुला से प्रगंडिका की महा गुलिका तक विस्तरित होती है तथा अंस को बाहर की ओर घुमाती है।

बाहु की पेशियां

बाहु की पेशियों को ऊपरि बाहु, अग्रबाहु तथा हस्त की पेशियों में विभाजित किया जाता है। ऊपरि बाहु की पेशियों को अग्र और पश्च पेशियों में बाँटा गया है।

अग्र ग्रुप में तीन पेशियाँ आती हैं:

(1) बाहु द्विशिरस्क ऊपरि बाहु पर ऊपरिस्थित होती है। इसका उद्गम स्कैपुला पर दो शिरों (दीर्घ और लघु) में होता है, तथा इसका निवेशन बहि: प्रकोष्ठिका के अस्थिप्रोत्थ में होता है। इस पेशी के कण्डरा का भाग एक सघन तंतु पट्ट है जो कफोणी खात में स्थित है तथा अग्रबाहु के संपट्ट में मिल जाता है। यह पेशी बाहु को अंस तथा कोहनी संधि में मोड़ती है।

(2) **बाहु पेशी** बाहु द्विशिरस्क के नीचे स्थित होती है तथा प्रगंडिका से अंत: प्रकोष्ठिका के चंचुभ प्रवर्ध तक विस्तरित होती है। यह कोहनी संधि को मोड़ती है।

(3) **अंस तुंड** बाहुपेशी स्कैपुला के अंस तुंड प्रवर्ध से प्रगंडिका तक विस्तरित है तथा बाहु का अभिवर्तन करती है एवं उसे मोड़ती है।

पेशियों का **पश्च ग्रुप** बाहु त्रिशिरस्क से बना है जो इस प्रकार उद्गम करते हैं कि एक शिर (दीर्घ) स्कैपुला पर हो तथा दो शिर प्रगंडिका पर हो। इसका निवेशन अंत: प्रकोष्ठिका के कफोणी खात में होता है, और यह कोहनी संधि को विस्तरित करती है।

अग्र बाहु पर पेशियों को दो ग्रुपों में बांटा गया है: अग्र तथा पश्च। अधिकांश अग्र पेशियों का उद्गम प्रगंडिका के मध्यवर्ती अधिअस्थिकंद पर होता है, तथा पश्च पेशियों का उद्गम पार्श्व अधिअस्थि कंद पर होता है।

अग्र ग्रुप में निम्न पेशियाँ आती हैं:

(1) **मणिबन्ध के दो आकोचनी: मणिबंध अंत:प्रकोष्ठिक आकोचनी** तथा **मणिबंध अंत: प्रकोष्ठिक आकोचणी** इनमे से पहले का निवेशन दूसरी और तीसरी करभिका अस्थियों में होता है, तथा अन्तिम का निवेशन गोलकास्थि पर होता है।

(2) **अंगुलि के दो आकोचनी: फ्लेक्सर डिजिटोरम सबलिमिस तथा फ्लेक्सर डिजिटोरम प्रोफण्डस.** इनमें से प्रत्येक पेशी के चार कण्डरा होते हैं जो द्वितीय से पंचम अंगुलि तक विस्तरित होते हैं।
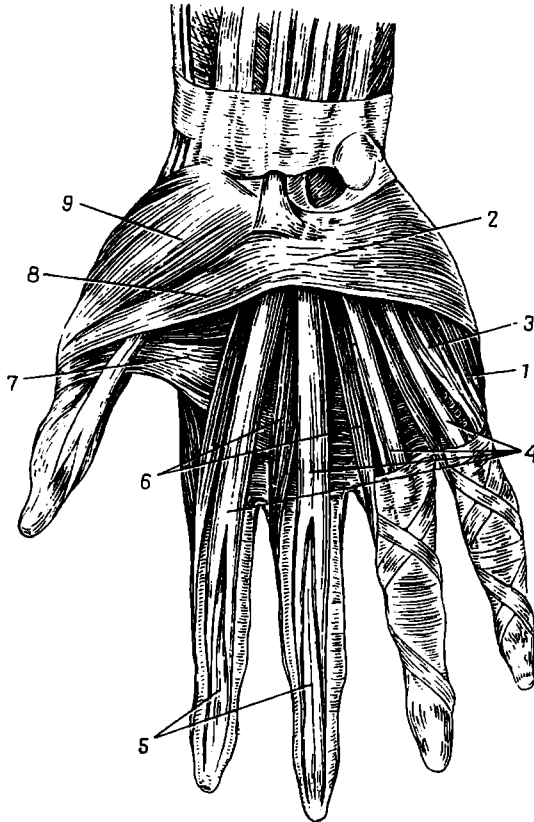
चित्र 58. हस्त की पेशियां.

1 – डिजिटी क्वीन्टी एब्डकटर ; 2 – अनुप्रस्थ मणिबन्ध स्नायू ; 3 – फलैक्टर डिजिटी क्वीन्टी ब्रीवीस ; 4 – फलैक्सर डिजिटोरम सबलिमिस के कण्डरा ; 5 – फलैक्सर डिजिटोरम प्रोफन्डस के कण्डका ; 6 – कृमिल पेशी ; 7 – एब्डक्टर पोलिसिस ; 8 – फ्लेक्सर पोलिसिस ब्रीवीस ; 9 – एब्डक्टर पोलिसिस ब्रीवीस।

(3) **दीर्घ अंगुष्ठ आकोचनी** (अंगुष्ठ का दीर्घ आकोचनी) – यह अंगुष्ठ की अंगुलास्थि तक विस्तरित है।

(4) दो **अवतानित पेशियां** (बहिः प्रकोष्ठिका तथा हस्त को अन्दर की ओर

घुमाने वाली पेशियाँ) : अवतानिनी अंसाभिवर्तिका तथा अवतानिकी चतुष्कोणी जो बहिः प्रकोष्ठिका पर निवेशित हैं।

पश्च ग्रुप में निम्न पेशियाँ आती हैं:

(1) **मणिबन्ध की तीन प्रसारिणियां** (एक अंतः प्रकोष्ठिक तथा दो बहिः प्रकोष्ठिका) : **बहिः प्रकोष्ठिक मणिबन्ध प्रसारिणी लघु ; बहिः प्रकोष्ठिक मणिबन्ध प्रसारिणी दीर्घ ; अंतः प्रकोष्ठिक मणिबन्ध प्रसारिणी**—इनके निवेशन करभिका अस्थि में होते हैं।

(2) **बाहु की समाजी डिजिटोरम प्रसारिणी** चार कण्डराओं में बँटी हुई होती है जो द्वितीय से पंचम अंगुलास्थियों तक विस्तरित होते हैं; यह अंगुलि को विस्तरित करती है।

(3) **अंगुष्ठ की दो प्रसारिणी ; दीर्घ अंगुष्ठ प्रसारिणी** तथा **लघु अंगुष्ठ प्रसारिणी** अंगुष्ठास्थि तक विस्तरित होती हैं।

(4) **दीर्घ अंगुष्ठ अपवर्तनी** प्रथम करभिका अस्थि तक विस्तरित होती है तथा अंगुष्ठ का अपवर्तन करती है।

(5) **उत्ताननी** (बहिः प्रकोष्ठिका एवं हस्त को बाहर की ओर घुमाती है)—इसका निवेशन बहिः प्रकोष्ठिका पर होता है तथा यह हस्त का उत्तानन करती है।

अग्र बाहु के पार्श्व भाग में बाहु बहिः प्रकोष्ठिक पेशी स्थित होती है जो प्रगंडिका के निम्न तृतीय भाग के पार्श्व भाग से बहिः प्रकोष्ठिका तक विस्तरित है। यह पेशी कोहनी संधि को मोड़ने तथा बहिः प्रकोष्ठिक को घुमाने में भाग लेती है।

अग्र बाहु की अग्र व पश्च पेशियों के नाम उन द्वारा किये जाने वाले कार्य को इंगित करते हैं।

हस्त की पेशियां (चित्र 58) हस्त समतल पर स्थित होती हैं तथा तीन ग्रुपों में बाँटी गई हैं:

(1) **थिनार पेशियां**, (2) **मध्य ग्रुप** तथा (3) **हाइपोथिनार पेशियां**।

अंगुष्ठ में चार लघु पेशियाँ होती हैं: **आकोचनी, अपवर्तनी, अभिवर्तनी** तथा **आंपोनेन्स**।

हस्त पेशियों का मध्य ग्रुप **चार कृमिल पेशियों** (जो निकटस्थ अंगुलास्थियों को मोड़ देती हैं और मध्यवर्ती एवं अंगुष्ठस्थि को विस्तरित करती हैं), तथा **तीन करतलीय अंतरास्थिय पेशियों** (जो अंगुलियों का अभिवर्तन करती हैं) से बना होता है।

छोटी अंगुलि की निम्न पेशियाँ होती हैं: **लघु करतलीय** (हस्त की) **फ्लेक्सर डिजिटी क्वीन्टी ब्रीवीस** (flexor digiti quinti brevis), **डिजीटी क्वीन्टी अपवर्तनी** (हस्त की), तथा (हस्त की) **ओपेनेन्स डिजिटी ब्रीवीस**।

संपट्ट. अंस मेखला की पेशियों के संपट्ट काफ़ी प्रत्यक्ष होते हैं।

ऊपरी बाहु के संपट्ट ऊपरि बाहु की सभी पेशियों मे विद्यमान होते हैं तथा इसके अतिरिक्त दो काफी सघन अन्तरापेशी पट्ट बनाते हैं जिन्हें आन्तरिक और बाह्य पट्ट कहते हैं। बाह्य पट्ट ऊपरि बाहु पेशियों के अग्र ग्रुप को पश्च ग्रुप से पृथक करते हैं।

अग्रबाहु के संपट्ट असमान होते हैं। अग्र बाहु के ऊपरि भाग में सतही पेशियों के कण्डरामय तंतु होते है। हस्त के साथ इसकी सीमा पर ये वलयाकार रूप से मोटे होते जाते हैं। संपट्ट के इस पश्च भाग को उपबंधनी प्रसारिणी (पेशी की), तथा अग्र भाग को उपबंधनी आकोचिनी कहते हैं। इनसे अस्थियों की ओर संयोजी ऊतक पट्ट निकलते हैं जिनके फलस्वरूप रेशेदार नलिकाएँ बनती हैं (प्रायः छः नलिकाएँ उपबंधनी आकोचिनी के नीचे होती हैं)। रेशेदार नलिकाओं में स्राव झिल्लियों की परते होती हैं जो अग्र-बाहु से हस्त तक विस्तरित पेशियों के स्राव कण्डरा-छद बनाते हैं। स्राव छदों में स्राव तरल होता है जो पेशी के संकुचित होने के समय घर्षण को कम करने में मदद देता है।

हस्त के करतलीय पक्ष पर स्थित संपट्ट एक सघन पट्ट है जिसे करतलीय कण्डराकला सपाट कहते हैं। पृष्ठ पक्ष पर स्थित संपट्ट अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्ष होता है।

प्रत्येक अंगुलि के करतलीय पक्ष पर अस्थिल रेशेदार नलिका होती है जिस में पेशी के कण्डरा (अंगुलियों के फ्लेक्सर) स्राव छदों में लिपटे हुये होते हैं। प्रथम तथा पंचम अंगुलि के फ्लेक्सरों के स्राव छद हस्त के क्षेत्र में इन पेशियों के कण्डराओं को घेरे हुए होते हैं तथा मणिबंध तक पहुँचते हैं।

ऊपरि अग्रांग पर कक्षक तथा मध्योत्तर खात काफ़ी व्यावहारिक महत्व रखते हैं;

अग्र रूप से कक्षक बृहत् अंसपेशी द्वारा, पश्च भाग की ओर से अंसफलकाधस्थ पेशी द्वारा, बाहर की ओर से प्रगंडिका के ऊपरि सिरे एवं ऊपरि बाहु की संलग्न पेशियों द्वारा, और आन्तरिक ओर से अग्र ककचिनी पेशी द्वारा घिरा हुआ होता है। कक्षक ढीले कोशिकीय ऊतक से भरा हुआ होता है जिसमें तंत्रिकाँए रुधिर वाहिकाएँ और लसीका नीड स्थित होते हैं।

अंतः प्रकोष्ठिक खात बाहु बहिः प्रकोष्ठिक पेशी तथा टेरेस अवतानिनी पेशी के बीच कोहनी संधि के आगे स्थित होती है। बाहु धमनी रेशों के पट्ट के नीचे स्थित होती है, जबकि अवत्वक परत में उपरिस्थ शिरे स्थित होते हैं।

श्रोणि की पेशियां

श्रोणि पेशियों को आन्तरिक पेशियों (इलियोपसोअस, नाखरूप, तथा आन्तरिक श्रोणिरंध्र) तथा बाह्य पेशियों (तीन नितंब पेशी, बाह्य श्रोणिरंध्र, चतुष्कोणीय उर्विका तथा टेन्सर पार्श्व संपट्ट) में विभाजित किया गया है।

इलियोपसोअस पेशी कटि-कशेरूक तथा श्रोणि खात पर दो भागों में आरम्भ होती है, वंक्षण स्नायु के नीचे उर्विका तक विस्तरित होती है तथा इसका निवेशन उर्विका निम्न शिखरक पर होता है। यह पेशी श्रोणि-संधि को मोड़ती है तथा उर्विका को बाहर की ओर घुमाती है। जब पाँव स्थित होता है, तो यह रीढ़ के कटि-भाग को मोड़ती है।

नाखरूप पेशी का उदगम सेक्रम के अग्र तल पर होता है तथा नितंब महारंध्र में से गुजरते हुये वास्तविक श्रोणि के बाहर निकल जाती है।

आन्तरिक श्रोणिरंध्र पेशी का उद्गम श्रोणि अस्थि पर श्रोणि-रंध्र के चारों ओर होता है तथा नितंब निम्नरंध्र में से गुज़रते हुये यह वास्तविक श्रोणि के बाहर आ जाती है। नात्वरूप तथा आन्तरिक श्रोणिरंध्र पेशियों का निवेशन उर्विक के महा शिरवरक पर होता है और यह उर्विका को बाहर की ओर घुमाता है।

नितंब महापेशी (दे० चित्र 57) का उद्गम इलियम व सेक्रम के पार्श्व तल पर होता है और इसका निवेशन उर्विका के नितंब गण्डक पर होता है। यह श्रोणि संधि को विस्तरित करती है तथा जब पाँव स्थिर होता है यह कांड को विस्तरित करती है।

नितंब मध्य पेशी तथा लघु पेशी का उद्गम इलियम के पार्श्व तल पर होता है और इनका निवेशन उर्विका के महा शिरवरक पर होता है; दोनों पेशियाँ उर्विका का अपवर्तन करती हैं।

बाह्य श्रोणि रंध्र पेशी का उद्गम श्रोणि अस्थि पर श्रोणि-रंध्र के बाह्य पक्ष के चारों ओर होता है। चतुष्कोणीय उर्विका पेशी का उद्गम आसनास्थि गण्डक पर होता है। दोनों पेशियों के निवेशन उर्विका के महा शिरवरक पर होते हैं। ये पेशियाँ उर्विका को बाहर की ओर मोड़ती हैं।

टेन्सर पार्श्व संपट्ट का उद्गम अग्र महा श्रोणि मेरूड पर होता है तथा यह उर्विका के विस्तृत संपट्ट में लिपट जाती है और इस संपट्ट में तनाव उत्पन्न करती है।

पाँव की पेशियां

पाँव की पेशियों को ऊरू पेशी, जंघां पेशी तथा पैर की पेशी में बाँटा गया है।

ऊरू पेशियाँ तीन ग्रुपों में हैं:—अग्र, पश्च तथा मध्यवर्ती। अग्र ग्रुप में चतुः शिरस्क उर्विका तथा जानुश्रोणि आकोंचनी पेशियाँ आती है।

चतुःशिरस्क उर्विका एक शक्तिशाली पेशी है; इसमें उदरीय उर्विका पेशी तथा तीन बृहदिका पेशियाँ सम्मिलित हैं। उदरीय उर्विका का उद्गम अग्र निम्न श्रोणि

मेरूंड पर होता ह, तथा तीन बृहदिका पेशियों का उद्गम उर्विका पर होता है। और नीचे आने पर, सभी चारों पेशियाँ एक सामान्य कण्डरा में जुड़ जाती हैं जो पटेला को चारों ओर से घेर लेता है तथा जिसका निवेशन टिबिया के अस्थिप्रोत्थ पर होता है। इस पेशी के कण्डरा के नीचले भाग को पटेला स्नायु कहते हैं। इस स्नायु पर एक विशेष (प्रतिवर्ति) हैमर द्वारा चोट करने के फलस्वरूप तथाकथित पटेला प्रतिवर्त उत्पन्न होता है। चतुःशिरस्क उर्विका पेशी जानु संधि की प्रसारिणी है।

जानु श्रोणि आकोचनी पेशी, मानवीय शरीर में सबसे लम्बी पेशी होती है, जिस का उदगम अग्र महा श्रोणि मेरूंड पर होता है। यह तिर्यक रूप से नीचे तथा अन्दर की ओर विस्तरित होती है, एवं इसका निवेशन टिबिया पर उसके अस्थिप्रोत्थ के समीप होता है। यह पेशी श्रोणि तथा जानु संधियों को मोड़ने में भाग लेती है।

पश्च ग्रुप में तीन पेशियाँ सम्मिलित हैं: **कंडरार्ध पेशी, कलार्द्ध पेशी** तथा **ऊरू द्विशिरस्क पेशी।** सभी तीनों पेशियों का उद्गम आसनास्थि गण्डक पर होता है। कंडरार्ध तथा कलार्द्ध पेशियों का निवेशन टिबिया पर होता है तथा ऊरू-द्विशिरस्क का निवेशन बहिर्जंघिका पर होता है। ये पेशियाँ श्रोणि संधि को विस्तरित करती हैं तथा जानु संधि को मोड़ती है। जब जानु संधि मुड़ी हुई होती है, तो द्विशिरस्क जंघा को बाहर की ओर घुमाते हैं तथा अन्य दो पेशियाँ इसे अन्दर की ओर घुमाती हैं।

ऊरू पेशियों के आन्तरिक ग्रुप में पाँच पेशियां सम्मिलित हैं: **अग्रोरुपेशी, तनु-पेशी** तथा **तीन अभिवर्तनी पेशियां**—दीर्घ, लघु तथा महा। इन पेशियों का उद्गम जघनास्थि तथा श्रोणिखण्ड पर होता है तथा इनका निवेशन उर्विका पर होता है (यहाँ तनुपेशी अपवाद है; इसका निवेशन टिबिया पर होता है); ये सभी पाव का अभिवर्तन करती हैं।

जंघा पर पेशियों के तीन ग्रुप होते हैं: अग्र, पश्च तथा पार्श्व। जंघा की सभी पेशियाँ पैर तक विस्तरित होती हैं।

अग्र ग्रुप में तीन पेशियाँ होती हैं: अग्र अंतर्जंघिका पैर के एक्सटेन्सर डिजिटोरस लोंगस और ऐक्सटेन्सर हैलूसिस लोंगस। अग्रअंतजघिका पैर को आकुंचित करती है और मोड़ती है जबकि शेष दो पेशियाँ पादांगुलियो को विस्तरित करती हैं।

पश्च ग्रुप में चार पेशियाँ हैं: त्रिशिरस्क अधिगुद, पश्च अन्तःर्जंघिका, फ्लेक्सर डिजिटोरस लोंगस तथा फ्लेक्सर हैलूसिस लोंगस। त्रिशिरस्क अधिगुद एक शक्तिशाली पेशी है; यह समतल के समीप स्थित होती है तथा वास्तव में दो पेशियों गैस्ट्राक्निमियस और सोलियस से मिल कर बनती है। ये दो पेशियाँ एक सामान्य कण्डरा बनाती हैं (एकिलिस कण्डरा); जिसका निवेशन पार्ष्णिका के पश्च समतल पर होता है। त्रिशिरस्क अधिगुद टरवनों की संधि को मोड़ती (यह पार्ष्णि को ऊपर उठाती

है जब व्यक्ति अपनी पादांगुलियों पर खड़ा होता है)। त्रिशिरस्क अधिगुद के नीचे पश्च अंतःजंघिका-फ्लेक्सर डिजिटोरस लोंगस तथा फ्लेक्सर हैलूसिस लोंगस पेशियाँ स्थित होती है। ये पेशियाँ पैर के आन्तरिक गुल्फवर्ध के पीछे तक विस्तरित होती हैं। पश्च अतःजंघिका प्लैनटैर पैर को मोड़ती हैं तथा उल्टा करती है; अन्य दो पेशियाँ पादांगुलियों को मोड़ती हैं।

पार्श्व ग्रुप में दो पेशियाँ होती हैं: पादविवर्तनी लोंगस तथा लघु पादविवर्तनी। ये पेशियाँ बाह्य गुल्फवर्ध के चारों ओर घूमते हुये श्रोणि से पैर तक विस्तरित होती हैं। ये पैर को बहिर्बलित करती हैं तथा मोड़ती हैं।

पैर की पेशियां. ये पेशियाँ पृष्ठ तथा प्लैनटैर पेशियों में बाँटी गई हैं। पैर के पृष्ठ भाग पर एक पेशी होती है जिसे (पैर की एक्टेन्सर डिजिटोरम ब्रीवीस कहते हैं। पाँच पादांगुलियों के लिये इसके पाँच कण्डरा होते हैं। पैर के सोल की पेशियों को तीन ग्रुपों में विभाजित किया गया है: आमध्यवर्ती, पार्श्व तथा मध्यवर्ती। प्रथम ग्रुप में तीन पेशियाँ सम्मिलित हैं: फ्लेक्सर हैलूसिस ब्रीवीस, अपवर्तनी हैलूसिस तथा अभिवर्तनी हैलूसिस। पार्श्व ग्रुप में भी तीन पेशियाँ होती हैं: फ्लेक्सर डिजिटी क्वींटी ब्रीवीस (पैर की); अपवर्तनी डिजिटी क्वींटी (पैर की); ओपोनेन्स डिजिटी क्वींटी (पैर की)। मध्य ग्रुप में फ्लेक्सर डिजिटोरम ब्रीवीस (जो पादांगुलियों को मोड़ती हैं), चार कृमिल पेशियाँ (जो निकटस्थ अंगुलास्थियों को मोड़ती हैं), तीन प्लैनटैर अन्तरास्थि पेशियाँ (जो पादांगुलियों का अभिवर्तन करती हैं) तथा चार पृष्ठ अन्तरास्थि पेशियाँ (जो पादांगुलियों का अपवर्तन करती हैं) सम्मिलित हैं। पैर की अधिकांश पेशियों के नाम उनके प्रकार्य को स्पष्टतः सूचित करते हैं।

संपट्ट. श्रोणि की आन्तरिक पेशियाँ एक संपट्ट में बंधी होती हैं जो उदरीय कोटर की परत बनाता है (अंतः उदरीय संपट्ट)। नितंबिका पेशियाँ एक सुस्पष्ट संपट्ट में स्थित होती हैं जो नितंब मैक्सीमस पेशी को संयोजी ऊतक प्रवर्ध देता है; ये प्रवर्ध पेशी बंडलों को एक दूसरे से अलग रखते हैं।

ऊरू संपट्टों को संपट्ट लैटा (fascia lata) कहते हैं। यह मानव शरीर में सर्वाधिक शक्तिशाली संपट्ट होता है। ऊरू के पार्श्व समतल में यह विस्तृत पट्ट के रूप में इकट्ठा हो जाता है। संपट्ट लैटा से तीन अन्तरापेशी संपट्ट सैप्टा निकलते हैं जो ऊरू पेशियों के तीन ग्रुपों को परस्पर अलग करते हैं। ऊरू के अग्र भाग में वंक्षण स्नायु के नीचे एक क्षेत्र (अंडाकार खात) है जहाँ संपट्ट लैटा महीन हो जाता है। यहाँ संपट्ट लैटा महा सेफेनस शिरे और लसीका वाहिकाओं के लिए मार्ग बनाता है। संपट्ट के इस भाग को क्रिबरोसा स्तरिका कहते हैं।

श्रोणि के संपट्ट श्रोणि की सभी पेशियों में वि द्यमान होते हैं। यह संपट्ट श्रोणि के निम्न भाग में काफी गाढ़ा हो जाता है जिसे उर्ध्व स्नायु कहते हैं तथा जो एक्स्टेंसर पेशी को सहारा देता है। टरवना संधि के पास श्रोणि पेशियों के कण्डरा,

जो पैर तक विस्तरित होते हैं, स्राव छद में बंद होते हैं। संधि के अग्र समतल पर तीन स्राव छद होते हैं तथा तीन स्राव छद आन्तरिक गुल्फवर्ध के पीछे स्थित होते हैं। बाह्य गुल्फवर्ध के पीछे एक सामान्य पेरोनियल छद स्थित होता है।

पैर के पृष्ठ भाग पर संपट्ट महीन होता है लेकिन टखना संधि के समीप यह मोटा हो जाता है और निम्न स्नायु बनाता है जो ऐक्स्टेंसर पेशी को पकड़ता है। प्लैनटैर संपट्ट एक बहुत ही सघन पट्ट है जिसे प्लैनटैर कण्डराकला सपाट कहते हैं।

निम्न अग्रांगो पर उर्विका त्रिभुज उर्विका नलिका तथा जानुपृष्ठ खात अत्यधिक व्यावहारिक महत्व रखते हैं।

उर्विका त्रिभुज. ऊपर की ओर से उर्विका त्रिभुज वंक्षण स्नायु द्वारा, पार्श्व से सारटोरियस पेशी द्वारा तथा मध्यवर्त्ती ओर से अभिवर्तन लोंगस पेशी द्वारा बंधा हुआ होता है। इसमें सबसे बडी ऊरू की रूधिर वाहिका होती है: उर्विका धमनी एवं शिरा, गहन उर्विका धमनी एवं शिरा तथा महा सेफेनस शिरे का अन्तिम भाग।

उर्विका नलिका. उर्विका नलिका उर्विका त्रिभुज के क्षेत्र में वंक्षण स्नायु के मध्यवर्ती भाग के नीचे स्थित होती है। सामान्यतः यह होती ही नहीं है लेकिन उर्विका हर्निया की अवस्था में बनती है, अर्थात् जब ऊरू की त्वचा के नीचे ग्रसनी बाहर निकलने लगती है। उर्विका नलिका की लम्बाई दो से० मी० होती है। इसकी दीवारें लैटा संपट्ट तथा उर्विका शिरे की दो परते बनाती है। सामान्यतः, हार्निया की उनुपस्थिति में इन संरचनाओं के बीच इस छोटे स्थान में कोशिकीय ऊतक तथा लसीका वाहिकाएँ होती हैं। नलिका में दो प्रवेश द्वार होते हैं–मध्यवर्ती तथा पार्श्व। मध्यवर्ती द्वार वंक्षण स्नायु के मध्यवर्ती छोर और जघनास्थि द्वारा बंधा होता है तथा यह संपट्ट एवं पर्युदर्या में स्थित होता है। पार्श्व द्वार लैटा संपट्ट पर दंदरता के अनुरूप होता है जिसे अंडाकार खात कहते हैं। यह ऊरू के ऊपरि भाग में स्थित होता है।

जानुपृष्ठ खात. जानुपृष्ठ खात टखना संधि के पश्च समतल पर स्थित होती है। यह पार्श्व में पश्च ऊरू पेशियों के कण्डरों एवं गैस्ट्राक्निमियस पेशी के दो सिरों द्वारा बंधी होती है। इसमें विशाल रूधिर वाहिकाएँ (जानुपृष्ठ धमनी और शिरे) तथा तंत्रिकाएँ (सामान्य पेरोनियल और टिबियां) स्थित होती हैं जो कोशिकीय ऊतक में बंद होती हैं।

पेशियों का शरीर-क्रिया विज्ञान

पेशियों के मुख्य गुण

अन्य सभी ऊतकों की भांति पेशी ऊतकों में उत्तेज्यता गुण विद्यमान होता है, अर्थात् उनमें उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया करने एवं सक्रिय होने की योग्यता होती

है। पेशी ऊतकों का मुख्य प्रकार्य, जो इन्हें अन्य ऊतकों से पृथक करता है, संकुचित होना है, अर्थात उनका छोटा हो जाना है। संकुचित होने पर पेशी छोटी तथा मोटी हो जाती है, लेकिन इसके आयतन में शायद ही कोई फ़र्क पड़ता हो। संकुचित होने पर भी पेशियाँ कार्य कर सकती हैं।

जीव में पेशियों का सक्रिय तथा संकुचित होना तंत्रिका आवेग के कारणों से होता है जो प्रेरक तंत्रिकाओं के माध्यम से इन तक केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र द्वारा पहुँचते हैं। जैसा कि पहले ही नोट कर लिया गया है रेखित पेशी का संकुचन चेतना (ऐच्छिक गति) द्वारा नियंत्रित होता है, जबकि चिकनी पेशियों का नियंत्रण अनैच्छिक रूप से होता है।

पेशियों में तन्यता का गुण भी विद्यमान होता है अर्थात उनमें (एक निश्चित सीमा तक) खींचे जाने की क्षमता होती है। जब पेशी को खींचने का कारण लुप्त हो जाता है, तो पेशी अपनी पूर्व अवस्था ग्रहण कर लेती है; इस गुण को प्रत्यास्थता कहते हैं।

पेशियों का अध्ययन करने की विधि

प्रयोगशालाओं में पेशियों के शरीर क्रिया वैज्ञानिक गुणों का अध्ययन तथाकथित तंत्रिकापेशिय विरचन (पृथक पेशियों) पर एक विशेष उपकरण की मदद से किया जाता हैं। उदाहरणतया, पृथक पेशी का संकुचन मायोग्राफ़ की मदद से रिकार्ड किया जाता है। यह उपकरण एक टेक, एक क्लैम्प तथा एक कलम से बना होता है (चित्र 59)। कलम का स्वतंत्र सिरा एक घूमने वाले सिलिंडर तक लाया जाता
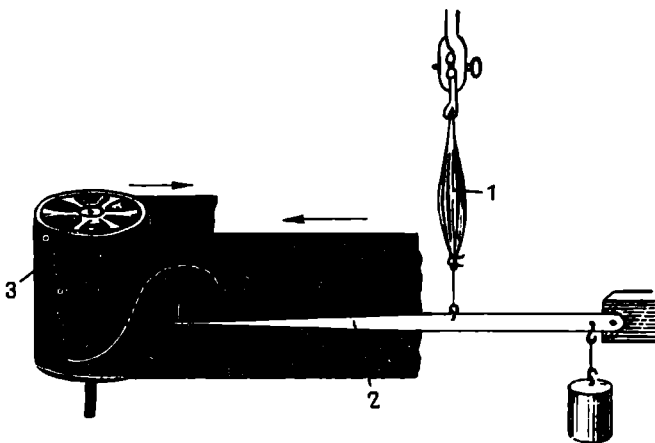
चित्र 59. पेशी संकुचन के वक्र का अभिलेखन।
1—गैस्ट्रॉक्निमियस पेशी; 2—कलम बाहु; 3—स्वाभिलेखी सिलिंडर।

है जिसके ऊपर धूम्र परत चढ़ी हुई होती है (स्वाभिलेखी)। तंत्रिकापेशिय विरचन मेंढ़क के पिछले पैरों से निकाला जाता है। यह गैस्ट्रक्निमियस पेशी, इसकी नितंब तंत्रिका तथा उस उर्विका से बना होता है जिसके साथ पेशी बंधी हुई होती है। पेशी का एक सिरा मायोग्राफ के साथ बाँध दिया जाता है, तथा दूसरा सिरा कलम के साथ बाँध दिया जाता है (पेशी का संकुचन प्रत्यक्ष उद्दीपन या तंत्रिका द्वारा उद्दीपन करके किया जा सकता है)। पेशी के संकुचित होने पर कलम का स्वतंत्र सिरा पेशी संकुचन का वक्र बनायेगा। इस वक्र को मायोग्राफ कहते है (चित्र 59)। सम्पूर्ण जीव में पेशी के व्यावहारिक गुणों के अध्ययन के लिए अन्य उपकरण एवं यंत्र, जिनमें कुछ काफी जटिल होते हैं, प्रयोग किये जाते हैं। इन यंत्रों एवं उपकरणों की मदद से पेशी की कार्य क्षमता का अध्ययन (अर्गोग्राफ), पेशी में कार्य विभवों के उत्पन्न होने का अध्ययन करना, इत्यादि सम्भव हो जाता है।

पेशी संकुचन

पेशी केवल उस स्थिति में संकुचित होगी जब उद्दीपन किसी निश्चित बल का होगा। पेशी में अनुक्रिया उत्पन्न करने के योग्य उद्दीपन की निम्नतम सीमा देहली उद्दीपन (threshold stimulus) कहलाती है। इससे कम बल का उद्दीपन (जो पेशी में संकुचन पैदा नहीं कर सकता) सब्लीमीनल (subliminal) कहलाता है, तथा देहली उद्दीपन से अधिक बल का उद्दीपन सूप्रालीमीनल (supraliminal) कहलाता है।

पेशी के संकुचित होने की डिग्री कुछ सीमा तक उद्दीपन के बल पर निर्भर करती है। इसका कारण यह है कि पेशी को बनाने वाले पेशी तंतुओं की उत्तेजन करने की डिग्री भिन्न-भिन्न होती है। इनमें से कुछ का संकुचन क्षीण उद्दीपन की अनुक्रिया में हो जाता है (उच्च उत्तेजन) तथा कुछ का संकुचन प्रबल उद्दीपन की अनुक्रिया में होता है (निम्न उत्तेजन)। इसलिए उद्दीपन के बल में वृद्धि (देहली उद्दीपन से अधिक) के फलस्वरूप पेशी संकुचन की डिग्री में भी वृद्धि होगी।

रेखित पेशियों के संकुचन के फलस्वरूप प्रायः एकल पेशी संकुचन तथा दीर्घ संकुचन अथवा टिटेनस में विभेद किया जाता है।

एकल पेशी संकुचन को कृत्रिम रूप से प्रयोगशाला में तंत्रिकापेशीय विरचन द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। यह एकल लघु उद्दीपन (एक आवेग) की अनुक्रिया में उत्पन्न होता है। एकल पेशी संकुचन के मायोग्राम (चित्र 60A) में तीन कालांतर हैं। उद्दीपन लागू करने के कुछ समय पश्चात पेशी संकुचित होना आरम्भ करती है। प्रथम काल उद्दीपन के लागू होने तथा पेशी के संकुचित होने के बीच का समय **अव्यक्त उत्तेजन का काल** अथवा **अव्यक्त काल** कहलाता है। मानव पेशियों के लिये इस काल को एक सेकेण्ड के हजारवें अंश में मापा जाता है। इसके
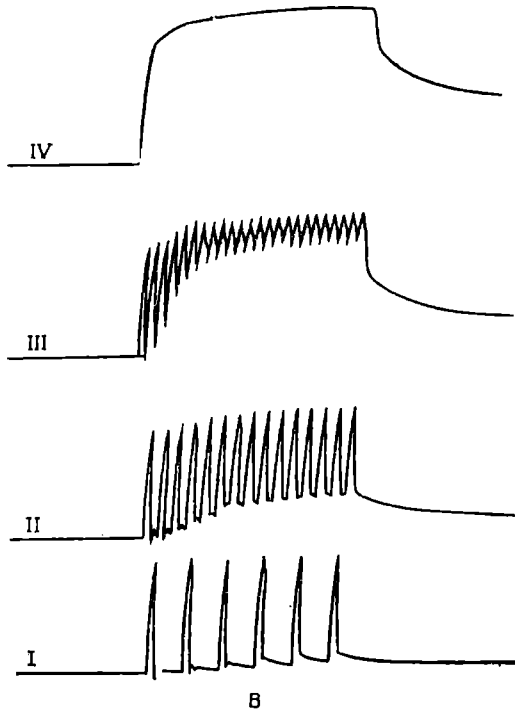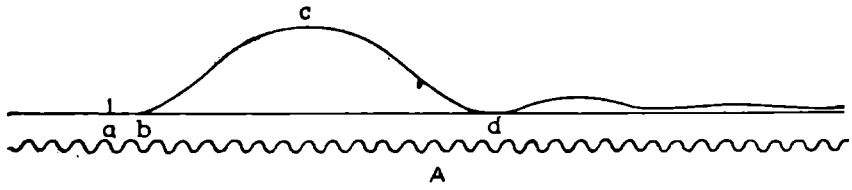
चित्र 60. A – एकल पेशी संकुचन का वक्र (स्फुर)

a – उद्दीपन का क्षण ; b – संकुचन का प्रारम्भ ; ab – अव्यक्त काल ; bcd – संकुचन वक्र ।

B – विभिन्न धनुस्तम्भ

I – एकल संकुचन ; II तथा III – दन्ती (अपूर्ण) धनुस्तम्भ ; IV – विष्कोण धनुस्तम्भ (पूर्ण)

पश्चात दूसरा काल आरम्भ होता है जिसे **संकुचन काल** अथवा **पेशी का छोटा** होना कहते हैं। तीसरे काल को **पेशी की विश्रांति का काल** कहते हैं।

एकल संकुचन के दौरान पेशी उत्तेजना भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरणतया, अव्यक्त काल के समय पेशी आरम्भ में अनुत्तेजित (उच्चतापसह) होती है; संकुचन काल में इसका उत्तेजन धीरे-धीरे बढ़ता है तथा विराम अवस्था (उत्कर्ष कला) की तुलना में अधिक उच्च स्तर तक पहुँच जाता है। अंत में विश्रांति काल के समय इसका उत्तेजन कम हो जाता है, तथा विराम अवस्था में प्रवेश करने के लिये अपने प्रारम्भिक स्तर में पुनः वापस आ जाता है।

अस्पृष्ट शरीर में पंजरी पेशियो का संकोचन कोई एकल प्रक्रिया नहीं, बल्कि टिकाऊ (पोषित) प्रक्रिया है। टिटेनिक संकुचन के उत्पन्न होने का आधार यह तथ्य है कि जीव में उद्दीपन केन्द्रिय तंत्रिका केन्द्र से पेशियों तक एकल आवेगों के रूप में नहीं अपितु स्पंदनावेगों के तीव्र अनुक्रम में पहुँचते हैं। पोषित टिटेनिक संकुचन स्पंदनावेगों की आवृति पर निर्भर करता है। यदि स्पंदनावेगों के मध्य समय की अवधि एकल संकुचन की अवधि (0.1 से:) से अधिक है, तो एकल पेशी संकुचनों की शृँखला उत्पन्न होती है (चित्र 60, B-I)। यदि स्पंदनावेगों की आवृति अधिक है तथा प्रत्येक परिवर्ती स्पंदनावेग पेशी तक उस क्षण में पहुँचता है जब वह विराम की अवस्था में हो, तो संकुचन का रूप अपूर्ण टिटेनस जैसा हो जाता है (चित्र 60,B-II तथा III)। यदि स्पंदनावेगों की आवृत्ति बढ़ती रहती है, तो वे पेशी तक उत्कर्ष कला के दौरान पहुँचेगे। इसके फलस्वरूप संपूर्ण टिटेनस बनेगी जिसके लिये संतत संकुचन लाक्षणिक है (चित्र 60, B-IV)। स्पंदनावेगों की आवृत्ति इतनी अधिक है कि पूर्ण उत्तेजन के समाप्त होने से पहले ही पेशी में एक नया उत्तेजन पैदा हो जाता है, अतएव, यह स्पष्ट हो जाता है कि पेशी संकुचन का स्वरूप स्पंदनावेगों की आवृत्ति पर निर्भर करता है, तथा संकुचन का मुल्य उद्दीपन के बल तथा आवृत्ति पर निर्भर करता है।

न० व्वेदेन्स्की ने सिद्ध किया कि उद्दीपन की सर्वोत्तम अथवा इष्टतम, आवर्तिता होती है, जो संकुचन की अधिकतम डिग्री देती है (टिटेनस का शिखर)। इष्टतम आवर्तिता विभिन्न मानवीय रेखित पेशियों के लिए भिन्न होती है तथा 100 से 200 आवेग प्रति से० तक हो सकती है।

पेशी स्वरक. सप्राण जीव में पेशियों के विराम की अवस्था में भी पूर्णतया विश्रांत नहीं होती। प्रायः कोई भी पेशी निश्चित तन्यता या स्वरक की अवस्था में होती है। केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र से पेशी तक पहूँचने वाले विरल आवेगों के फलस्वरूप पेशी स्वरक बनते हैं। पेशी के स्वरक संकुचन के समय उनके उपापचय में प्रत्यक्ष रूप से कोई वृद्धि नहीं होती है। शरीर का स्थायित्व एवं स्थिति पेशी स्वरक के कारणवश होती है।

पेशियों में उपापचय

कार्यरत पेशियों में गहन उपापचय स्थान लेता है जिसके साथ साथ जटिल रासायनिक रूपांतरण होते है जिनके फलस्वरूप अधिक मात्रा में ऊर्जा का विमोचन एवं व्यय होता है, कुछ रासायनिक अभिक्रयाएँ ऑक्सीजन के बिना ही होती हैं (अनॉक्सी या अवायु कला), जबकि अन्य अभिक्रियाओं के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है (आक्सीजिनस या वायु कला)।

अवायु कला में जटिल फॉस्फोरस यौगिकों (ऐडेनोसिन ट्राईफास्फोरिक अम्ल, इत्यादि) का वियोजन होता है, जिसके फलस्वरूप ऊर्जा का अधिक मात्रा में विमोचन होता है। यह ऊर्जा पेशियों के संकोचन में खर्च होती है।

ग्लाइकोजन का वियोजन भी उसी समय होता है। विमोचन हुई ऊर्जा को फॉस्फोरस यौगिकों के उनसे वियोजित उत्पादों के पुनर्सश्लेषण के लिये प्रयोग किया जाता है। अवायु कला में ग्लाइकोजन का वियोजन होता है ताकि लैक्टिक अम्ल प्राप्त हो सके।

वायु कला में लैक्टिक अम्ल का कुछ भाग जल तथा कार्बन डाइआक्साइड जैसे अंत्य उत्पाद के रूप में देने के लिए वियोजित हो जाता है। इसी समय ऊर्जा का विमोचन होता है तथा यह लैक्टिक अम्ल के शेष भाग को पुनः ग्लाइकोजन में परिवर्त्तित करने के लिए प्रयुक्त होती है। पुनर्संश्लिष्ट ग्लाइकोजन फास्फोरस यौगिकों के पुर्नसंश्लेषण के लिए प्रयुक्त होती है। अतएव, अवायु एवं वायु कलाओं में रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप ग्लाइकोजन का केवल एक-तिहाई भाग ही अन्य उत्पादों में वियोजित होता है तथा इसका दो-तिहाई भाग पुनर्संश्लिष्ट हो जाता है। जैसे कि ग्लाइकोजन एवं फास्फोरस यौगिकों का पुनर्संश्लेषण होता है, पेशियाँ इन पदार्थों एवं ऊर्जा को अधिक मितव्ययी रूप से प्रयुक्त करती हैं।

चिकनी पेशियों के गुण

चिकनी पेशियाँ खोखले आन्तरिक अंगों (आमाशय, आंत्र आशय आदि) और रूधिर वाहिकाओं की दीवारों के अन्दर स्थित होती हैं। रेखित पेशियों की तुलना में चिकनी पेशियों के मुख्य व्यवहार्य गुण निम्न हैं।

रेखित पेशियों की अपेक्षा चिकनी पेशियों में उत्तेजना का अव्यक्त काल अधिक दीर्घ होता है। इसी प्रकार चिकनी पेशियों में देहली उद्दीपन अधिक होता है इसलिये उनकी उत्तेजना निम्नतर होती है। रेखित पेशियाँ अधिक धीरे-धीरे तथा अधिक समय के लिए संकुचित होती हैं।

चिकनी पेशियाँ दीर्घ संकुचन की अवस्था में हो सकती है लेकिन यह टिटेनस नहीं होता है जो रेखित पेशियों के लिए लाक्षणिक है। चिकनी पेशियों के दीर्घ

अथवा स्वरक संकुचन के दौरान उनका उपापचय अधिक परिवर्तित नहीं होता, जैसा कि रेखित पेशी के टिटेनस की अवस्था में होता है। यह याद रखना चाहिये कि चिकनी पेशियों में उपापचय रेखित पेशियों की तुलना में कम तीव्र होता है। रेखित पेशियों की अपेक्षा चिकनी पेशियों में अधिक तन्यता होती है जो अंगों के प्रकार्यों के लिये बहुत आवश्यक है जिनकी क्षमता काफ़ी हद तक परिवर्तित हो सकती है (आशय, गर्भाशय)। चिकनी पेशियों के संकुचन पर न केवल खोखले आन्तरिक अंगों की क्षमता बल्कि उनकी अंतर्वस्तु की गति भी (उदाहरणतया, पाचन-क्षेत्र में से खाद्य का गुज़रना) निर्भर करती है।

पेशियों का कार्य

पेशियाँ संकुचित होने पर कार्य करती हैं। कार्य की कोई भी मात्रा किलोग्राम-मीटर (कि० मी०) में मापी जाती है, अर्थात भार (कि० ग्रा० में) तथा ऊँचाई (मी०) मे, जिस तक यह उठाया जाता है, के गुणनफल द्वारा व्यक्त होती है। पेशी का कार्य उसके बल और लम्बाई पर निर्भर करता है। पेशी का बल उसको बनाने वाले सभी पेशी तंतुओं के अनुप्रस्थ काट का अनुक्रमानुपाती होती है। अन्य शब्दों में, पेशी जितनी घनी होगी, उतना ही अधिक भार यह उठा सकती है। भार को उठाने की ऊँचाई पेशी की लम्बाई पर निर्भर करती है। अतएव, पेशी जितनी अधिक घनी एवं लम्बी होगी वह उतना ही अधिक कार्य कर सकेगी।

पेशी श्रांति

कोई भी पेशी निरंतर कार्य नहीं कर सकती। दीर्घ एवं निरंतर कार्य के दौरान यह धीरे-धीरे अपनी कार्य क्षमता खो देती है। इस अवस्था को पेशी श्रांति कहते हैं। पेशी श्रांति में पेशी संकुचन का बल कम हो जाता है तथा संकुचन कम हो जाते हैं। पेशी उत्तेजना के दीर्घ अव्यक्त काल तथा नियत पेशियों की कम उत्तेजना पेशी श्रांति के लक्षण हैं। पेशी श्रांति का आरम्भ पेशी संकुचन की आवृति पर निर्भर करता है। अति निरंतर संकुचन तीव्र श्रांति उत्पन्न करता है। पेशी क्षमता की अवधि कार्य भार पर भी निर्भर करती है। संकुचन की स्पष्टतम आवृत्ति तथा इष्टतम कार्य भार प्रत्येक पेशी के लिए ज्ञात किया जा सकता है ताकि यह सबसे दीर्घ सम्भव अवधि तक अपनी कार्य क्षमता बनाये रखे। अतः यह सिद्ध हो जाएगा कि कार्य भार तथा गति की आवर्तिता शारीरिक कार्य में संलग्न मनुष्य की कार्य-क्षमता पर प्रभाव डालते है और इसलिये पूर्ण किये गये कार्य पर भी प्रभाव डालते हैं।

पेशियों की कार्यक्षमता में कमी होना तांत्रिक तथा रासायनिक कारणों पर निर्भर करता है। श्रांति सर्वप्रथम तांत्रिका केन्द्रों में उत्पन्न होती है जो पेशी के कार्य को

नियंत्रित करते हैं, इसके बाद पेशी तंतुओं के प्रेरक तंत्रिकाओं के रेशों (सिनेप्स) में उत्पन्न होते हैं। इसके परिणामस्वरूप तंत्रिका तंत्र से पेशी तक पहुँचने वाले स्पंदनावेगों की प्रकृति परिवर्तित हो जाती है, जिसके कारणवश पेशी सकुंचन के बल और गति में कमी उत्पन्न हो जाती है। विशेष प्रयोगों एवं प्रेक्षणों से ज्ञात हुआ है कि पेशी श्रांति के आरम्भ की तीव्रता तंत्रिका तंत्र की अवस्था पर निर्भर करती है। यह भली-भांति मालूम है कि उदाहरणतया मनुष्य के मानसिक तथा भावात्मक कारण (संगीत, गायन) उसकी कार्य क्षमता पर प्रभाव डालते हैं।

रासायनिक कारण इस तथ्य पर आधारित हैं कि कार्यरत पेशी में उपापचयजों (लैक्टिक अम्ल, आदि) का पूर्णतया आक्सीकरण नहीं होता है, क्योंकि आॅक्सीजन की मात्रा उपयुक्त नहीं होती है। इन उपापचयजों का इकट्ठा होना पेशी श्रांति को उत्पन्न करता है।

संपूर्ण जीव में पेशी की कार्य क्षमता अंगो के अनेक तन्त्रो की व्यावहार्य अवस्था पर निर्भर करती है: जैसे हृदयवाहिका, श्वसन, अंतः स्रावी, इत्यादि। नियमित प्रशिक्षण (व्यायाम) कार्य क्षमता बढ़ाने में महत्वपूर्ण रोल अदा करता है। शारीरिक व्यायाम न केवल पेशियों में परिवर्तन पैदा करता है (उनका विकास तथा बल में परिणामी वृद्धि) बल्कि अंगों के सभी अन्य तंत्रों में भी परिवर्तन लाता है, जैसे, यह हृदयवाहिका तथा श्वसन तंत्रों को दृढ़ बनाता है। यह सभी स्वास्थ्य को उत्तम करता है तथा सहन-सीमा की वृद्धि करता है। सेचेनोव ने कहा था कि मनुष्य का पेशी कार्य मस्तिष्क के विकास में महत्वपूर्ण रोल अदा करता है।

शारीरिक व्यायाम (काइनेसीथैरेपी) रोगी के शीघ्रातिशीघ्र स्वास्थ्य लाभ करने की एक विधि है।

अध्याय 4

श्वसन तंत्र

श्वसन

सामान्य बातें

जीव एवं बाह्य वातावरण के बीच गैसों का विनिमय निरंतर होता रहता है। मनुष्यों, तथा सभी उच्चतर जंतुओं में इस कार्य के लिए एक विशेष उपकरण होता –श्वसन अंगों का तंत्र। श्वसन तंत्र के अंगों में नासा कोटर कठं, श्वासनली, श्वसनी तथा फुफ्फुस (चित्र 61) आते हैं। श्वसन अंगों को उनके प्रकार्यों के आधार पर वायु मार्ग एवं श्वसन मार्गों में विभाजित किया जा सकता है। फुफ्फुसी कूपिकाएँ श्वसन भाग बनाती हैं। वायु एवं रूधिर के बीच गैस-विनिमय इन कूपिकाओं में होता है। शेष सभी श्वसन अंग वायु मार्ग हैं जिनके बीच उच्छवासित तथा निश्वासित वायु गुज़रती है।

ग्रसनी भी एक वायु मार्ग है, क्योंकि श्वसन के समय वायु नासा कोटर से कंठ तक जाते समय इसके नासा तथा मुख भागों में से गुज़रता है।

श्वसन अंगों का एक संरचनात्मक गुण है कि इनमें से अधिकांश की दीवारों का अस्थिमय पंजर होता है तथा इसीलिए ये भग्न नहीं हो जाती; इसीलिये इनमें सदा वायु विद्यमान रहती है। सभी वायु मार्गों पर श्लेष्मा झिल्ली की परत चढ़ी रहती है जिसमें पक्ष्माभी उपकला होती है।

श्लेष्मा झिल्ली में ऐसी ग्रन्थियाँ होती हैं जो इसके समतल पर श्लेष्मा स्रावित करती हैं; धूल तथा रोगाणु जो वायु के साथ आ जाते हैं श्लेष्मा पर चिपक जाते हैं। पक्ष्माभी उपकला के पक्ष्माभ निरंतर निश्वासित वायु की विपरीत दिशा में अनुकम्पन करते रहते हैं तथा इस प्रकार वायु मार्ग को धूल कणों एवं रोगाणुओं से स्वच्छ रखते हैं। फुफ्फुसी कूपिका की दीवारों की विभिन्न संरचना होती है। (दे० फुफ्फुस)।

श्वसन तंत्र का अध्ययन करते समय स्मरण रखना चाहिये कि यह अन्य प्रकार्यों, घ्राणक्रिया एवं ध्वनि उत्पादन क्रिया से सम्बंधित है। घ्राणक्रिया का अंग नासा कोटर में स्थित है; इस अंग की मदद से मनुष्य गन्ध ग्रहण करता है। ध्वनि उत्पादन का अंग कंठ है।
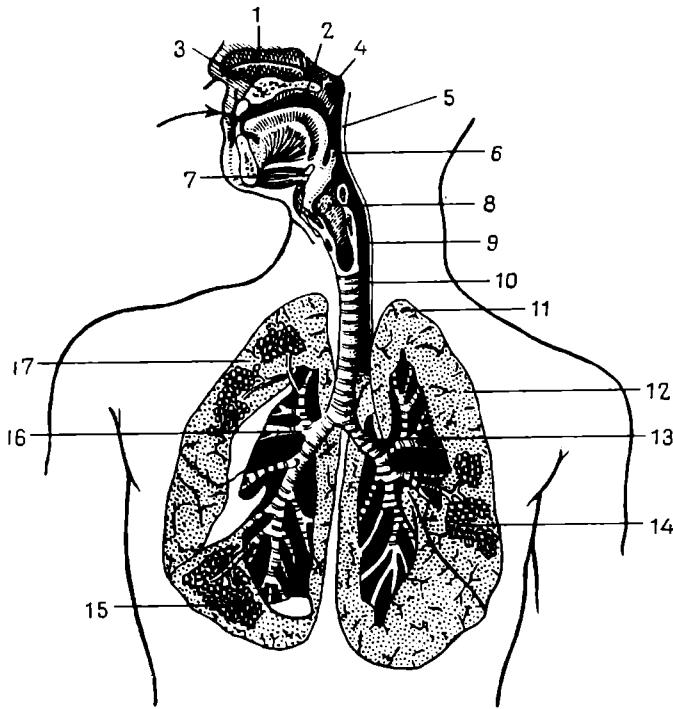
चित्र 61. श्वसन तंत्र (आरेख)

1 – नासा गुहा ; 2 – मुख कोटर ; 3 – कठोर तालु ; 4 – नासा ग्रसनी ; 5 – ग्रसनी का मुख भाग ; 6 – कण्ठच्छद ; 7 – कंठिकास्थि ; 8 – कंठ ; 9 – ग्रासनली ; 10 – श्वासनली ; 11 – वाम फुफ्फुस का शिखर ; 12 – वाम फुफ्फुस ; 13 – श्वसनी ; 14 तथा 15 – फुफ्फुस कूपिका, आवर्धित ; 16 – श्वसनी ; 17 – दक्षिण फुफ्फुस। फुफ्फुस में श्वसनी का वृक्षापन (श्वसनी वृक्ष) दिखाया गया है।

नासा कोटर

श्वसन तंत्र का प्रथम भाग है नासा कोटर (cavum nasi) (चित्र 62)। नासा कोटर में वायु दो छिद्रों, नासाद्वारों, में से प्रवेश करती है। नासा कोटर का पंजर अस्थियों और उपास्थियों द्वारा बनता है। नासा कोटर में उर्ध्व, निम्न, दो पार्श्व दीवारें और एक सेप्टम में विभेद किया गया है। नासा कोटर के ऊपर अग्र कपालीय खात है, इसके नीचे मुख कोटर है, पार्श्व में कक्ष तथा जंभिका विवर है, तथा पश्च भाग में नासाग्रसनी है (नासा कोटर की अस्थि दीवारों का उल्लेख पृष्ठ 78-79 पर किया गया है)। नासा कोटर की दीवारों में सबसे बड़ी उपास्थि
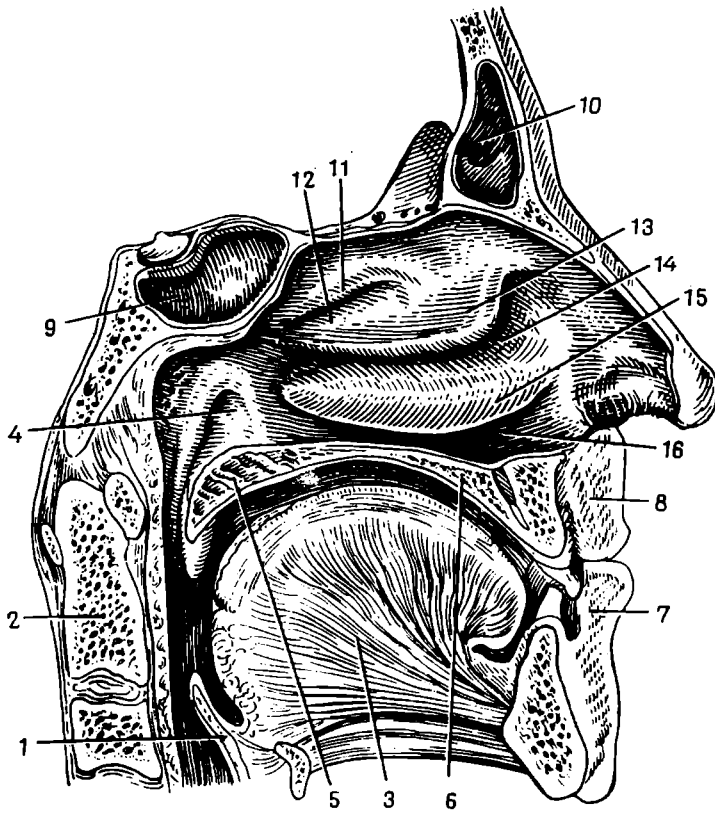
चित्र 62. मुख तथा नासा गुहा (भाग)

1 – कण्ठच्छद ; 2 – द्वितीय ग्रीवा ; 3 – जिह्वा ; 4 – श्रवण नलिका का ग्रसनी रंध्र ; 5 – मृदु तालु ; 6 – कठोर तालु ; 7 – निम्न ओष्ठ ; 8 – ऊपरि ओष्ठ ; 9 – फानरूपी कोटर ; 10 – अग्र कोटर ; 11 – महा शंखिका ; 12 – महा नासा मार्ग ; 13 – मध्यवर्ती शंखिका ; 14 – मध्यवर्ती नासा मार्ग ; 15 – निम्न शंखिका ; 16 – अधो: नासा मार्ग।

दीर्घ पक्षाभ उपास्थि (युगल), और नासा की पटीय उपास्थि है। नासा पट नासा कोटर को दक्षिण एवं वाम अर्धों में विभाजित करता है। तीन नासा शंखिकाएँ नासा कोटर के प्रत्येक अर्ध में पार्श्व दीवारों से लटकी रहती हैं ; नासा शंखिकाओं के बीच तीन नासा मार्ग है – उर्ध्व, मध्यवर्ती तथा निम्न। नासा कोटर की दीवारों पर श्लेष्मा झिल्ली की परत होती है जिस पर पक्ष्माभी उपकला होती है। [illegible]

झिल्ली अपेक्षाकृत मोटी होती है और अनेक उद्दीपनों रासायनिक पदार्थों, संक्रमणों, आदि) के प्रभाव से आसानी से फूल जाती है। इस झिल्ली में अनेक रूधिर वाहिकाएँ और सिटों समेत तंत्र तंतु होते हैं। रूधिर वाहिकाएँ कई जाल बनाती हैं जो विशेषकर नासा पट के अग्र भाग में भली प्रकार विकसित होते हैं जहाँ प्रायः नासा रक्तस्राव होता है। श्लेष्मा झिल्ली की ग्रन्थियाँ श्लेष्मा स्रावित करती हैं जो नासा कोटर की दीवारों को तर करती हैं। श्लेष्मा झिल्ली की सतह पर हमेशा रूधिर कोशिकाएँ रहती हैं जिन्हें श्वेताणु कहते हैं, जो रोगाणुओं का परिग्रहण कर लेते हैं। नासा कोटर के उपरी भाग की श्लेष्मा झिल्ली में संवेद घ्राण कोशिकाएँ होती हैं जो घ्राण अंग बनाती है। नासा कोटर नासा के अतिरिक्त विवरो (जंभिका अग्र, जतुक तथा झर्झरिका) के साथ सम्बधं रखता है, जिसकी दीवारों पर श्लेष्मा झिल्ली की परत नासा कोटर से विस्तरित होती है। नासाश्रु नलिका नासा कोटर में खुलती है।

नासा कोटर में वायु धूल कणों से स्वच्छ की जाती है, गर्म की जाती है तथा तर की जाती है।

नासा कोटर आन्तरनासा रंध्र नामक दो छिद्रों द्वारा नासाग्रसनी के साथ सम्बन्घ रखती है। नासाग्रसनी से वायु, ग्रसनी के मुख भाग में आती है, और फिर कंठ में आती है। ग्रसनी का वर्णन नीचे किया गया है (दे० पाचन तंत्र)।

श्वसन न केवल नासा द्वारा सम्भव है, बल्कि मुख द्वारा भी सम्भव है। लेकिन, मुख द्वारा श्वसन में वायु अपर्याप्त रूप से स्वच्छ की जाती है व गर्म की जाती है, तथा इसके फलस्वरूप श्वसन अंगों में अस्वस्थ परिवर्तन स्थान ले सकते हैं।

दीर्घ मुख श्वसन के कारणवश शारीरिक विकास में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती है (जैसे वक्ष का त्रुटिपूर्ण विकास)।

कण्ठ

कण्ठ ग्रीवा में चौथे से छठे ग्रीवा कशेरूक के स्तर पर स्थित होता है (चित्र 63)। अग्र रूप से यह ग्रीवा की पेशियों द्वारा कंठिकास्थि के नीचे ढका हुआ होता है; पार्श्व में यह अवटु ग्रन्थि की बड़ी वाहिकाओं के साथ संलग्न होता है, और इसके पीछे ग्रसनी होती है। कण्ठ का पंजर उपास्थियों से बना होता है; इनमें से सबसे बड़ी उपास्थि, अवट-उपास्थि, आसानी से स्पर्श की जा सकती है। छोटी उपास्थियों में मुद्रिका-उपास्थि, युगल दर्विकाभ उपास्थि और कण्ठच्छद सम्मिलित हैं। कण्ठच्छद जिह्वा के पीछे स्थित होता है। निगलने के समय यह कण्ठ का प्रवेश-द्वार बंद कर देता है तथा भोजन को श्वसन-मार्ग से दूर रखता है। मुद्रिका उपास्थि कण्ठ के आधार पर स्थित होती है। मुद्रिका स्नायुबंधों तथा संधियों की सहायता से आवाज निकलती है।

कण्ठ में श्लेष्मा झिल्ली की परत होती है जिस पर पक्ष्माभी उपकला होती है। कण्ठ दीवार के दोनों ओर एक अवकाश होती है जिसे कण्ठ निलय कहते हैं। कण्ठ में से वायु गुज़रती है जो ध्वनि उत्पादक है। ध्वनि दो स्वर रज्जुओं, दक्षिण व वाम स्वर रज्जुओं, से उत्पन्न होती है। ये अवटु और दर्विकाभ उपास्थियों के बीच खींचे हुए होते हैं, तथा घांटी द्वारा बंधे हुए होते हैं, और प्रत्यास्थ संयोजी ऊतक के तंतुओं से बने हुए होते हैं। जब ये तन्य होते हैं तो उच्छवासित वायु इन्हें कम्पायमान कर देती है, और ध्वनि उत्पन्न होती है। जिह्वा, मुख कोटर, ओष्ठ और नासा कोटर वाक् उच्चारण में भी भाग लेते हैं।

स्वर रज्जुओं की तन्यता या विश्रांति और घांटी का संकुचन या विस्फारण कंठ पेशी के संकुचन पर निर्भर करते हैं। घांटी का विस्फारण युगल पश्च मुद्रिका आर्टनोईड पेशी द्वारा होता है। अन्य कंठ पेशियाँ (पार्श्व मुद्रिका आर्टनोईड, मुद्रिकाअवटु, बाक्र इत्यादि) घांटी को संकुचित करने या स्वर रज्जुओं की तन्यता को परिवर्तन करने में भाग लेते हैं। सभी कंठ पेशियाँ रेखित होती हैं।

सातवें ग्रीवा कशेरूक के स्तर पर कंठ श्वासनली के साथ मिल जाता है।
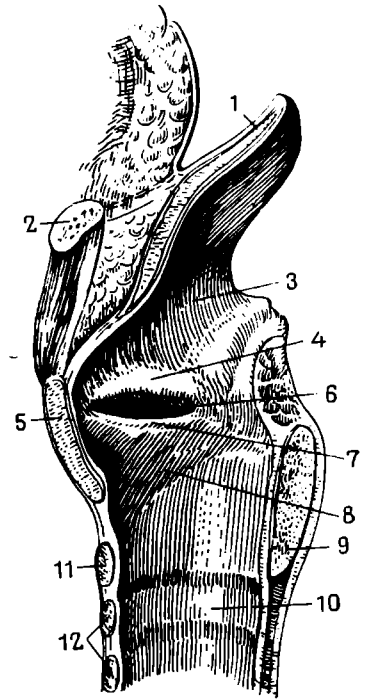
चित्र 63. कंठ (भाग)
1 – कंठच्छद ; 2 – कंठिकास्थि ; 3,8 तथा 10 – कंठ गुहा ; 4–निलय मोड़ ; 5 – अवटु उपास्थि ; 6 – कंठ निलय ; 7 – वाक् मोड़ ; 9 – मुद्रिका उपास्थि का पट्ट ; 11 – मुद्रिका उपास्थि की आर्क ; 12 – श्वासनली की उपास्थि।

श्वासनली

श्वासनली (चित्र 64) लगभग 12 से० मी० लम्बी होती है। श्वासनली का पंजर स्नायु द्वारा सम्बंधित उपास्थियों के अर्ध-छल्लों द्वारा बनता है। श्वासनली की पश्च दीवार मृदु होती है; यह संयोजी ऊतक झिल्ली से बनी होती है, और ग्रासनली के साथ भलिभाँति बंधी हुई होती है। श्वासनली पर श्लेष्मा झिल्ली की परत चढी हुई होती है, जिसमें चिकनी पेशी के तंतु और ग्रन्थियाँ होती है, जो
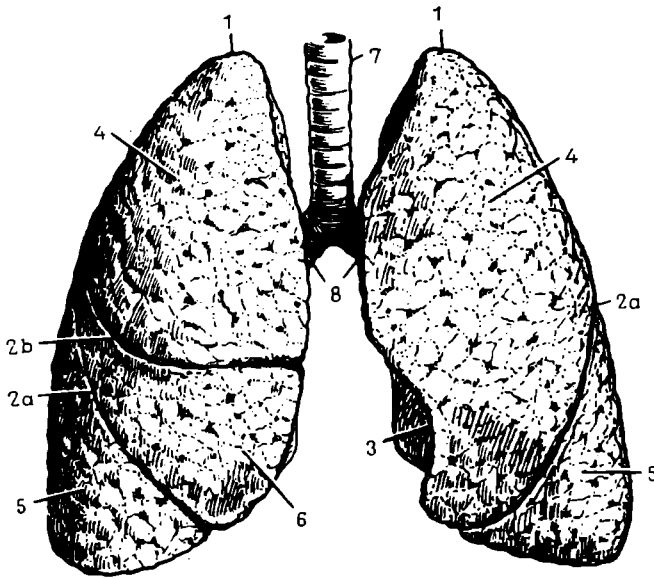
चित्र 64. श्वासनली, श्वसनी तथा फुफ्फुस (अग्र पक्ष)
1 – फुफ्फुस का शिखर; 2a तथा 2b – अन्तरापालि रंध्र; 3 – हृद्-खांच; 4 – महापालि; 5 – निम्न पालि; 6 – मध्य पालि (दक्षिण फुफ्फुस); 7 – श्वासनली; 8 – श्वसनी।

श्लेष्मा स्रावित करती हैं। बाहर से श्वासनली पर संयोजी ऊतक झिल्ली चढ़ी हुई होती है।

श्वासनली वक्ष कोटर में प्रवेश करती है तथा चौथे या पाँचवे वक्ष कशेरूक के स्तर पर यह दो श्वसनियों में विभाजित हो जाती है। इस विभाजन को श्वासनली का द्विशाखन कहते हैं।

श्वसनी

दक्षिण एवं वाम श्वसनी (चित्र 64) मूल श्वसनियाँ हैं; ये फुफ्फुसों में प्रवेश करती है तथा छोटी श्वसनियों में विभाजित हो जाती हैं। श्वसनियों की दीवारों की संरचना श्वासनली की दीवारों जैसी होती है। दक्षिण श्वसनी अधिक चौड़ी होती है लेकिन वाम श्वसनी से छोटी होती है तथा श्वासनली के साथ प्रत्यक्ष जुड़ी होती है।

फुफ्फुस

फुफ्फुस (लैटिन भाषा में "पुल्मों" तथा ग्रीक भाषा में "निमीन"*) वक्ष कोटर में स्थित होते हैं (चित्र 64)। दक्षिण व वाम दो फुफ्फुस होते हैं। प्रत्येक फुफ्फुस की आकृति शंकु जैसी होती हैं; इसका ऊपरी भाग थोड़ा संकीर्ण होता है तथा शिखर कहलाता है; नीचे का भाग चौड़ा होता है तथा आधार कहलाता है। शिखर ग्रीवा में जत्रुक के 2-3 से० मी० ऊपर तक फैला होता है और आधार डायफ्राम के ऊपर स्थित होता है। फुफ्फुस के तीन तल होते हैं: पर्शुका, डायफ्राम, मध्यवकाशीय। मध्यावकाशीय तल मध्य भाग की ओर होता है तथा इसमें एक अवकाश होता है जिसे **फुफ्फुस का द्वार** कहते हैं (hilus pulmonis)। यह द्वार श्वसनी, फुफ्फुस तंत्रिकाओं, फुफ्फुस धमनी, दो फुफ्फुस शिरों तथा लसीका वाहिकाओं के लिए मार्ग बनाता है। ये सभी संरचनाएँ संयोजी ऊतक द्वारा एक सामान्य बंडल में बंधी हुई होती हैं जिन्हे **फुफ्फुस का मुल** कहते हैं (radix pulmonis)।

फुफ्फुस में प्रवेश करने पर मुल श्वसनी छोटी श्वसनियों में विभाजित हो जाती है जिसकी दीवारों में उपास्थियाँ होती हैं। फुफ्फुस में सम्पूर्ण श्वसनी तंत्र श्वसनी वृक्ष कहलाता है। सबसे छोटी श्वसनी (व्यास 0.3—0.4 मि० मी०) **श्वसनिका** कहलाती है। श्वसनी के विपरीत श्वसनिका की दीवार में कोई उपास्थि अथवा ग्रन्थि नहीं होती; लेकिन श्वसनी की भांति इनमें चिकनी पेशी के तंतु होते हैं। इन तंतुओं का संकुचन श्वसनिका में स्पाज्म पैदा कर देता है।

दक्षिण फुफ्फुस में तीन अंश होते हैं और वाम फुफ्फुस में दो अंश होते हैं। ये अंश परस्पर खाँचों द्वारा पृथक किये होते हैं जिन्हें फुफ्फुस की सतह पर देखा जा सकता है। प्रत्येक अंश खंडों में विभाजित होता है जिसमें उसी आकार की श्वसनी होती है। दक्षिण फुफ्फुस में 11 खंड होते हैं (3 उच्च अंश में, 2 मध्य अंश में तथा 6 निम्न अंश में); वाम फुफ्फुस में 10 खंड होते हैं (4 उच्च अंश में तथा 6 निम्न अंश में)। प्रत्येक खंड में अनेक फुफ्फस नालिकाएँ होती हैं। नालिकाओं के बीच संयोजी ऊतक की परतें होती हैं, जिनमें तंत्रिकाएँ, रूधिर और लसीका वाहिकाएँ होती हैं। नालिका में एक श्वसनी होती है जिसे नालिका श्वसनी कहते हैं जो नालिका के अन्दर श्वसनिका में विभाजित हो जाती हैं। श्वसनिकाएँ **कूपिका वाहिनियों** में विभाजित हो जाती हैं जिनकी दीवार पर वायु आशय या **कूपिका** नामक बहिःसरण होते हैं (चित्र 65)। कूपिका अर्ध गोलाकार होती है तथा इसका व्यास 02—03 से० मी होता है। कूपिका भित्ति प्रत्यास्थ तंतुओं की एक महीन परत स्थित शल्कसम श्वसन उपकलाओं की एक कतार से बनी होती है।

---

*फुफ्फुस के शोथ को निमोनिया कहते हैं।
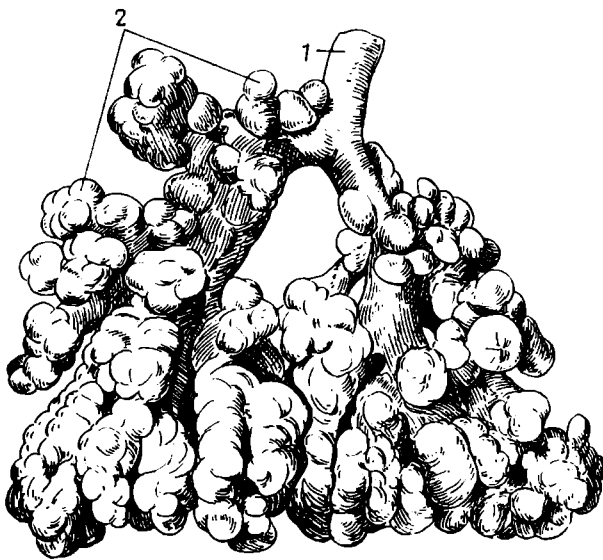
चित्र 65. फुफ्फुसनालिका के भाग की श्वसनिका एवं फुफ्फुस कूपिका (दस गुनी आवर्धित)
1 – फुफ्फुसनालिका ; 2 – फुफ्फुस कूपिका।

कूपिका वाहिका केशिकाओं के जाल के आगे स्थित होती हैं। गैस-विनिमय कूपिका की दीवार और केशिकाओं में स्थान लेता है। **ऑक्सीजन रुधिर में कूपिका से प्रवेश करती है तथा कार्बन डाइआक्साइड रुधिर से कूपिका में प्रवेश करती है।** कूपिका फुफ्फुस का श्वसन भाग है; श्वसनी इसका वायु-वाहक भाग है। वयस्क के फुफ्फुस में 300 करोड से 400 करोड कूपिकाएँ होती हैं। इनका कुल क्षेत्रफल 100 वर्ग मी० के बराबर होता है।

फुफ्फुस की संरचना असीमाक्षी की संरचना जैसी होती है।

फुफ्फुस पर सीरमी आवरण चढ़ा हुआ होता है जिसे फुफ्फुसावरण कहते हैं।

फुफ्फुसावरण

फुफ्फुसावरण एक महीन चमकीली झिल्ली होती है। यह प्रत्येक फुफ्फुस पर चढ़ी हुई होती है। यह दो फुफ्फुसावरण थैलियाँ (अंतरंग फुफ्फुसावरण) बनाती है तथा वक्ष कोटर की आन्तरिक सतह पर परत चढ़ाती है (भित्तीय फुफ्फुसावरण)।

भित्तीय फुफ्फुसावरण में तीन भाग होते हैं – पर्शुक, डायफ़ाम, तथा मध्यावकाशीय। भित्तीय फुफ्फुसावरण का प्रत्येक भाग अगले भाग के साथ जुड़ा होता है और

संक्रमण के स्थान पर रेखा-छिद्र जैसा अवकाश बनाता है जिसे कोटर कहते हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण कोटर मध्यछद पर्शुक कोटर (दक्षिण व वाम) है। निश्वास लेने पर फुफ्फुस विस्फारित हो जाता है तथा विस्तृत हो जाता है ; यहाँ केवल मध्य-छद पर्शुक का निचला भाग अपवाद है।

अंतरंग फुफ्फुसावरण फुफ्फुस के पदार्थ के साथ जुड़ा होता है। फुफ्फुसावरण के दोनों भाग फुफ्फुस के आधार पर जुड़े होते हैं। फुफ्फुसावरण के दो भागों के बीच फुफ्फुसावरण कोटर नामक रेखा-छिद्र होता है। इस कोटर में सीरमी द्रव की थोड़ी-सी मात्रा होती है जो फुफ्फुसावरण को छूने वाले भागों को तर करता है व श्वसन के समय घर्षण कम करता है। फुफ्फुसावरण कोटर में कोई वायु नहीं होती तथा इसके अन्दर का दाब नकारात्मक होता है। दक्षिण तथा वाम फुफ्फुसावरण कोटर परस्पर सम्बंधित नहीं होते हैं।

फुफ्फुसावरण का शोथ **प्लुरोसी** (pleurisy) कहलाता है।

फुफ्फुस तथा फुफ्फुसावरण की सीमाएं (चित्र 66 तथा 67)। वक्षीय अंगों के रोगों की स्थिति में फुफ्फुस और फुफ्फुसावरण की सीमाओं को निर्धारित करना प्रायः आवश्यक हो जाता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, फुफ्फुसों के शिखर ग्रीवा में जत्रुक से 2-3 सें० मी० ऊपर स्थित होते हैं। फुफ्फुस की अग्र सीमा शिखर से तिरछे नीचे की ओर तथा अन्दर की ओर उरोस्थिजत्रुक संधि में से दण्डाभ कोशिका तथा उरोस्थि के पिंड की संधि तक आती है। दक्षिण फुफ्फुस की अग्र सीमा उरोस्थि के साथ-साथ (मध्यवर्ती रेखा के कुछ-कुछ बायीं ओर) लगभग उर्ध्वाधर रूप से छठी पर्शुका के स्तर तक आती है जहाँ यह निम्न सीमा के साथ जुड़ती है। बायें फुफ्फुस की अग्र सीमा उरोस्थि के साथ-साथ उपास्थि की चौथी पर्शुका के स्तर तक हो आती है जहाँ यह बायी ओर मुड़ जाती है, पांचवीं पर्शुका उपास्थि को पार करके छठी पर्शुका तक पहुँचती है जहाँ यह निम्न सीमा के साथ मिल जाती है। दक्षिण व वाम फुफ्फुसों की अग्र सीमाओं के बीच अन्तर का कारण यह तथ्य है कि हृदय का अधिकांश भाग मध्यवर्ती रेखा की बायीं ओर स्थित होता है।

फुफ्फुस और फुफ्फुसावरण की निचली सीमा निर्धारित करने के लिये सामान्यतः निम्न ऊर्ध्वाधर रेखाएं खींची जाती हैं: मध्यजत्रुक (जत्रुक के बीच में), मध्य-कक्षीय (कक्षक के बीच में से), मध्यअंसफलक (अंसफलक के निम्न कोण में से), पराकशेरूक (कशेरूक दंड के पार्श्व में से)।

फुफ्फुस की निम्न सीमा छठी पर्शुका के स्तर पर मध्यजत्रुक रेखा के साथ-साथ, आठवीं पर्शुका के स्तर पर मध्यकक्षीय रेखा के साथ-साथ, दसवीं पर्शुका के स्तर पर अंसफलक रेखा के साथ-साथ, तथा ग्यारहवीं पर्शुका के स्तर पर पराकशेरूक रेखा के साथ-साथ निर्धारित होती है। फुफ्फुसावरण की निम्न सीमा फुफ्फुस की
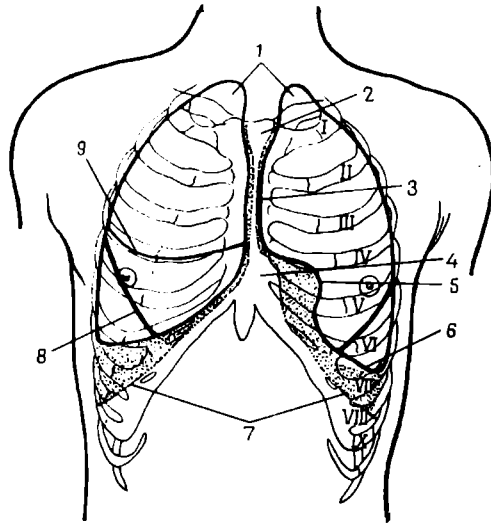
चित्र 66. फुप्फुस तथा भित्तिक प्लूरा की सीमाएं (अग्र पक्ष)
I – IX – पर्शुका; 1 – फुप्फुसों के शिखर; 2 तथा 4 – अन्तराप्लूरा अवकाश; 3 – वाम फुप्फुस की अग्र सीमा; 5 – हृद् खांच; 6 – वाम फुप्फुस की निम्न सीमा; 7 – प्लूरा की निम्न सीमा; 8 तथा 9 – अन्तरापालि रंध्र।
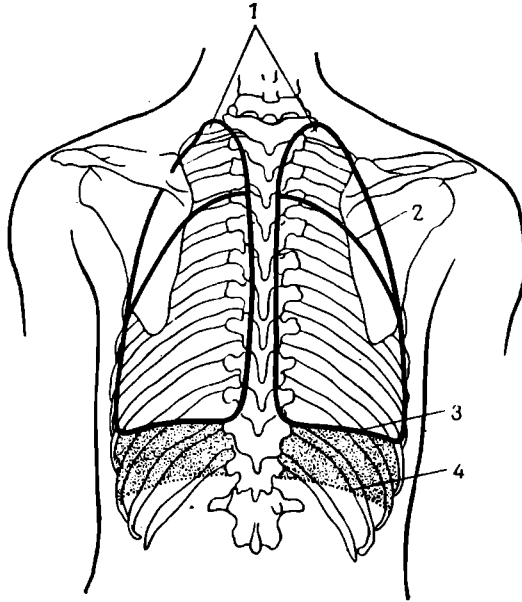
चित्र 67. फुप्फुस तथा भित्तिक प्लूरा की सीमाएं (पश्च पक्ष)
1 – फुप्फुसों के शिखर; 2 – अन्तरापालिका रंध्र; 3 – फुप्फुस की (नम्न सीमा); 4 – प्लूरा की निम्न सीमा।

सीमा से एक पर्शुका नीचे होती है। फुफ्फुस की पश्च सीमा पराकशेरूक रेखा के साथ-साथ निर्धारित होती है। फुफ्फुसावरण की अग्र व पश्च सीमाएँ [फुफ्फुस की अग्र व पश्च सीमाओं के साथ लगभग मिलती होती हैं]।

फुफ्फुस मध्यावकाश

दो फुफ्फुसों के बीच वक्षीय कोटर में अंगों द्वारा घेरा हुआ स्थान फुफ्फुस मध्यावकाश कहलाता है। यह अग्र भाग से उरोस्थि द्वारा, पश्च भाग से कशेरूक दंड के वक्षीय भाग द्वारा, निम्न भाग से डायफ्राम के कण्डरामय केन्द्र द्वारा, और पार्श्व भाग से फुफ्फुसावरण के फुफ्फुस मध्यवकाश द्वारा बँधा हुआ होता है। फुफ्फुस मध्यावकाश सामान्य रूप से अग्र तथा पश्च भागों में विभाजित होता है; इनके बीच की सीमा फुफ्फुसों के मूल में से गुज़रती है। अग्र फुफ्फुस में हृदय, थाइमस, और विशाल रूधिर वाहिकाएँ; आरोही महाधमनी, फुफ्फुस कांड, उर्ध्व महाशिरा, इत्यादि होती हैं। पश्च फुफ्फुस मध्यावकाश में ग्रासनली, तंत्रिकाएँ तथा रूधिर वाहिकाएँ होती हैं: वेगस, अनुकंपी तंत्रिकाएँ, वक्षीय महाधमनी, वक्षीय लसीका वाहिका, इत्यादि। फुफ्फुस मध्यावकाश के अंग कोशिकीय ऊतक द्वारा पृथक किये गए होते हैं।

श्वसन का महत्त्व

जीव को न केवल पोषक पदार्थ बल्कि ऑक्सीजन की भी आवश्यकता होती है। उपापचय की क्रिया में ऊतक निरंतर आक्सीजन को ग्रहण और कार्बन डाइआकसाइड का उत्पादन करते रहते हैं। आक्सीजन की कमी ऊतकों व जीव को नष्ट कर देती हैं। आक्सीजन की कमी के प्रति सर्वाधिक संवेदनशील तंत्रिका ऊतक होता है।

ऊतकों में गैस विनिमय अर्थात कोशिकाओं व अन्तरा कोशिकीय पदार्थों द्वारा ऑक्सीजन का उपभोग और कार्बन डाइआक्साइड का विमोचन **ऊतक श्वसन** कहलाता है। ऊतक श्वसन एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें विशेष पदार्थों श्वसन वर्णक तथा श्वसन प्रकिण्व—का भाग लेना आवश्यक है।

रूधिर ऊतकों को ऑक्सीजन देता है तथा उपापचय प्रक्रिया में बनी कार्बन डाइआक्साइड को निष्कासित करता है। चूँकि ऑक्सीजन का निरंतर उपभोग होता रहता है तथा कार्बन डाइऑक्साइड इकट्ठी होती रहती है, रूधिर में गैसों की सांद्रता स्थायी रखी जा सकती है, यदि केवल ऑक्सीजन की निरंतर पुनः पुर्ति होती रहे तथा कार्बन डाइऑक्साइड का निष्कासन होता रहे। यह प्रक्रिया फुफ्फुसों में निरंतर घटती रहती है (फुफ्फुसी कूपिका) और इसे **फुफ्फुस श्वसन** कहते हैं, अर्थात रूधिर

फुफ्फुस कूपिका से ऑक्सीजन प्राप्त करता है और कूपिका को कार्बन डाइआक्साइड देता है।

फुफ्फुस श्वसन की सम्भावना केवल तब ही है जब स्वच्छ वायु निरंतर आसपास के वातावरण से फुफ्फुसों में लाई जाये और कूपिकाओं में से वायु निष्कासित की जाये। इस प्रक्रिया को फुफ्फुस संवातन कहते हैं।

उच्छवासित तथा निश्वासित वायु की संरचना

निश्वंसन के समय फुफ्फुस में प्रवेश करने वाली वातावरण की वायु **निश्वासित वायु** कहलाती है। उच्छवासन के समय वायु मार्ग में से बाहर निकलने वाली वायु **उच्छवासित वायु** कहलाती है। उच्छवासित वायु कूपिका में विद्यमान वायु यानी **कूपिका वायु** और वायु मार्ग (नासा कोटर कंठ, श्वासनली श्वसनी) में स्थित वायु का मिश्रण होती है। स्वस्थ पुरूष में निश्वासित, उच्छवासित तथा कूपिका वायु का संरचना प्राय: स्थायी बना रहता है तथा तालिका 1 में दी गई संख्याओं द्वारा निर्धारित होता है।

तालिका 1

गैसों की मात्रा (प्रतिशत में, %)

	ऑक्सीजन	कार्बन डाइऑक्साइड	नाइट्रोजन व अन्य गैसें
अन्त: श्वसित वायु	20.94	0.03	79.03
नि:श्वसित वायु	16.3	4.0	79.7
कूपिका वायु	14.2	5.2	80.6

विभिन्न अवस्थाओं में (जैसे, विराम में या कार्य की स्थिति में) ये संख्याएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, लेकिन सभी अवस्थाओं में कूपिका वायु निश्वासित वायु से भिन्न होती है क्योंकि इसमें काफी कम ऑक्सीजन होती है तथा काफी अधिक कार्बन डाइआक्साइड होती है। इसका आधार यह तथ्य है कि फुफ्फुस कूपिका वायु की आक्सीजन रूधिर को दे देती है तथा रूधिर से कार्बन डाइआक्साइड प्राप्त कर लेती है।

फुफ्फुसों में गैसीय विनिमय फुफ्फुसी कूपिका में विद्यमान ऑक्सीजन व कार्बन डाइआक्साइड के दाबों के अन्तर और फुफ्फुसों में प्रवाह करने वाले शिरा रूधिर पर आधारित होता है। रूधिर की तुलना में कूपिका में ऑक्सीजन का दाब अधिक होता

है। इसी कारणवश फुफ्फुसों में वायु में से आक्सीजन रूधिर में प्रवेश करती है, और कर्बन डाइऑक्साइड रूधिर में से वायु में प्रवेश करती है। गैसों का यह संक्रमण निश्चित भौतिक नियमों पर आधारित होता है; यदि किसी द्रव में गैस का दाब आस-पास की वायु में गैस के दाब से भिन्न है तो गैस द्रव में से वायु में प्रवेश कर जाएगी या इसके विपरीत वायु में से गैस द्रव में प्रवेश कर जाएगी जब तक कि ये दाब समान नहीं हो जाते।

गैसों के मिश्रण में, जैसे कि वायु, प्रत्येक गैस का दाब इसके अंश के प्रतिशत द्वारा निर्धारित होता है, तथा यह इसका आंशिक दाब कहलाता है। उदाहरणतया, वातावरण की वायु का दाब 760 मि० मि० मरक्यूरी होता है। वायु में 20.94 प्रतिशत आक्सीजन होती है, अतएव वातावरण की वायु में ऑक्सीजन का आंशिक दाब वायु के कुल दाब का 20.94 प्रतिशत हुआ, अर्थात 159 मि० मी० मरक्यूरी। यह सिद्ध हो चुका है कि ऑकसीजन का आंशिक दाब कूपिका वायु में 100-110 मि० मी० होता है तथा शिरा रूधिर और फुफ्फुसी केशिकाओं में 40 मि० मी० मरक्यूरी होता है। कार्बन डाइआक्साइड का आंशिक दाब कूपिका में 40 मि०, मी० मरक्यूरी तथा रूधिर में 47 मि० मी० मरक्यूरी होता है। रूधिर तथा वाय में गैसों के आंशिक दॉबों में अन्तर फुफ्फुसों में गैसीय विनिमय को निर्धारित करता है। इस प्रक्रिया पर फुफ्फुसी कूपिका की दीवारों की कोशिकाओं एवं फुफ्फुसों की रूधिर केशिकाओं का प्रभाव भी पड़ता है जिनके द्वारा गैस विनिमय होता है।

रूधिर द्वारा गैसों का परिवाहन

रूधिर निरंतर फुफ्फुसों में से ऊतकों तक आक्सीजन और ऊतकों से फुफ्फुसों तक कार्बन डाइआक्साइड का परिवहन करता रहता है। फुफ्फुसों में प्रवाह करने वाले धमनी रूधिर में द्रवों में गैसों के विलयन के भौतिक नियमों द्वारा निश्चित की गई आवश्यकता से अधिक आक्सीजन होती है। रूधिर में विद्यमान अधिकांश ऑक्सीजन आक्सीहीमोग्लोबिन नामक एक अस्थायी रासायनिक यौगिक के रूप में होती है। फुफ्फुसों में प्रवाह करने वाले रूधिर के प्लैज़्मा में विलीन ऑक्सीजन रक्ताणु के हीमोग्लोबिन के साथ मिल जाता है और ऑँक्सीहीमोग्लोबिन बनाता है। जब तक संपूर्ण हीमोग्लोबिन ऑक्सीहीमोग्लोबिन में विलीन नहीं हो जाती, तब तक रूधिर में ऑँक्सीजन विलीन होती रहती। जब वातावरण की वायु का सामान्य अवस्थाओं में श्वसन होता है तो 96 प्रतिशत हीमोग्लोबिन ऑक्सी हीमोग्लोबिन में परिवर्तित हो जाता है जिसके फलस्वरूप रक्ताणुओं में रूधिर प्लैज़्मा की अपेक्षा 60 गुनी अधिक आक्सीजन होती है। इससे यह पक्का हो जाता है कि ऊतकों को गैसीय विनिमय के लिये आवश्यक ऑक्सीजन की मात्रा मिल जाती है।

ऊतकों में गैसीय विनिमय के नियम वही हैं जो फुफ्फुसों के लिए हैं। ग्राक्सीजन का प्रवाह उच्च ग्रांशिक दाब के क्षेत्र से (रूधिर प्लैज़मा) कम ग्रांशिक दाब के क्षेत्र (ऊतक द्रव) की ग्रोर होता है। जैसे ही ग्रॉक्सीजन प्लैज़मा के बाहर ग्राती है ग्रॉक्सीहीमोग्लोबिन तुरंत हीमोग्लोबिन में परिवर्तित हो जाता है ताकि प्लैज़मा में ग्रॉक्सीजन की पर्याप्त सांद्रता बनी रहे।

उपापचय के दौरान कोशिकाग्रों में बनने वाली कार्बन डाइग्रॉक्साइड ऊतक द्रव में प्रवेश कर जाती है ग्रौर वहाँ उच्च ग्रांशिक दाब बनाती है। ग्रंगो की रूधिर केशिकाग्रों में प्रवाह करने वाले रूधिर में कार्बन डाइग्रॉक्साइड का ग्रांशिक दाब काफ़ी कम होता है, ग्रतएव कार्बन डाइग्रॉक्साइड ऊतक द्रव में से रूधिर में प्रवेश करती है। द्रव में विलीन हो जाने के फलस्वरूप रूधिर में सम्भावना से भी ग्रधिक कार्बन डाइग्रॉक्साइड होती है। कार्बन डाइग्रॉक्साइड न केवल प्लैज़मा में विलीन होती है बल्कि रक्ताणुग्रों के हीमोग्लोबिन ग्रौर प्लैज़मा लवणों के साथ रासायनिक संयोजन बनाती है। इसके द्वारा ऊतकों में बनने वाली संपूर्ण कार्बन डाइग्रॉक्साइड बाहर चली जाती है। वह रूधिर जिसमें से सम्पूर्ण ग्रॉक्सीजन निकल गई हो तथा कार्बन डाइग्रॉक्साइड की संतृप्ति हो शिरा रूधिर कहलाता है। शिरा रूधिर फुफ्फुसों की ग्रोर प्रवाह करता है जहाँ फुफ्फुसी श्वसन होता है।

उच्छ्वसन एवं निश्वसन की क्रिया विधि

श्वसन ग्रावर्तित रूप से बार-बार किया गया उच्छ्वसन व निश्वसन है।

निश्वसन निम्न प्रकार होता है: तंत्रिका ग्रावेगों के प्रभाव से निश्वसन में भाग लेने वाली पेशियाँ—डायाफ्राम, बाह्य ग्रंतरापर्शुक पेशियाँ, इत्यादि—संकुचित हो जाती हैं। जब डायाफ्राम संकुचित होता है, तो यह नीचे ग्रा जाता है (चपटा जाता है) ग्रौर वक्षीय कोटर का उर्ध्वाधर ग्राकार बढ़ा देता है। बाह्य ग्रंतरापर्शुक ग्रौर ग्रन्य निश्चित पेशियों के संकुचित होने पर शिरे ऊपर उठ जाते हैं ग्रौर इस प्रकार वक्ष कोटर के ग्रग्रो-पश्च व तिरछा ग्राकार बढ़ जाता है। ग्रतएव पेशियों के संकुचन से वक्ष की क्षमता बढ़ जाती है। चूंकि फुफ्फुस कोटर में कोई वायु नहीं हो होती तथा इसमें दाब भी नकारात्मक होता है, तो वक्ष की क्षमता में वृद्धि होने के साथ-साथ ही फुफ्फुस भी विस्तारित होते हैं, उनमें वायु का दाब कम हो जाता है (यह वातावरण के दाब से भी कम हो जाता है), तथा वातावरण की वायु वायु-मार्गों में से गुज़र कर फुफ्फुसों में प्रवेश कर जाती है। ग्रतः निश्वसन में पेशियों का संकुचन होता है, वक्ष की क्षमता बढ़ जाती है, फुफ्फुसों का विस्तरण होता है ग्रौर उनमें दाब कम हो जाता है तथा वायु मार्गों से गुज़रती हुई वातावरण की वायु उनमें प्रवेश करती है।

निश्वसन के पश्चात **उच्छवसन** होता है। निश्वसन में भाग लेने वाली पेशियाँ विश्रान्ति की अवस्था में आती हैं; (डायाफ्राम ऊपर उठ जाता है)। आन्तरिक अन्तरापर्शुक और अन्य पेशियों के संकुचन के फलस्वरूप तथा अपने स्वयं के भार के कारण शिरे नीचे आ जाते हैं। वक्ष की क्षमता कम हो जाती है, फुफ्फुस संपीडित हो जाते है, उनके अन्दर दाब बढ़ जाता है (वातावरण के दाब से अधिक हो जाता है) तथा वायु-मार्गों में से वायु बाहर चली जाती है।

श्वसन संचलन आवर्त्तित होता है। विराम की अवस्था में एक वयस्क प्रति मिनट 16-20 तक श्वसन संचलन करता है, बच्चे अधिक श्वसन संचलन करते हैं (नवजात शिशु प्रति मिनट 60 के लगभग श्वसन संचलन करता है)। शारीरिक थकान के फलस्वरूप, विशेषकर अप्रशिक्षित लोगों मे, प्रायः तीव्र श्वसन आरम्भ हो जाता है। अनेक रोगों की स्थिति में भी तीव्र श्वसन देखा गया है। तीव्र श्वसन हमेशा गहरा नहीं होता। निद्रा की अवस्था श्वसन के धीमा हो जाने से प्राप्त होती है।

सामान्य श्वसन दो प्रकार का होता है: उदरीय (जो अधिकांशतः पुरूषों में पाया जाता है) तथा पर्शुका (जो अधिकांशतः स्त्रियों में पाया जाता है)। प्रथम स्थिति में वक्ष-कोटर की क्षमता मुख्यतः डायाफ्राम के संकुचन (उर्ध्वाधर आकार में वृद्धि) के फलस्वरूप बढ़ती है; द्वितीय स्थिति में अन्य श्वसन पेशियों के संकुचन (वक्ष के अग्रोपश्च तथा तिरछे आकार की वृद्धि) के फलस्वरूप बढ़ती है।

फुफ्फुस की जैव क्षमता

फुफ्फुस की जैव क्षमता उनके व्यावहारिक प्रकार्यों को निर्धारित करने के लिये मापी जाती है। फुफ्फुस की जैव क्षमता वायु का वह आयतन है जो सबसे गहरे निश्वास के बाद सबसे शक्तिशाली उच्छ्वास द्वारा बाहर निकलता है। इसका औसत मुल्य 3500 घन से० मी० है। अधिकांशतः फुफ्फुस की जैव क्षमता प्रशिक्षण, आयु तथा लिंग पर निर्भर करती है।

नियमबद्ध शारीरिक प्रशिक्षण तथा खेल-कूद फुफ्फुसों की जैव क्षमता में वृद्धि करते हैं (कुछ (athlete) ऐथलीटों में यह 6.000=7.000 घन से० मी० तक होती है)। फुफ्फुसों की जैव क्षमता पुरूषों की अपेक्षा स्त्रियों में निम्न होती है और वृद्धों की तुलना में युवा लोगों में उच्च होती है। फुफ्फुसों की जैव क्षमता मापने के लिये प्रयोग किये जाने वाले उपकरण को स्पाइरोमीटर कहते हैं (चित्र 68)।

सामान्य श्वसन के दौरान एक निश्वसन में फुफ्फुसों में प्रवेश करने वाली वायु का आयतन 500 घन से० मी० होता है। इस वायु को **ज्वारीय वायु** कहते हैं। एक सामान्य निश्वसन के बाद अधिकतम निश्वसन के दौरान निश्वसित की जा सकने
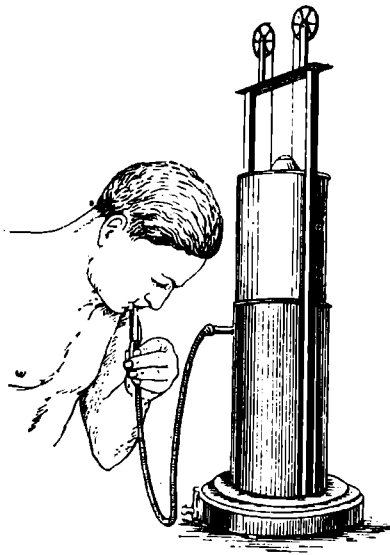
चित्र 68. स्पाइरोमीटरी (व्यक्ति प्रणोदित उच्छ्वसन कर रहा है।

वाली वायु का आयतन सामान्य निश्वसन के आयतन से औसतन 1500 घन से० मी० अधिक होता है। वायु के इस आयतन को **पूरक वायु** कहते हैं। सामान्य निश्वसन के बाद प्रणोदित उच्छ्वसन द्वारा निकाली गई वायु का आयतन सामान्य उच्छ्वसन से 1500 घन से० मी० अधिक होता है तथा इस वायु को या **संपूरक आरक्षित यावायु** कहते हैं। वायु के तीन आयतन –ज्वारीय, पूरक तथा संपूरक अथवा **आरक्षित** – परस्पर मिलकर श्वसन क्षमता बनाते हैं और इसका औसत मूल्य 500+ 1500+1500=3500 घन से० मी० होता है।

सबसे पूर्ण उच्छ्वसन के बाद भी फुफ्फुसों में लगभग 1000 घन से० मी० वायु रह जाती है। इसे **अवशिष्ट वायु** कहते हैं।

फुफ्फुसों में अवशिष्ट वायु की विद्यमानता के कारणवश पानी में निम्मजित फुफ्फुस नहीं डूबता। गर्भ में जन्म से पूर्व कोई फुफ्फुसी श्वसन नहीं होता तथा न ही उसके फुफ्फुसों में कोई वायु होता है; ऐसे फुफ्फुस डूब जाते हैं। जन्म के पश्चात फुफ्फुसों में सबसे पहले निश्वसन के साथ वायु प्रवेश कर जाता है।

श्वासवक्ष (pneumothorax) यदि वक्ष को चोट लग जाए व फुफ्फुसावरण नष्ट हो जाए तो वातावरण की वायु फुफ्फुसावरण कोटर में प्रवेश कर जाती है। इस अवस्था को श्वासवक्ष कहते हैं। इस अवस्था में फुफ्फुसावरण कोटर में दाब फुफ्फुसों के अन्दर के दाब के समान ही होता है। इसकी प्रत्यास्थता के फलस्वरूप फुफ्फुस का निपात हो जाता है तथा वह श्वसन में भाग नहीं लेता। चिकित्सा में कभी-कभी फुफ्फुसावरण कोटर में वायु जान-बूझ कर भेजी जाती है (कृत्रिम श्वास-वक्ष)

श्वसन का नियमन

श्वसन के नियमन की विधि बहुत जटिल है। इसका आरेख निम्न प्रकार है: मेडुला ऑब्लान्गेटा में तंत्रिका कोशिकाओं का संचय होता है जो श्वसन को नियमित करता है। यह श्वसन केन्द्र होता है (इसकी विद्यमानता सन 1885 में रूसी वैज्ञानिक

न० मिसलावस्की ने सिद्ध की)। श्वसन केन्द्र में उत्तेजन तथा संदमन निरंतर प्रत्यावर्ती होते रहते हैं। उत्तेजन की स्थिति में यह मेरू दंड को स्पंदनावेग प्रेषित करते रहते हैं और फिर तंत्रिकाओं के साथ-साथ श्वसन पेशियों को प्रेषित करते हैं जिसके फलस्वरूप ये पेशियाँ संकुचित होती हैं तथा निश्वसन स्थान लेता है। जब श्वसन केन्द्र संदमन की अवस्था में होता है : आवेगों का श्वसन पेशियों तक प्रेषित होना बंद हो जाता है, पेशियाँ विश्रांति की अवस्था में आ जाती हैं और उच्छवसन स्थान लेता है।

श्वसन केन्द्र का विशिष्ट उद्दीपक कार्बन डाइऑक्साइड है। जैसे ही रूधिर, जो श्वसन केन्द्रों व विशेष ग्राही में, जो रूधिर वाहिकाओं की दीवारों में स्थित होते हैं, को नहलाता है, कार्बन डाइऑक्साइड की निश्चित मात्रा का संचयन होता है, वैसे ही श्वसन केन्द्र का उत्तेजन हो जाता है तथा निश्वसन स्थान लेता है। निश्वसन के समय फुफ्फुस विस्तारित हो जाते हैं जो फुफ्फुस के ऊतकों में स्थित वेगस तंत्रिका के सिरों को उद्दीपित करता है। ग्राही में उत्पन्न होने वाला उत्तेजन वेगस तंत्रिका द्वारा श्वसन केन्द्र को प्रेषित हो जाता है और उसका संदमन कर देता है जिसके परिणामस्वरूप उच्छवसन स्थान लेता है। उच्छवसन के समय अतिरिक्त कार्बन डाइऑक्साइड जीव में से निष्कासित हो जाती है तथा रूधिर में इसकी सान्द्रता कम हो जाती है। अगला निश्वसन उस समय स्थान लेगा जब रूधिर में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा श्वसन केन्द्र को उद्दीपित करने के लिये पर्याप्त हो जाएगी

इस प्रकार श्वसन स्वचलित रूप से नियमित होता है : निश्वसन उच्छवसन को उद्दीपित करता है, तथा उच्छवसन कार्बन डाइऑक्साइड का संचयन करता है जो निश्वसन का उद्दीपन करता है।

यदि तीव्र पेशी-कार्य के फलस्वरूप, या किसी अन्य कारणवश, रूधिर में कार्बन डाइऑक्साइड की अतिरिक्त मात्रा का संचयन हो जाता है तो श्वसन केन्द्र उच्छ-वसन के तुरंत बाद ही उत्तेजित हो जाता है क्योंकि रूधिर में बिना अतिरिक्त संचयन के पहले से ही कार्बन डाइऑक्साइड की पर्याप्त सान्द्रता होती है जो केन्द्र को उत्तेजित कर देती है। ऐसी स्थितियों में श्वसन तीव्र हो जाता है यानी डिस्पनोइया (कठिन या कष्ट श्वास) स्थान लेता है। जीव में से कार्बन डाइऑक्साइड का निष्कासन शीघ्र हो जाता है तथा रूधिर में इसकी सान्द्रता सामान्य हो जाती है। कार्बन डाइऑक्साइड का संचयन स्वतः ही इसे शीघ्रता से नष्ट कर देता है और इस प्रकार श्वसन केन्द्र का उत्तेजन कम कर देता है।

श्वसन केन्द्र का उत्तेजन ऑक्सीजन की कमी से और निश्चित पदार्थों, विशेषकर निश्चित दवाओं, द्वारा भी होता है जो रूधिर में प्रवेश करते हैं।

श्वसन का नितंत्रण प्रमस्तिष्क वल्कुट में होता है–यह इस तथ्य द्वारा सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वेच्छापूर्वक अपना श्वास रोक सकता है (केवल थोड़े-से समय

के लिये ही, यह स्वीकार कर लेते हैं) या श्वसन की गति व गहराई को परिवर्तित कर सकता है। श्वसन का वल्कुट नियमन मानसिक अवस्थाओं में श्वसन के तीव्र हो जाने से भी सिद्ध होता है। रक्षी क्रियाएँ, जैसे खाँसना या छींकना, भी श्वसन के साथ सम्बन्ध रखते हैं। ये क्रियाएँ प्रतिवर्ती हैं। प्रतिवर्त के केन्द्र मेडुला ऑब्लान्गेटा मे स्थित हैं।

खाँसना कंठ, ग्रसनी या श्वसनी की श्लेष्मा झिल्ली की धूल या भोजन आदि के कणों द्वारा जो इन अंगों में प्रवेश कर जाते हैं, उत्पन्न उत्तेजना का प्रतिवर्त है। गहरे निश्वास के बाद खाँसने से वायु मार्गों से वायु प्रणोदित रूप से बाहर आती है और अपने साथ वायु मार्ग में से उत्तेजक को बाहर निकाल देती है। वायु बाहर निकलते समय स्वर रज्जुओं को गतिमय कर देती है जिससे खाँसने की ध्वनि उत्पन्न होती है।

छींकना नासा की श्लेष्मा झिल्ली के उत्तेजन का प्रतिवर्त है। इसका नियम भी वही है जो खाँसने का नियम है।

खाँसना एवं छींकना रक्षी श्वसन प्रतिवर्त हैं।

विभिन्न अवस्थाओं में श्वसन

विराम की स्थिति में व्यस्क प्रति मिनट 1-620 श्वसन गतियाँ करता है। अव अवस्था में किसी एक परिवर्तन का प्रभाव श्वसन अंगों सहित सभी अंगों के कार्य पर पड़ता है।

शारीरिक थकान के दौरान गैसों का विनिमय एकदम बढ़ जाता है। कार्य के कारणवश पेशियों में उपापचय तीव्र हो जाता है तथा ऑक्सीजन का उपभोग व इसके साथ सम्बंधित कार्बन डाइआक्सयाइड का विलोपन बढ़ जाता है। इसकी अनुक्रिया में फुफ्फुसी श्वसन प्रतिवर्त रूप से परिवर्तित होता है। प्रशिक्षित लोगों में फुफ्फुसों में गैसीय विनिमय मुख्यत: दीर्घ श्वसन के द्वारा बढ़ता है, जबकि अप्रशिक्षित लोगों में यह त्वरित श्वसन के द्वारा बढता है। तथापि, प्रशिक्षित लोगों के रूधिर की तुलना में अप्रशिक्षित लोगों का रूधिर कम ऑक्सीजन प्राप्त करता है। लम्बा व तीव्र पेशी-कार्य "ऑक्सीजन उधार" को जन्म देता है क्योंकि ऑक्सीजन की आवश्यकता उसकी पूर्ति से अधिक हो जाती है। कभी-कभी इस अवस्था के साथ तीव्र डिस्पनोइया, द्रुतहृदय (अधिक द्रुत हृदय कार्य) एवं अन्य प्रतिकूल परिघटनाएँ स्थान लेती हैं। इसके बाद तथाकथित दूसरी वायु के आरम्भ होने की सम्भावना होती है जिसमें श्वसन कार्य समान हो जाते हैं और कार्य क्षमता बढ़ जाती है।

यदि वातावरण दाब को कम या अधिक कर दिया जाये तो जीव में उत्तेजित गैसीय विनिमय के साथ सम्बंधित तीव्र परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

पवत-रोग नामक अवस्था अधिक ऊँचाई (समुद्री तल से चार कि० मी० या उससे भी अधिक) पर उत्पन्न हो जाती है; इसके लक्षण है द्रुत स्पंद तथा उच्च श्वसन गति, सिर-दर्द, पेशी कमज़ोरी, इत्यादि। इसका कारण ऊतकों में ऑक्सीजन की प्रत्यक्ष कमी है जिसे अवऑक्सीयता कहते हैं। यह सर्वज्ञात ही है कि अधिक ऊँचाईयों पर वायुमंडलीय दाब कम होता है। इसके फलस्वरूप फुफ्फुसी कूपिका में आंशिक ऑक्सीजन-दाब कम हो जाता है और फुफ्फुसों में से रूधिर में जाने वाली ऑक्सीजन की मात्रा भी कम हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप ऊतकों को अपर्याप्त ऑक्सीजन प्राप्त होती है और इसके कारण से जीव की कार्य विधियों में अनेक विक्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं। अधिक ऊँचाई पर उड़ान करते समय इससे छुटकारा पाने के लिये विशेष ऑक्सीजन उपकरण का प्रयोग किया जाता है। आक्सीजन-निश्वसन रक्त में आक्सीजन की मात्रा को बढ़ा देता है।

केसन (caisson) या पानी के नीचे, जहां वायुमंडलीय दाब अधिक होता है, काम करने वाले लोग तथाकथित केसन रोग का शिकार हो सकते हैं। इस रोग में जोड़ों व पेशियों में दर्द होना, त्वचीय खुजली होना, चक्कर आना, उल्टी होना तथा कभी-कभी बेहोश होना आदि लक्षण (ऐसी अवस्था के तीव्र हो जाने से मौत भी हो सकती है) विशिष्ट हैं। जैसे-जैसे वायुमंडलीय दाब बढ़ता है उदाहरणतया, जब कोई गोताखोर पानी के नीचे जाता है तो फुफ्फुसी कूपिका में
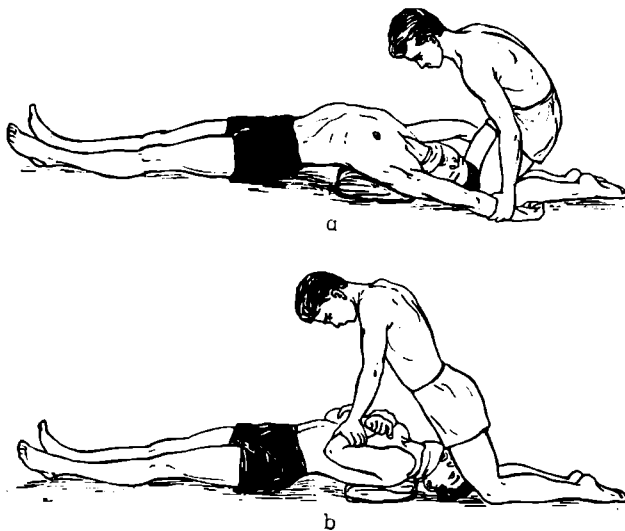
चित्र 69. कृत्रिम श्वसन

a – अंतःश्वसन ; b – उच्छ्वसन

गैसों का दाब भी बढ़ जाता है। इसके परिणामस्वरूप न केवल ऑक्सीजन, बल्कि नाइट्रोजन भी फुफ्फुसों से रूधिर में प्रवेश कर जाता है।

सामान्य वायुमंडलीय दाब में रूधिर में नाइट्रोजन विलीन अवस्था में होती है। दाब के बढ़ने से इसकी सान्द्रता बढ़ जाती है।

जैसे-जैसे वायुमंडलीय दाब कम हो कर सामान्य होता है, उदाहरणतया, जब गोताखोर सतह पर आता है, तो अतिरिक्त नाइट्रोजन रूधिर में से वायु में प्रवेश कर जाती है। यदि दाब अत्यधिक तेजी के साथ नीचे आ जाता है तो अतिरिक्त नाइट्रोजन रूधिर में ही रह जाएगी तथा रूधिर वाहिकाओं में गैस के बुलबुले बन जाएँगे। रूधिर के साथ परिसंचरण करते हुये ये बुलबुले वाहिकाओं का अधिधारण कर सकते हैं जिसके साथ-साथ जीव में अनेक विक्षोभ पैदा हो सकते हैं। केसन रोग से बचने के लिये उच्च दाब से सामान्य दाब की अवस्था में आने की क्रिया धीमी होनी चाहिये। कष्ट श्वास डिस्पनोईया के साथ-साथ कई रोग हो जाते हैं। श्वसन विक्षोभ के कारण पर आधारित डिस्पनोईया कई प्रकार के होते हैं। कुछ रोगों में डिस्पनोईया के साथ त्वरित और लघु श्वसन होता है, अन्यों में धीमा तथा दीर्घ श्वसन होता है। कभी-कभी डिस्पनोईया के साथ श्वसन आवर्त्तिता में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है जो प्रायः श्वसन केन्द्र की कम उत्तेजना का परिणाम होता है।

कृत्रिम श्वसन

चिकित्सा व्यवहार में कभी-कभी कृत्रिम श्वसन की मदद लेना भी आवश्यक हो जाता है। यदि हृदय संकुचित होना जारी रखे तो कृत्रिम श्वसन वैद्युत प्रघात, डूबना, गैस विषाक्तन और श्वसन बद्ध की अन्य स्थितियों में दिया जाता है। सामान्यतः कृत्रिम श्वसन की मदद से श्वसन केन्द्र को क्रियान्वित करना और सामान्य श्वसन पुनः प्राप्त करना सम्भव हो जाता है, तथा इस प्रकार मानव जीवन को बचा लिया है।

कृत्रिम श्वसन की अनेक विधियाँ ज्ञात हैं। प्रत्येक विधि का आधार वक्ष की क्षमता को बारी-बारी से कम या अधिक करना है (चित्र 69) ताकि वायु फुफ्फुसों के अन्दर प्रवेश कर सके और बाहर आ सके। कृत्रिम श्वसन दिये जाने की गति श्वसान क्रिया की गति के साथ मिलनी चाहिये (16 से 20 तक प्रति मिनट)।

अध्याय 5

पाचन तंत्र

पाचन

सामान्य बातें

पाचन तंत्र पाचन (या आहार) पथ और पाचन ग्रन्थियों से बनता है। **पाचन पथ** पाचन पथ 8 से 10 मीटर लम्बा होता है तथा निम्न भागों में विभाजित होता है: मुख कोटर, ग्रसनी, ग्रासनली, आमाशय, क्षुदांत्र और बृहदांत्र (चित्र 70)। पथ के विभिन्न भागों की संरचनाओं के सामान्य तथा विशेष लक्षण होते हैं।

पाचन पथ के विशाल भाग की दीवार तीन स्तरों से बनी होती है: आन्तरिक (श्लेष्मा), मध्यवर्ती (पेशी) तथा बाह्य (सीरमी)।

अन्तरिक या श्लेष्मा स्तर में उपकला की परत चढ़ी होती है जिसके बाहर चिकनी पेशी-तंतु की महीन परत के साथ संयोजी ऊतक होता है। श्लेष्मा स्तर में अनेक रूधिर वाहिकाएँ होती हैं और इसके परिणामस्वरूप इसका रंग गुलाबी होता है। इस स्तर में स्थित अनेक छोटी ग्रन्थियाँ एक श्यान श्लेष्मा स्तावित करती हैं जो पाचन पथ के श्लेष्मा स्तर की सम्पूर्ण सतह को तर कर देती है। यह भोजन की गति को आसान कर देती है और श्लेष्मा स्तर को ठोस भोजन कणों व अनेक रासायनिक पदार्थों द्वारा हानि पहुँचाने से बचाती है।

श्लेष्मा स्तर में अनेक ऐसी ग्रन्थियाँ भी है जिनके स्राव में विशेष पदार्थ होते हैं, जिन्हें एन्ज़ाइम कहते हैं और ये भोजन की पाचन क्रिया में भाग लेते हैं (आमाशय तथा क्षुदांत्र की ग्रन्थियाँ)।

आमाशय, ग्रासनली और आंत्रों का श्लेष्मा स्तर पेशी स्तर के साथ अध:श्लेष्मिका स्तर द्वारा संम्बंधित होता है जो अवद्ध संयोजी ऊतक से बना हुआ होता है। पाचन पथ के इन भागों में श्लेष्मा स्तर की कई परते बन जाती हैं।

पाचन पथ के आरम्भिक भाग में लसीकाभ ऊतकों के पुंज अर्थात गलतुण्डिका, होते हैं जो रक्षी प्रकार्य निभाते हैं।

ग्रासनली से शुरू होने वाले पाचन पथ का श्लेष्मा स्तर में लसीका ग्रंथिकाएँ होती है जिनका प्रकार्य भी रक्षी होता है।

पाचन पथ के पेशी स्तर के अधिकांश भाग में दो परते होती हैं: गोलाकार पेशी तंतु की आन्तरिक परत, तथा अनुदैर्घ्य पेशी तंतुओं की बाह्य परत। ग्रसनी
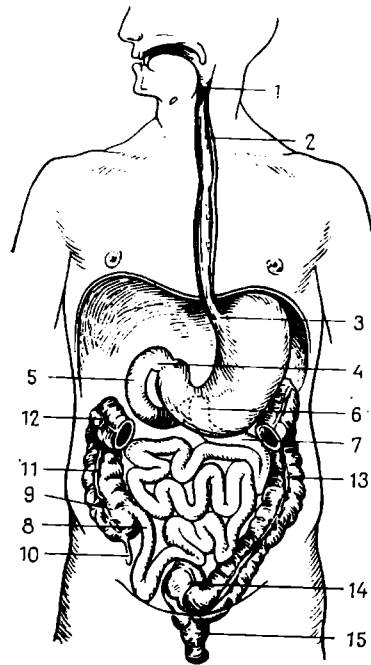
चित्र 70 पाचन-क्षेत्र का आरेख

1 – ग्रसनी ; 2 – ग्रासनली ; 3 – जठरागम ; 4 – ग्रहणी तथा आमाशय का मिलन ; 5 – ग्रहणी ; 6 – अग्रक्षुद्रांत्र तथा ग्रहणी का मिलन-स्थान ; 7 – अग्रक्षुद्रांत्र ; 8 – क्षुद्रांत्र ; 9 – अंधनाल ; 10 – कृमिरूप परिशेषिका ; 11 – आरोही बृहदांत्र ; 12 – आरोही बृहदांत्र तथा अनुप्रस्थ बृहदांत्र का मिलन स्थान (अनुप्रस्थ बृहदांत्र का अधिकतर भाग हटा दिया गया है ; 13 – अवरोही बृहदांग ; 14 – अवग्रहरूपी बृहदांग ; 15 – मलाशय ।

की दीवार और ग्रासनली का महा भाग, जिह्वा तथा कोमल तालु – सभी में रेखित पेशी ऊतक होता है। पाचन पथ के अन्य भागों के पेशी स्तर में चिकनी पेशी ऊतक होते हैं।

पेशी स्तर के संकुचन से भोजन पाचन पथ में आगे चलता है।

उदरीय कोटर में पाचन अंगो को ढकने वाला सीरमी स्तर पर्युदर्या कहलाता है। यह चमकीला, सफेद होता है और सीरमी द्रव से तर होता है। यह एकस्तरीय उपकला (मेसोथीलियम) वाले संयोजी ऊतक से बना होता है। ग्रसनी एवं ग्रासनली पर बाहर से पर्युदर्या नहीं होता, बल्कि संयोजी ऊतक की परत होती है जिसे बाह्य कंचुक कहते हैं।

पाचन ग्रन्थियां. पाचन ग्रन्थियाँ पाचन रसों को स्रावित करती हैं जिनमें एन्ज़ाइम तथा अन्य पदार्थ होते हैं जो भोजन के रासायनिक प्रक्रमण में भाग लेते हैं। पाचन पथ के श्लेष्मा स्तर में स्थित क्षुदांत्र के अलावा बृहदांत्र भी होती हैं: लालाग्रन्थि, यकृत और अग्न्याशय ये ग्रन्थियाँ पाचन पथ के बाहर स्थित होती हैं, लेकिन इसके साथ अपना सम्पर्क वाहिनियों के द्वारा बनाये रखती हैं।

पाचन पथ का और पाचन ग्रन्थियों का प्रत्येक भाग तंत्रिका तंतुओं व उनके सिरों के साथ सज्जित होता है। कई पाचन अंगों की दीवारों में (आमाशय, क्षुदांत्र आदि) तंत्रिका जालक होता है जो न केवल तंत्रिका तंतुओं से बल्कि तंत्रिका कोशिकाओं से भी बना होता है। संवेदी तंत्रिका तंतुओं के सिरे भिन्न भोजन उद्दीपकों (आमाशय दीवार के ऊपर भोजन का दाब) को महसूस करते हैं। प्रेरक तंत्रिका तंतु पाचक अंगों के पेशी स्तर में आकर समाप्त हो जाते हैं और उनका नियमन करते हैं। ये आंत्र क्रमाकुंचन को त्वरित या धीमा कर सकते हैं। पाचन ग्रन्थियों की तंत्रिकाएँ पाचन रसों के स्राव का नियमन करती हैं (लाला, आमाशय रस)

तंत्रिका तंत्र न केवल प्रत्येक अंग की कार्यविधि का नियमन करता है, बल्कि उनकी कार्यविधियों का समन्वय करता है। उदाहरणतया, निगलने की क्रिया में तंत्रिका तंत्र जिह्वा, कोमल तालु, ग्रसनी और ग्रासनली की पेशियों के संकुचन के समन्वय को सुनिश्चित करता है ताकि भोजन मुख कोटर में से ग्रसनी में जाए और फिर ग्रासनली में से गुज़र कर आमाशय में प्रवेश करें। जब मुख कोटर की श्लेष्मा झिल्ली के तंत्रिका सिरों का भोजन द्वारा उद्दीपन होता है तो लाला, आमाशय रस और अग्न्याशय रस स्रावित होते हैं।

पोषक पदार्थ. पाचन

मानव जीव को भोजन के नियमित संभरण की आवश्यकता है। भोजन में पोषक पदार्थ होते हैं: प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, जल, खनिज लवण और विटामिन। शरीर ऊतकों के जैव पदार्थों को बनाने के लिये पोषक पदार्थों की आवश्यकता होती है जो इसके अलावा ऊर्जा का स्रोत भी होते हैं जो सभी जैव प्रक्रमों में प्रयुक्त होती है (तंत्रिका कार्य विधि, पेशी कार्य, हृदय संकुचन, आदि)। भोजन में विद्यमान प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा मिश्रित कार्बनिक पदार्थ है और इनका जीव द्वारा सीधा स्वांगीकरण नहीं हो सकता। पाचन मार्ग में इनका यांत्रिकीय एवं रासायनिक विवेचन होता है और इसके फलस्वरूप ये सरल जल में विलनशील सरल पदार्थों में वियोजित हो जाते हैं जो रूधिर या लसीका द्वारा अवशोषित हो जाते हैं एवं जीव द्वारा इनका स्वांगीकरण हो जाता है। पाचन मार्ग में भोजन के इस विवेचन को पाचन कहते हैं।

भोजन के यांत्रिकीय विवेचन का अर्थ है उसका वियोजन करना और पीसना। इसके फलस्वरूप भोजन को पाचन रसों के साथ मिलाने में आसानी हो जाती है (भोजन का गलन) और इसके बाद का एन्ज़ाइमों द्वारा रासायनिक विवेचन अधिक प्रभावशाली हो जाता है। इस भोजन का रासायनिक विवेचन पाचन रसों द्वारा होता है: लाला, पित्त, आमाशय, अग्न्याशय और आंत्र रस। इन सभी रसों में, पित्त को छोड़कर एन्ज़ाइम नामक विशेष पदार्थ विद्यमान होते हैं।

पाचन एन्ज़ाइम कार्बनिक पदार्थ होते हैं, जो उत्प्रेरक का कार्य करते हैं अर्थात ये वे पदार्थ हैं जो रासायनिक अभिक्रियाओं को त्वरित करते हैं। इन एन्ज़ाइमों के प्रभाव से प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा पाचन पथ में अधिक सरल व विलयनशील पदार्थों में वियोजित हो जाते हैं। कई प्रकार के पाचन एन्ज़ाइम होते हैं जिनका विशिष्ट प्रभाव होता है अर्थात प्रत्येक एन्ज़ाइम निश्चित पदार्थ के वियोजन में भाग लेता है इसीलिये पाचन रसों के एन्ज़ाइमों को तीन ग्रुपों में विभाजित किया गया है: (1) प्रोटीन वियोजित करने वाले; (2) कार्बोहाइड्रेट वियोजित करने वाले, तथा (3) वसा वियोजित करने वाले। इनकी कार्य विधि उनके वातावरण द्वारा प्रभावित होती है। उदाहरणतया, आमाशय रस के एन्ज़ाइम केवल अम्लीय माध्यम में कार्य करते हैं; तथा आंत रस के एन्ज़ाइम केवल क्षारीय माध्यम में कार्य करते हैं। प्रत्येक पाचन रस में निश्चित एन्ज़ाइम होते हैं। एन्ज़ाइमों की थोड़ी सी मात्रा पोषक पदार्थों की बड़ी मात्रा को प्रभावित करती हैं क्योंकि जब एन्ज़ाइम भोजन के पाचन में भाग लेते हैं, तो उनका कोई परिवर्तन नहीं होता तथा वे पुनःअभिक्रिया में भाग ले सकते हैं। मिश्रित कार्बनिक पदार्थों का वियोजन अपेक्षकृत कम तापमान (शरीर तापमान) पर ही बहुत तेज़ी से होता है।

आइये अब हम पोषक पदार्थों के गुणों एवं पाचन क्रिया के दौरान उनमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करें।

प्रोटीन सबसे जटिल कार्बनिक पदार्थ होते हैं। ये जीव में मुख्यतः प्लास्टिक पदार्थ का कार्य करते हैं अर्थात जैव पदार्थों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार ये किसी अन्य पदार्थ द्वारा प्रतिस्थापित नहीं हो सकते हैं। प्रोटीन कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, सल्फर और फॉस्फोरस से बनते हैं। चूंकि इनमें नाइट्रोजन होती है, इसीलिए ये नाइट्रोजनी पदार्थ कहलाते हैं। अन्य कार्बनिक पदार्थों में कोई नाइट्रोजन नहीं होती। पाचन क्रिया में प्रोटीन मध्यवर्ती उत्पादों पेप्टोन और ऐल्बूमोसिस में वियोजित हो जाते हैं, जो अपनी बारी में कम जटिल पदार्थों-ऐमीनो अम्लों — में वियोजित हो जाते हैं। एमीनो अम्ल जल में विलेय होते हैं और इनका जीव द्वारा अवशोषण एवं स्वांगीकरण हो सकता है। विभिन्न जीवों के प्रोटीनों और एक ही जीव के विभिन्न ऊतकों के प्रोटीनों में विशिष्ट गुण होते हैं। भोजन प्रोटीनों के गुण उनको बनाने वाले ऐमीनो अम्लों पर निर्भर करते हैं। कुछ प्रोटीनों में जीव

के लिये आवश्यक सभी ऐमीनो अम्ल विद्यमान होते हैं, जबकि अन्य प्रोटीनों में केवल कुछ ही ऐमीनो अम्ल होते हैं। इनमें प्रथम प्रकार के प्रोटीनों को पर्याप्त प्रोटीन तथा द्वितीय प्रकार के प्रोटीनों को अपर्याप्त प्रोटीन कहते हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रोटीन मांस, दूध और अंडों में होते हैं। इनमें जीव के लिये आवश्यक सभी ऐमीनो अम्ल विद्यमान होते हैं। ये प्रोटीन विशेषकर बच्चों के लिये आवश्यक होते हैं। शाक के प्रोटीनों में मानव जीव के लिये आवश्यक केवल कुछ ही ऐमीनो अम्ल विद्यमान होते हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रोटीन फलियों, आलू और कुछ अन्य पौधों में मिलते हैं। आहार में अनेक प्रोटीन होने चाहिये जिनमें शाक भी सम्मिलित हैं।

कार्बोहाइड्रेट या सैकैराइड जीव में ऊर्जा का स्रोत है और ऊतकों का भाग बनाते हैं। ये कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से बनते हैं–इनमें से आखिरी दो उसी अनुपात में होते हैं जिस अनुपात में यह जल में होते हैं (यहीं से इनका नाम कार्बोहाइड्रेट रखा गया–यानी कार्बन व जल का मिश्रण)। रासायनिक संरचना के आधार पर तीन प्रकार के कार्बोहाइड्रेट होते हैं–एकलसैकैराइड, द्विसैकैराइड तथा बहुसैकैराइड*। द्राक्ष-शर्करा या ग्लूकोस तथा फल शर्करा (फल की शर्करा) एकलसैकैराइड के उदाहरण हैं। द्विसैकैराइड दो एकलसैकैराइड अणुओं से बनता है। गन्ना द्विसैकैराइड का उदाहरण है। बहुसैकैराइड और अधिक जटिल संरचना है। इनमें स्टार्च ग्लाइकोजन, इत्यादि आते हैं। पाचन क्रिया में जटिल कार्बोहाइड्रेट एकलसैकैराइड में वियोजित हो जाते हैं जो शीघ्रता से विलीन हो जाते हैं तथा जीव द्वारा इनका आसानी से अवशोषण और स्वांगीकरण हो जाता है। शाक भोजन में काफी कार्बोहाइड्रेट होते हैं (रोटी, सब्ज़ियाँ, फल आदि)।

वसा ऊर्जा का समृद्ध स्रोत हैं तथा सभी ऊतकों का संघटक होते हैं। ये उन्हीं तत्वों से बने हैं जिनसे कार्बोहाइड्रेट बने होते हैं, केवल इनका अनुपात भिन्न होता है। पाचन क्रिया के दौरान वसा ग्लिसरीन और वसा अम्लों में वियोजित हो जाते हैं। वसा अम्ल क्षुदांत्र में विद्यमान क्षारों के साथ रासायनिक अभिक्रिया करते हैं और साबुन जैसा पदार्थ बनाते हैं जो आसानी से विलीन व अवशोषित हो जाते हैं। विभिन्न वसाओं के उन्हें बनाने वाले वसा अम्लों पर निर्भर करते हैं। तीन प्रकार के मूल वसा अम्ल होते हैं: ओलीक अम्ल, पामिटिक अम्ल तथा स्टिऐरिक अम्ल। वनस्पति तेल वसा का उदाहरण है जिसमें ओलीक अम्ल होता है; पामिटिक अम्ल मक्खन में विद्यमान होता है; स्टिऐरिक अम्ल ठोस वसाओं में विद्यमान होता है (सूअर की चर्बी)। मानव जीव को सभी प्रकार के वसा अम्लों की आवश्यकता

---

*एकल द्वि तथा बहु उपसर्गों से अभिप्राय है कार्बोहाइड्रेटों को बनाने वाले अणुओं की सँख्या से।

होती है; इसीलिए आहार में दोनों प्रकार के वसा होने चाहिये प्राणि एवं वनस्पति।

ऊतकों के अन्य संघटक तथाकथित वसावत पदार्थ होते हैं (लिपिड) कार्बन, हाइड्रोजन व आक्सीजन के अतिरिक्त इन पदार्थों में फॉस्फोरस और अन्य तत्त्व होते हैं। लिपिडों में लैसिथिन तथा कोलेस्टेरॉल होते हैं। वसावत पदार्थ बड़ी मात्रा में तंत्रिका ऊतकों, रूधिर तथा अस्थि मज्जा में होते हैं। विटामिन D, अधिवृक्क वल्कुट हॉर्मोन तथा लिंग हार्मोन का संयोजन कोलेस्टेरॉल के जैसा ही होता है। आपेक्षिक रूप से लिपिडों की बड़ी मात्रा अंड पीतक दुग्ध तथा मीनांडक में पायी जाती है।

जल तथा खनिज लवण जीव के सभी ऊतकों का भाग बनाते हैं, लेकिन ये ऊर्जा का स्रोत नहीं होते व्यस्क मानव के शरीर में जल की मात्रा उसके पूर्ण भार का 70% तक हो सकती है।

जीव भोजन एवं पेय द्वारा जल प्राप्त करता है। सब्ज़ियों एवं फलों में जल की काफ़ी अधिक मात्रा होती है, हालांकि सभी आहारों में जल की निश्चित मात्रा होती है। पाचन की क्रिया में जीव द्वारा स्वांगीकृत सभी पदार्थों का विलायक जल होता है क्षुद्रांत्र एवं बृहदांत्र में रूधिर में जल अवशोषित हो जाता है।

जीव में विद्यमान खनिज लवणों में सबसे अधिक मात्रा कैल्सियम तथा फास्फोरस की होती है, जबकि क्लोरीन, लोह, आयोडिन, सोडियम, पोटेशियम आदि की मात्रा कम ही होती है। इनमें से अधिकांश लवणों की प्रतिदिन की आवश्यकता बहुत ही कम होती है; कुछ लवणों के लिये यह ग्रामों में होती है (कैल्सियम); अन्यों के लिये मि० ग्रा० में (लाह), तथा कुछ अन्यों के लिये मि० ग्रा० के भी कुछ भागों में (तथाकथित लेश तत्त्व, उदाहरणतया, कोबाल्ट) होती है। आहार की सामान्य किस्म जीव को सभी आवश्यक लवण दे देती है; इसमें साधारण लवण सम्मिलित नहीं है जो भोजन में अलग से डालना पड़ता है।

विटामिन आहार में विशेष कार्बनिक यौगिक होते हैं। ये ऊर्जा के स्रोत नहीं होते हैं, लेकिन जीव में उपापचय और अन्य क्रियाओं पर प्रभाव डालते हैं। समृद्ध आहार में पर्याप्त विटामिन होते हैं। विटामिन की कमी के कारणवश अनेक विक्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं।

जल, खनिज लवण तथा विटामिन जीव द्वारा उसी रूप में प्रयुक्त होते हैं जिस रूप में वे आहार के साथ प्रवेश करते हैं।

पोषक पदार्थ प्रायः शुद्ध अवस्था में प्राप्त नहीं होते हैं, बल्कि मिश्रित आहार के संघटक होते हैं। अधिकांश खाद्य पदार्थों (मांस, रोटी, दुग्ध, आदि) में सभी पोषक पदार्थ होते हैं हालांकि ये भिन्न-भिन्न मात्रा में होते हैं।

मुख कोटर

मुख कोटर (cavum oris) पाचन पथ का प्रारम्भिक परिवर्द्धित भाग होता है (चित्र 71)। यह प्रघाण तथा स्वयं मुख कोटर से बना होता है।

मुख का प्रघाण एक रेखा-छिद्र जैसा अवकाश होता है जो बाहर से ओष्ठों एवं कपोलों द्वारा बंधा हुआ होता है और अन्दर से दांत एवं जबड़े के कूपिका प्रवर्ध द्वारा बंधा हुआ होता है। ओष्ठों एवं कपोलों में अनुहारी पेशी होती हैं; ये बाहर से त्वचा द्वारा ढके होते हैं और इनके अन्दर एक श्लेष्मा झिल्ली चढ़ी हुई है (प्रघाण में)। यह श्लेष्मा झिल्ली ओष्ठों तथा कपोलों से जबड़े के कूपिका प्रवर्ध तक विस्तरित है और ऊपरी तथा निम्न ओष्ठों की प्रग्रह की मध्यवर्ती रेखा में बनती है। जबड़े के कूपिका प्रवर्ध पर श्लेष्मा झिल्ली पर्यस्थिकला के साथ चिपकी रहती है और दन्तमांस (मसूढ़ा) (ginviva) कहलाती है।

विशिष्ट मुख कोटर ऊपर से कठोर तथा कोमल तालुओं से बंधा हुआ होता है तथा नीचे से मुख डायफ्राम द्वारा, अग्र एवं पार्श्व से दांत और कूपिका प्रवर्ध द्वारा, पश्च से यह दलकंठ द्वारा ग्रसनी के साथ जुड़ा होता है।

कठोर तालु मुख कोटर को नासा कोटर से पृथक करता है। यह जंभिका के तालव प्रवर्धों और तालव अस्थियों की क्षैतिज प्लेटों से बना हुआ होता है, और श्लेष्मा झिल्ली से ढका हुआ होता है।

कोमल तालु कठोर तालु के पीछे की ओर स्थित होता है तथा यह एक पेशी प्लेट होती है जो श्लेष्मा झिल्ली द्वारा ढकी हुई होती है। मध्यवर्ती रेखा के साथ-साथ स्थित कोमल तालु का कोणीय भाग अधिजिह्वा कहलाता है। कोमल तालु में निम्न पेशियाँ होती हैं: विच्छद तालव तानिका (कोमल तालु को तानित करती है); उन्नयनी तालव तानिका (कोमल तालु को ऊपर उठाती है), और अधिजिह्वा। ये पेशियाँ रेखित पेशी ऊतक से बनी हैं।

मुख डायाफ्राम या मुख कोटर का फर्श चिबुककंठिका पेशियों से बना है। मुख कोटर के फर्श पर श्लेष्मा झिल्ली एक परत बनाती है जिसे जिह्वा का प्रग्रह कहते हैं। डायाफ्राम के पार्श्व में दो उठाव होते हैं, ये लाला अंकुश्क हैं जो अधोजंभ और अजिह्वि ग्रन्थियों की वाहिनियों को खोलते हैं।

दलकंठ वह अवकाश है जो मुख कोटर को ग्रसनी के साथ जोड़ता है। यह ऊपर से कोमल तालु, नीचे से जिह्वा के आधार, तथा पार्श्व से तालु आर्कों द्वारा बंधा हुआ होता है। दो आर्क होती हैं–जिह्वातालव तथा ग्रसनीतालव, जो दलकंठ के दोनों ओर होती हैं। ये श्लेष्मा झिल्ली की परतें हैं जिनमें आर्क के नाम वाली पेशियाँ स्थित होती हैं। ये पेशियाँ कोमल तालु को नीचे लाती हैं।

आर्कों के बीच एक रिक्त स्थान या कोटर होता है जिसमें तालव गलतुण्डिका
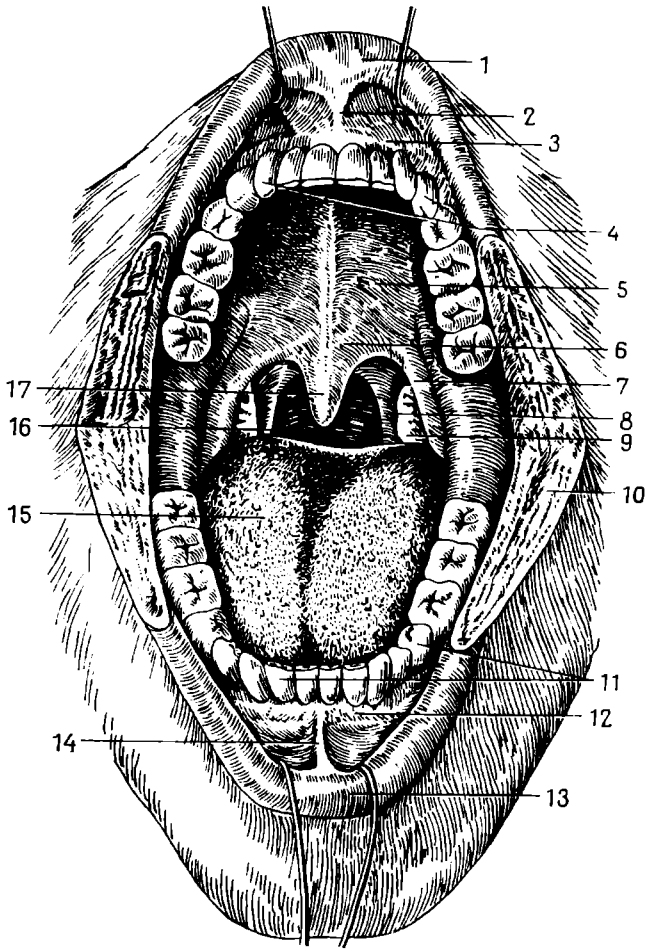
चित्र 71. मुख कोटर (कपोल को काट दिया गया है)
1 – ऊपरी ओष्ठ ; 2 – ऊपरी ओष्ठ का प्रग्रह ; 3 – गम ; 4 – अपरि दंत ; 5 – कठोर तालु ; 6 – मृदु कठोर ; 7 – जिह्वान्तालु आर्क ; 8 – ग्रसनीतालू आर्क ; 9 – तालु गलतुण्डिका ; 10 – कपोल का भाग ; 11 – निम्न दंत ; 12 – गम ; 13 – निम्न ओष्ठ ; 14 – निम्न ओष्ठ का प्रग्रह ; 15 – जिह्वा (पृष्ठ) ; 16 – दलकंठ ; 17 – अधिजिह्वा ।

होती है। मानव में कुल छः गलतुण्डिकाएँ होती हैं: दो तालव, एक जिह्वा, एक ग्रसनी और दो डिम्बवाहिनी। जिह्वा गलतुण्डिका जिह्वा के आधार की श्लेष्मा झिल्ली में स्थित होती है, जबकि ग्रसनी और डिम्बवाहिनी गलतुण्डिकाएँ ग्रसनी की श्लेष्मा झिल्ली में पायी जाती है (इसका वर्णन आगे किया गया है)। प्रत्येक गलतुण्डिका लसीकाभ ऊतकों से बनी होती है जो विभिन्न आकारों के कूप बनाती है। ये लसीकाणुओं के जनन का स्थान होते हैं। गलतुण्डिकाएँ रोध प्रकार्य पूरा करती हैं (हानिकारक रोगाणुओं से बचाव करती हैं)।

सभी गलतुण्डिकाएँ परस्पर मिलकर तथाकथित लसीका छल्ला बनाती हैं। प्रत्येक रोगी, विशेषकर बच्चों के दलकंठ का प्रत्येक डाक्टरी जाँच में निरीक्षण किया जाता है क्योंकि अनेक रोगों में दलकंठों में परिवर्तन उत्पन्न होते हैं (कण्ठ-शूल, स्कार्लेट ज्वर, आदि)।

जिह्वा

जिह्वा (lingua या glossa) पेशी अंग है जिस पर श्लेष्मा झिल्ली चढ़ी होती है (चित्र 72)। इसका एक अग्रांग, एक पिंड और एक आधार होता है। जिह्वा का आधार कंठिकास्थि के साथ जुड़ा होता है, जबकि पिंड और अग्रांग स्वतंत्र होते हैं। जिह्वा की ऊपरी सतह पृष्ठ कहलाती है।

जिह्वा की पेशियाँ विशिष्ट जिह्वा पेशियों और अस्थियों में उदगम वाली पेशियों में विभाजित की गई हैं। विशिष्ट जिह्वा पेशियाँ पेशी तंतुओं से बनी होती हैं जो तीन दिशाओं में विस्तरित होते हैं: क्षैतिज, अनुप्रस्थ तथा ऊर्ध्वाधर। इन पेशियों का संकुचन जिह्वा की आकृति परिवर्तित कर देता है। जिह्वा पेशियों के तीन युगल – जिह्वकंठिका, चिबुकजिह्व और शरजिह्विका पेशी – के उदगम अस्थियों पर होते हैं। ये सभी जिह्वा पर समाप्त होते हैं। ये पेशियाँ जिह्वा को आगे, पीछे, ऊपर और नीचे करते हैं।

जिह्वा के पृष्ठ पर श्लेष्मा झिल्ली चूचुकजैसे उठाव बनाती है जिन्हें अंकुरक कहते हैं। अंकुरक चार प्रकार के होते हैं: तंतुरूप, कवकी, परिभित्तिक तथा शल्कित। तंतुरूप अंकुरकों में स्पर्श संवेदना (स्पर्श अनुभव) होती है। शेष सभी अंकुरक रससंवेदी होते हैं। अंकुरक जिह्वा को मखमली स्वरूप प्रदान करते हैं। अनेक रोगों (जैसे, आमाशयआंत्र रोग) में जिह्वा की श्लेष्मा झिल्ली का बाहरी स्वरूप परिवर्तित हो जाता है तथा निदान करते समय इस की भी जाँच की जाती है।

जिह्वा के आधार की श्लेष्मा झिल्ली में लसीका ऊतकों का पुंज बन जाता है: यही जिह्वा गलतुण्डिका है।

जिह्वा के प्रकार्य जिह्वा स्वाद का अंग है। इसमें तापीय, दर्द और स्पर्श संवेदना

10—0838
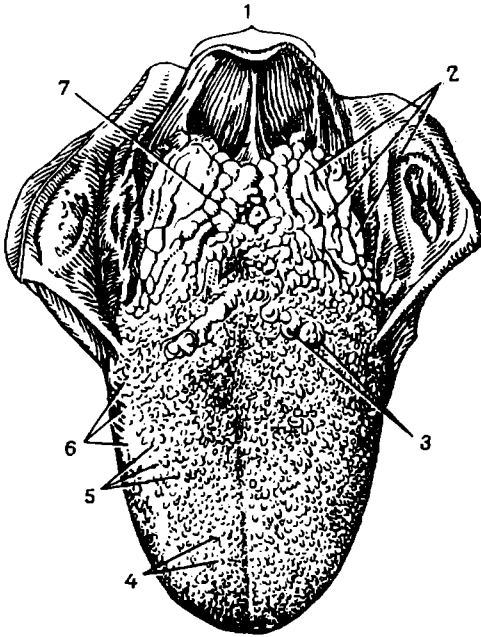
चित्र 72. जिह्वा (पृष्ठ)
1–कण्ठच्छद ; 2–जिह्वा गलतुण्डिका ; 3–परिभित्तिक पपिला ; 4–तंतुरूपी पपिला ; 5–कवकी पपिला ; 6–शल्कित पपिला ; 7–जिह्वा का आधार।
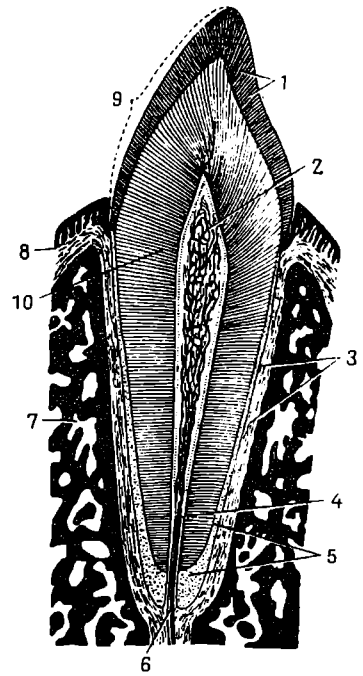
चित्र 73. दंत (भाग)
1–दन्तवल्क ; 2–मज्जा गुहा ; 3–परीसीमेंटम ; 4–मूल नलिका ; 5–सीमेंट ; 6–दंत के शिखर पर रंध्र जो तंत्रिकाओं एवं वाहिकाओं के लिये मार्ग बनाता है ; 7–हनु का अस्थि पदार्थ : 8–गम– –क्राउन ; 9–तधातु।

भी होती है। यह चर्वण के दौरान भोजन को मिलाने में मदद करती है। मानव में जिह्वा वाक उच्चारण में भी मदद करती है।

दन्त

मुख कोटर में दन्त (dentes) जबडों के कूपिका प्रवर्धों के कूपों (कूपिकाओं) में बंधे हुए होते हैं। दाँत के तीन भाग होते हैं: **शिखर, ग्रीवा** और **मूल** (चित्र 73)। दन्त के शिखर मुख कोटर में निकल आते हैं, जबकि इनका मूल कूपिका में बँधा रहता है। ग्रीवा शिखर और मूल के जुड़ने की रेखा पर संकुचित भाग होता

है। यह दन्तमांस (मसूड़ा) द्वारा ढका हुआ होता है। दन्त के अन्दर एक कोटर होता है जो मूल नलिका तक विस्तरित होता है। दन्त कोटर में दन्त मज्जा होता है जो अबद्ध संयोजी ऊतक से बनता है और इसमें रुधिर वाहिकाएँ तथा तंत्रिकाएँ होती हैं।

दंत तीन पदार्थों से बना होता है—दन्तधातु, दन्तवल्क और सीमेंटम। दन्तधातु मुख्य पदार्थ समझा जाता है क्योंकि यह दन्त का अधिकांश भाग बनाता है। संरचना के दृष्टिकोण से यह कुछ अस्थि जैसा होता है, लेकिन अस्थि से दृढ़ होता है। दन्त-वल्क दन्त के शिखर को ढकता है; यह मानव शरीर में सबसे कठोर ऊतक है, इसमें 98.5 प्रतिशत अकार्बनिक लवण होते हैं। सीमेंटम दन्त के मूल और दंत की ग्रीवा पर चढ़ा हुआ होता है। इसकी संरचना दन्तधातु की तुलना में अस्थि के साथ अधिक मिलती है।

दन्त के मूल और कूपिका प्रवर्धों के कूप की दीवार के बीच संयोजी ऊतक की छोटी-सी परत होती है जिसे परिसीमेंटम कहते हैं। परिसीमेंटम के कोलैजिनस तंतु एक स्नायु बनाते हैं जो दन्त को प्रबल कर देते हैं।

आकृति के आधार पर दन्त कृन्तक, रदनक, चर्वणक तथा अग्रचर्वणक में विभाजित किये जाते हैं। कृन्तक का शिखर छेनी जैसा होता है, जबकि रदनकों का कोणीय शिखर होता है। अग्रचर्वणक के शिखर पर दो कप होते हैं तथा चर्वणक के शिखर पर चार या पाँच कप होते हैं। कृन्तक तथा रदनकों का कार्य भोजन को काटना है तथा अग्रचर्वणक एवं चर्वणक का कार्य भोजन को पीसना है। विभिन्न प्रकार के दन्तों के विभिन्न मूल होते हैं; कृन्तक और रदनक के एक-एक मूल होते हैं, अग्रचर्वणक के एक-एक या कभी-कभी दो-दो मूल भी होते हैं। निम्न चर्वणक के दो और ऊर्ध्व में प्रत्येक के तीन मूल होते हैं। मानव में दन्त दो बार उत्पन्न होते हैं; पहले दन्त सैट को दूग्ध दन्त कहते हैं, तथा दूसरे सैट को स्थायी दन्त कहते हैं।

दूग्ध दन्त कुल 20 होते हैं– ऊपर और नीचे के सैटों के प्रत्येक अर्ध में पाँच होते हैं (2 कृन्तक, 1 रदनक तथा 2 चर्वणक)। दूग्ध-दन्त निम्न क्रम में 6 महीनों से $2^1/_2$ वर्ष तक की आयु में निकलते हैं: पहले मध्यवर्ती कृन्तक, फिर पार्श्व कृन्तक, प्रथम चर्वणक, रदनक और अन्त में द्वितीय चर्वणक। शिशु के दन्तविन्यास का समय उसके सामान्य विकास का एक सूचक है। कुछ रोगों में (उदाहरणतया, रिकेटस में) दंतविन्यास कुछ देर से होता है।

स्थायी दन्तों की सँख्या 32 होती हैं। दन्तों की सँख्या दन्त सूत्र से प्राप्त होती है जो स्थायी दन्तों के लिये निम्न प्रकार है:

$$\frac{2.\,1.\,2.\,3}{2.\,1.\,2.\,3}$$

इस सूत्र के अनुसार ऊपर और नीचे के सैंटों के प्रत्येक अर्ध में दो कृन्तक, 1 रदनक, 2 अग्र चर्वणक और तीन चर्वणक होते हैं। तीसरे **चर्वणक** को प्रौढ़ज दंत कहते हैं।

प्रौढ़ज दंत के अलावा शेष सभी स्थायी दन्त 7 से 14 वर्ष की आयु में निकलते हैं। प्रौढ़ज दन्त 17 से 30 वर्ष की आयु में प्रकट होता है तथा कभी-कभी वह प्रकट ही नहीं होता। प्रथम चर्वणक स्थायी दन्तों में सर्वप्रथम प्रकट होते हैं (7 वर्ष की आयु में)। स्थायी दंतों के प्रकट होने का क्रम निम्न है: प्रथम चर्वणक, मध्यवर्ती कृन्तक, पार्श्व कृन्तक, प्रथम अग्रचर्वणक, रदनक, द्वितीय अग्रचर्वणक, द्वितिय चर्वणक तथा अंत में प्रौढ़ज दन्त।

लाला ग्रन्थि

अनेक छोटी ग्रन्थियाँ जिनके स्राव में श्लेष्मा होता है (ओष्ठीय, मुख, तालव तथा जिह्वा)। मुख कोटर की श्लेष्मा झिल्ली में स्थित होती हैं। इसके अतिरिक्त विशाल लाला ग्रन्थियों के तीन युगल होते हैं—**कर्णपूर्व, अधोजंभ** तथा **अधोजिह्वा** ग्रन्थियाँ जिनकी वाहिनियाँ भी मुख कोटर में निकलती हैं (चित्र 74)।

कर्णपूर्व ग्रन्थि (glandula parotis) बाह्य कर्णकुहर के नीचे और आगे स्थित होती है। इस ग्रन्थि की वाहिनी चर्वण पेशी की बाह्य सतह के साथ-साथ होती है और कपोलिका पेशी में प्रवेश करके कपोल की श्लेष्मा झिल्ली के मुख प्रघाण में खुलती है।

अधो जंभ ग्रन्थि। अधोजंभ खात में मुख डायाफ्राम के नीचे स्थित होती है। इस ग्रन्थि की वाहिनी मुख डायाफ्राम की ऊपरी सतह पर स्थित होती है और विशिष्ट मुख कोटर में जिह्वा के नीचे लाला अंकुरक पर खुलती है।

अधोजिह्वा ग्रन्थि मुख डायाफ्राम पर जिह्वा के नीचे स्थित होती है। ऊपर से इस पर श्लेष्मा झिल्ली चढ़ी हुई होती है जो ग्रन्थि के नीचे **अधोजिह्वा** परत बनाती है। इस ग्रन्थि का एक बृहत तथा अनेक छोटी वाहिनियाँ होती हैं। बृहत वाहिनी अधोजंभ ग्रन्थि की वाहिनी के साथ लाला अंकुरक पर खुलती है, जबकि छोटी वाहिनियाँ अधोजिह्वा परत पर खुलती हैं।

लाला ग्रन्थियों के स्राव को लाला कहते हैं।

मुख कोटर में पाचन

आहार के रससंवेदी गुण, इसका तापमान और गाढ़ापन मुख कोटर में ज्ञात हो जाते हैं जहाँ पाचन-क्रिया आरम्भ होती है और भोजन यांत्रिकीय तथा रासायनिक प्रक्रियाओं में से गुजरता है।
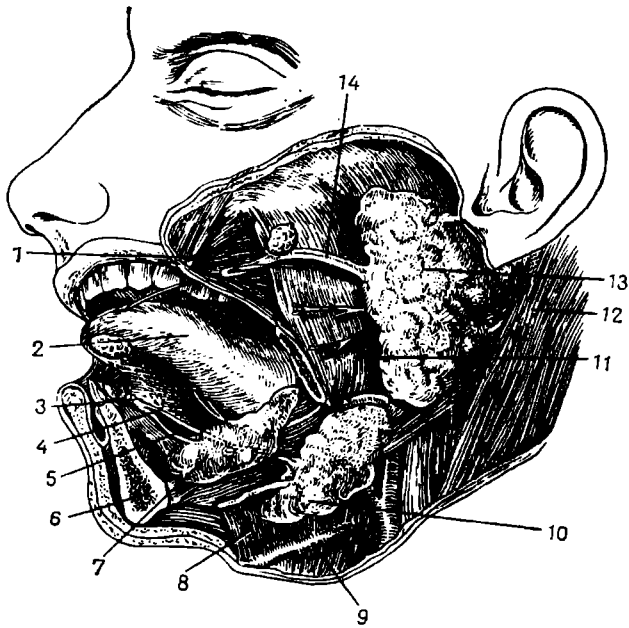
चित्र 74. लाला-ग्रंथि

1 – कपोलिका पेशी ; 2 – जिह्वा ; 3 – लाला पपिला ; 4 – अधिजांभिका ग्रन्थि की वाहिनी ; 5 – अधिजिह्वा ग्रन्थि की वाहिनी ; 6 – निम्न हनु ; 7 – अधिजिह्वा ग्रन्थि ; 8 – चिबुक कंटिका पेशी ; 9 – कंठिकास्थि ; 10 – अधिजांभिका ग्रन्थि ; 11 – चर्वणी पेशी ; 12 – स्टर्नोक्लाइडोमस्टोईड पेशी ; 13 – कर्णपूर्व ग्रन्थि ; 14 – कर्णपूर्व ग्रन्थि की वाहिनी ।

यांत्रिकीय प्रक्रिया में भोजन दन्तों द्वारा चर्वण के दौरान टूटता और पिसता है। उसी समय यह लाला के साथ मिलकर व तर हो कर बोलस (bolus) बनाता है। रासायनिक प्रक्रिया लाला में विद्यमान एन्ज़ाइमों द्वारा होती है जो भोजन पर प्रभाव डालते हैं।

लाला का संयोजन व प्रभाव. लाला एक स्पष्ट क्षारीय द्रव है। इसमें 98.5-99 प्रतिशत जल तथा 1-1.5 प्रतिशत कार्बनिक और आकार्बनिक पदार्थ होते हैं। लाला में म्यूसिन होता है जो श्यान श्लेष्मा पदार्थ और दो एन्ज़ाइम – प्टीआलिन और माल्टेस होते हैं। श्लेष्मा भोजन को मुख कोटर में ढक लेता है तथा बोलस बनाता है जिसे आसानी से निगला जा सकता है। लाला एन्ज़ाइम स्टार्च पर रासायनिक क्रिया करते हैं और शर्करा में रूपांतरित कर देते हैं।

आमाशय में यह क्रिया तब तक ज़ारी रहती है जब तक बोलस में अम्लीय आमाश्य रस जमा नहीं हो जाता है। लाला में कोई एन्ज़ाइम नहीं होते हैं जो वसा एवं प्रोटीनों का वियोजन करते हों।

एक दिन के दौरान मानव 1.5. लीटर लाला स्रावित करता है। यह स्मरण रहे कि भोजन की प्रकृति, भौतिकीय तथा रासायनिक गुणों के आधार पर लाला की न केवल मात्रा बल्कि उसका संयोजन भी भिन्न होता है। कुत्तों पर किये गए प्रयोगों के फलस्वरूप, उदाहरणतया, यह सिद्ध किया जा चुका है कि तर भोजन की तुलना में सूखे भोजन द्वारा अधिक लाला स्रावित होता है। मानव में भोजन का सूखापन इतना महत्वपूर्ण नहीं होता। लाला का स्राव मुख कोटर के जल या अम्ल द्वारा उद्दीपित होने से बढ़ जाता है। चर्वण स्राव को प्रतिवर्त रूप से मदद करता है (भोजन जितना अधिक चर्वित होगा, उतना ही अधिक लाला स्रावित होगा)। कुत्ता केवल खाना खाते समय ही लाला स्रावित करता है। मानव खाना के समय के बीच अंतरालों में भी लाला स्रावित करता है, हालांकि इस समय लाला केवल थोड़ी-सी मात्रा में ही स्रावित होता है।

लालास्रवण का नियमन. लाला ग्रन्थियों की क्रिया का अध्ययन पावलोव तथा उसके शिष्यों ने किया। उसने स्थायी नालव्रर्ण बनाने की विधि तैयार की जिसकी मदद से वह शुद्ध लाला प्राप्त कर सका ताकि उसकी मात्रा व गुण का अध्ययन कर सके। इस विधि के अनुसार प्राणि की लाला ग्रन्थि (प्रायः कर्णपूर्व ग्रन्थि) की वाहिनी का मुख मुखकोटर में से निकाल कर बाहर लाया जाता है और इसे त्वचा से सी दिया जाता है। इस मुख में से लाला स्रावित होता है और इसे एक परीक्षण नली में एकत्रित किया जाता है (चित्र 75)। स्थायी नालव्रण वाले प्राणि कई वर्षों तक जीवित रहते हैं। मानव में लालास्रवण का अध्ययन करने के लिये एक विशेष धात्विक कैप्स्यूल प्रयुक्त किया जाता है। इस कैप्स्यूल को लाला ग्रन्थि की वाहिनी के मुख के आसपास कपोल की श्लेष्मा झिल्ली के साथ जोड़ दिया जाता है, तत्पश्चात इसे एक रबड़ नलिका के साथ जोड़ दिया जाता है जिसमें से लाला गुज़र कर बाहर आ जाता है।

पावलोव विधि ने सिद्ध किया कि लाला ग्रन्थियों की क्रिया तंत्रिका तंत्र द्वारा प्रतिवर्त रूप से नियंत्रित होता है। मुख कोटर में भोजन संवेदी तंत्रिका सिरों को— विशेषतः स्वाद ग्राही को—उद्दीपित करता है। उत्तेजन (तंत्रिका आवेग) संवेद तंत्रिकाओं द्वारा केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के लालास्रवण के केन्द्र, इस स्थिति में मेडुला आब्लांगाटा, तक पहुँचता है। लालास्रवण केन्द्र से आवेग अपवाही (स्रवण) तंत्रिकाओं में से लाला ग्रन्थियों तक पहुँचता हैं और उनसे लाला स्रावित कराता है। अननु-बंधित लाला प्रतिवर्त इसी प्रकार उत्पन्न किया जाता है। लाला न केवल मुख में भोजन रखने पर स्रावित होता है, बल्कि, जैसा कि ऊपर बताया गया है, भोजन

के दिखाई देने या खुशबू आने पर और मानव की स्थिति में भोजन की चर्चा करने पर भी लाला स्रावित हो जाता है। ये अननुबंधित प्रतिवर्त लालास्रवण की स्थितियाँ हैं जिनमें प्रमस्तिष्क वल्कुट में प्रतिवर्त आर्कों का युग्मन होता है।
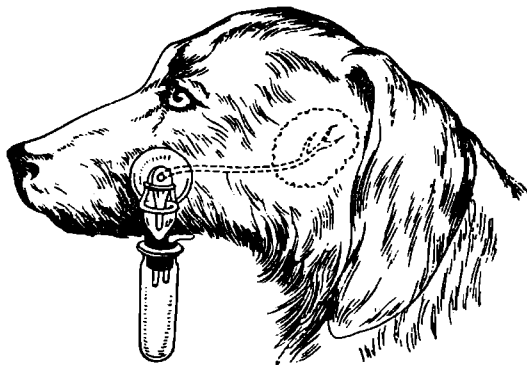
चित्र 75. कर्णपूर्ण ग्रन्थि के मालक्षेप के साथ कुत्ता। कपोल में बाहर निकाली गई ग्रन्थि वाहिनी के प्रवेश रंध्र के पास लाला इकत्रित करने के लिये परीक्षण नली एवं कीप बांध दी गयी हैं।

कुछ निश्चित रासायनिक पदार्थ, विशेष्तः औषधियाँ, लाला के स्राव पर प्रभाव डालते हैं। कुछ रोगों में प्रयुक्त होने वाली पाइलोकार्पीन निरंतर लाला स्रावित करती है, जबकि ऐट्रोपीन लाला ग्रन्थियों के स्रवण को कम करती है।

निगरण

जैसा कि पहले बताया गया है कि मुख कोटर में भोजन को कूटा जाता है, लाला के साथ मिलाया व तर किया जाता है। जब बोलस या द्रव भोजन मुख कोटर (कोमल तालु, दलकंठ) के पश्च भाग के ग्राही को उद्दीपित करता है, और तत्पश्चात ग्रसनी के ग्राही को उद्दीपित करता है, तो तंत्रिका आवेग संवेदी तंत्रिका तंतु के साथ-साथ मंडुला आब्लान्गैटा में स्थित निगरण के केन्द्र की ओर प्रेषित होता है और इसके बाद प्रेरक तंत्रिका तंतुओं के साथ-साथ निगरण में भाग लेने वाली पेशियों तक पहुँचता है।

निगरण एक जटिल क्रिया है जिसमें जिह्वा की पेशियाँ, मुख-फर्श, कोमल तालु, ग्रसनी और ग्रसिका भाग लेते है। निगरण में मुख बंद हो जाता है, कोमल तालु ऊपर उठता है, और नासाग्रसनी को शेष ग्रसनी से पृथक करता है, कंठनलिका

ग्रौर कंठिकास्थि ऊपर उठते हैं, जिह्वा पीछे की ग्रोर जाती है तथा बोलस को पीछे की ग्रोर धकेलती है। कण्ठच्छद कंठनलिका का मुख बंद कर देता है ताकि भोजन श्वसन पथ में प्रवेश न कर सके।

निगला हुग्रा बोलस दलकंठ में से गुज़र कर ग्रसिका में से होते हुये ग्रामाशय में पहुँचता है।

भोजन ग्रसनी तथा ग्रसिका में इन ग्रंगों की पेशी परत के संकुचन द्वारा ग्रागे चलता है।

ग्रसनी

ग्रसनी का कार्य भोजन को मुख कोटर से ग्रसिका तक पहुँचाना ग्रौर वायु को नासा कोटर से कंठ तक पहुचाना है (चित्र 76)। यह नलिका नासा कोटर, मुख कोटर तथा कंठ के पीछे स्थित होती है, इसीलिये तीन भागों में विभाजित होती है–नासा ग्रौर नासाग्रसनी, मुख या मुखग्रसनी, ग्रौर कंठ या कंठ–ग्रसनी। ग्रसनी का ऊपरि भाग करोटि के ग्राधार के साथ जुड़ा होता है, ग्रौर इसका निचला भाग ग्रसिका के साथ छठवें या सातवें ग्रैव कशेरूक के स्तर पर जुड़ा होता है। ग्रसनी के पीछे कशेरूक दंड का ग्रैव भाग होता है।

ग्रसनी की दीवार तीन परतों से बनी होती है–श्लेष्मा परत, पेशी परत तथा बाह्य कंचुक। श्लेष्मा परत में श्लेष्मा ग्रन्थियाँ काफ़ी बड़ी संख्या में होती हैं। नासा ग्रसनी की श्लेष्मा परत में तीन गलतुण्डिकाएँ भी होती हैं–ग्रसनी गलतुण्डिका तथा दो डिम्बवाहिनी गलतुण्डिकाएँ। ग्रसनी की पेशी परत में पेशियों के तीन जोड़े होते हैं, जिन्हें ग्रसनी का संकीर्णक तथा ग्रन्य दो जोड़ों को, जो ग्रसनी को ऊपर उठाते हैं, तालव-ग्रसनी ग्रौर शूकाभ-ग्रसनी कहते हैं।

नासाग्रसनी का नासा कोटर के साथ सम्बन्ध दो रंध्रो ग्रथवा ग्रान्तरनासा रंध्रों द्वारा होता है। नासाग्रसनी की प्रत्येक पार्श्वक दीवार में एक छिद्र होता है जो श्रवण-नली तक जाता है। श्रवंण नली ग्रसनी को शंखास्थि के कर्णपटह कोटर के साथ जोड़ता है (मध्य कर्ण का कोटर)।

ग्रसिका

ग्रसिका एक 25 सें० मी० लम्बी नलिका है (दे० चित्र 70) जिसमें से भोजन गुज़रकर ग्रामाशय में जाता है। ग्रसिका का ग्रारम्भिक भाग ग्रीवा में स्थित होता है, तथा इसका ग्रधिकांश भाग वक्षीय महाधमनी के बाद कशेरूक दंड के सामने वक्षीय कोटर में स्थित होता है, तथा इसका लगभग तीन सें० मी० लम्बा भाग उदरीय कोटर में स्थित होता है। वक्षीय कोटर से उदरीय कोटर तक इसका
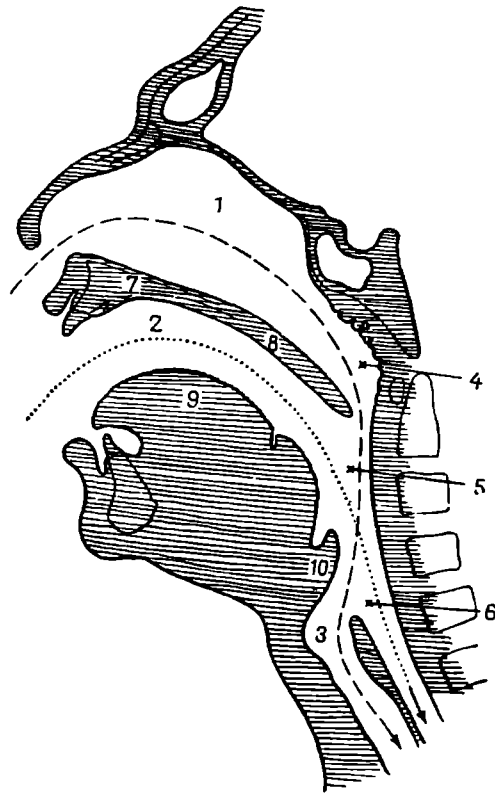
चित्र 76. भोजन (......) तथा वायु (– – –) के जाने के मार्ग का ग्रारेख।
1 – नासा गुहा ; 2 – मुख कोटर ; 3 – कंठ गुहा ; 4 – ग्रसनी का नासा भाग ; 5 – ग्रसनी का मुख भाग ; 6 – ग्रसनी का कंठ भाग ; 7 – कठोर तालु ; 8 – मृदु तालु ; 9 – जिह्वा ; 10 – कण्ठच्छद।

विस्तारण डायाफ़ाम के कटि भाग में छिद्र में से होता है। ग्रसिका में तीन संकीर्णक होते हैं : एक ग्रारम्भ में, एक चतुर्थ वक्षीय कशेरूक के स्तर पर, तथा एक उस स्थान पर जहाँ से यह डायाफ़ाम में से गुज़रती है।

दुर्घटना के कारणवश निगल लिये गये ग्रनुपयुक्त पदार्थ इन संकीर्णकों में फँस जाते हैं।

ग्रसिका की दीवार श्लेष्मा परत, ग्रध: श्लेष्मिका परत, पेशी परत तथा बाह्य कंचुक से बनती है। श्लेष्मा परत में ग्रनुदैर्घ्य मोड़ होते हैं जो ग्रसिका में से भोजन के गुज़रते समय सीधे हो जाते हैं। ग्रसिका के पेशी परतों के संकुचन के फलस्वरूप

भोजन आगे-चलता है। बाह्य कंचुक, ग्रसिका की बाह्य परत, संलग्न अगों को स्पर्श करता है। ग्रसिका आमाशय के साथ ग्यारहवें वक्षीय कशेरूक के स्तर पर जुड़ती हैं।

आमाशय

आमाशय पाचन मार्ग का प्रसारित भाग है (चित्र 77)। यह उस भोजन के पात्र का कार्य निभाता है जिसका थोड़ा-सा पाचन हो गया हो। यह उदरीय कोटर के ऊपरी भाग में डायाफ्राम के नीचे वाम हाइपोकॉन्ड्रिया और अधिजठर क्षेत्रों में स्थित होता है। आमाशय का अधिकांश भाग ($^5/_6$ वाँ भाग) मध्यवर्ती रेखा के दायीं ओर स्थित होता है। आमाशय के निम्न भाग होते हैं: ग्रसिका रंध्र,
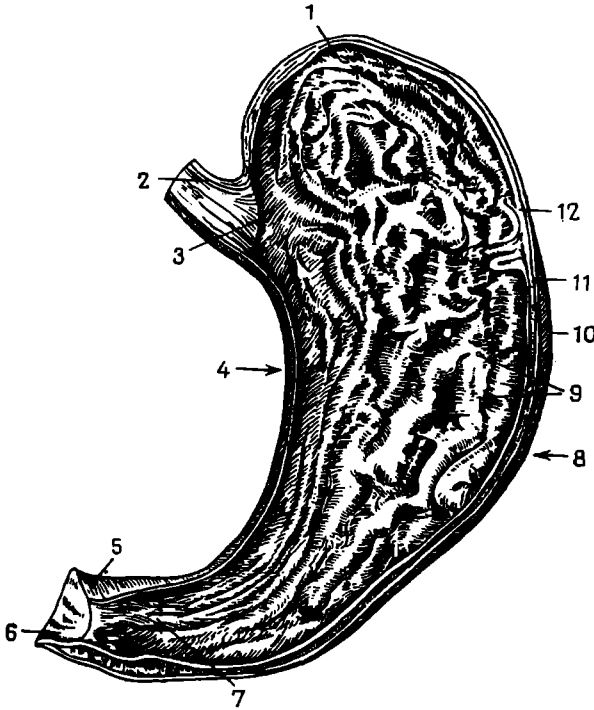
चित्र 77. आमाशय (अग्र भाग)

1—फंडस वन्ट्रीकुली; 2—ग्रसिका (उदर भाग); 3—जठरागम; 4—लघु वक्र; 5—जठरनिर्गम अवरोधिनी; 6—ग्रहणी (प्रारम्भिक); 7—जठरनिर्गम; 8—महा वक्र; 9—श्लेष्मल आवरण; 10—सीरस आवरण; 11—पेशी आवरण; 12—श्लेष्मल आवरण।

फण्डस, पिंड, जठरनिर्गम तथा दो सीमाएँ जिन्हें महा वक्र और लघु वक्र कहते हैं। आमाशय का आकार तथा आकृति खाये गये भोजन के साथ और इसकी दीवार के विस्तारण की सीमा पर निर्भर करते हैं। भोजन से भरा हुआ आमाशय रासायनिक रिटार्ट जैसा लगता है। इसकी क्षमता एक से दो लीटर तक होती है।

आमाशय की दीवार चार परतों से बनी हुई होती है—श्लेष्मा, अधो श्लेष्मा, पेशी तथा सीरमी (पर्युदर्या)।

श्लेष्मा परत में अनेक मोड़ होते हैं जो आमाशय में भोजन के आने से सीधे हो जाते हैं। आमाशय की झिल्ली का एक गोल मोड़ होता है जो जठरनिर्गमी वाल्व कहलाता है। मोड़ के अतिरिक्त श्लेष्मा परत में स्थायी छोटे जठर गर्त होते हैं जिनमें जठर ग्रन्थि की वाहिनियाँ खुलती हैं।

जठर ग्रन्थियों की आकृतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। वयस्क में इनकी कुल संख्या 4 करोड़ तक पहुँचती है। फण्डस, पिंड, जठर निर्गम और जठरागम की ग्रन्थियों में विभेद उनके स्थान के आधार पर किया जाता है। फण्डस और पिंड की ग्रन्थियाँ तीन प्रकार की कोशिकाओं से बनती हैं: मुख्य, भित्तीय तथा सहायक। आमाशय के अन्य भागों में कोई भित्तीय कोशिकाएँ नहीं होती हैं। मुख्य कोशिकाएँ एन्जाइम बनाती हैं तथा भित्तीय कोशिकाएँ हाइड्रोक्लोरिक अम्ल बनाती हैं। आमाशय की दीवार में श्लेष्मा स्रावित करने वाली ग्रन्थियाँ होती हैं। सभी जठर ग्रन्थियों के स्राव को जठर रस कहते हैं।

पाचन मार्ग के अन्य भागों के विपरीत आमाशय की पेशी परत दो की अपेक्षा तीन स्तरों से बनी हुई होती हैं—गोलाकार, अनुदैर्ध्य तथा तिर्यक। आमाशय तथा ग्रहणी के बीच की सीमा पर गोलाकार पेशी तंतु एक मोटी परत बनाते हैं जिसे जठरनिर्गम अवरोधिनी कहते हैं। यह जठरनिर्गम वाल्व में स्थित होती है तथा समय-

चित्र 78. पृथक किये गये कोष्ठ के साथ कुत्ता।
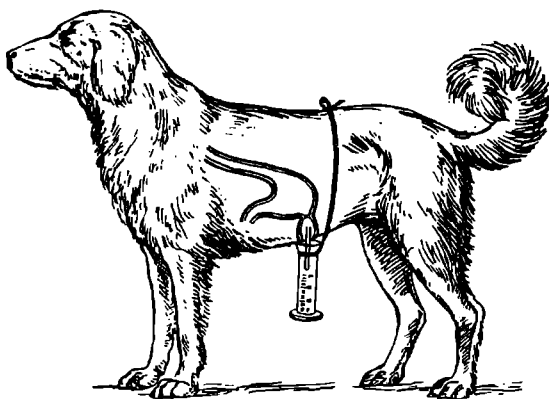
समय पर संकुचित एवं शिथिल होती रहती है। इसके संकुचित होने पर ग्रामाशय ग्रौर ग्रहणी पृथक हो जाते हैं ग्रौर ग्रहणी में कोई भोजन नहीं जाता। इसके शिथिल होने पर काइम ग्रामाशय से ग्रहणी में चला जाता है।

ग्रामाशय के पेशी परत के संकुचनों के साथ-साथ इसकी दीवारों की तरंगनुमा गतियाँ होती हैं। ये गतियाँ जठरागम से जठरनिर्गम की ग्रोर होती हैं तथा इन्हें क्रमाकुंचन कहते हैं।

सीरमी परत, पर्युदर्या, ग्रामाशय के चारों ग्रोर चढ़ा हुग्रा होता है तथा ग्रन्य ग्रंगों तक विस्तरित होता है ग्रौर मोड़ – जठरप्लीहा मोड़ तथा महा एवं निम्न ग्रोमेन्टम – बनाता है (दे० "पर्युदर्या")।

ग्रामाशय में पाचन

जठर रस की संरचना तथा मात्रा, भोजन पर इसका प्रभाव ग्रौर ग्रामाशय में रस स्राव की विधि पर ग्रध्ययन करने हेतु ग्रनेक परीक्षण किये गये हैं। पावलोव कुत्तों पर पृथक ग्रामाशय (थैली) स्थापित करने का प्रयोग किया। इस प्रयोग की मदद से वह शुद्ध जठर रस प्राप्त कर सका ग्रौर इसकी संरचना का ग्रध्ययन कर सका। इस प्रयोग में ग्रामाशय की दीवार से एक पल्ला काट कर इससे एक थैली बनाई जाती है (चित्र 78)। चीरा इस प्रकार लगाया जाता है कि थैली का तंत्रिकायन करने वाली तंत्रिकाएँ न कटें। इस प्रकार शल्य क्रिया किये गये कुत्ते कई वर्षों तक जिवित रहते हैं। जब ऐसा कुत्ता ग्रपनी खुराक लेता है तो खाना उसकी थैली में नहीं जाता, बल्कि इसमें उसका जठर रस स्रावित हो जाता है जिसमें खाने का पाचन होता है। शुद्ध जठर रस को, किसी भोजन के ग्रधिमिश्रण के बिना, नालव्रण की मदद से बाहर निकाल लिया जाता है। थैली के स्राव से जठर रस स्राव का सामान्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ग्रामाशय में पाचन क्रिया का ग्रध्ययन करने के लिये ग्रन्य प्रयोग भी किये गये हैं (छल भरण, ग्रामाशय की दीवार का यांत्रिकीय उद्दीपन, इत्यादि)।

मानव ग्रामाशय की ग्रन्तर्वस्तु का ग्रध्ययन एक ग्रामाशय नलिका की मदद से किया जाता है जो विभिन्न व्यास की एक रबड़ की विशेष नलिका है। ग्रामाशय के कार्य का ग्रध्ययन करने की ग्रन्य विधियाँ भी प्रयोग की जाती हैं, विशेषकर एक्स-किरणों द्वारा निरीक्षण। ग्रनेक ग्रध्ययनों के परिणामस्वरूप जठर पाचन की प्रकृति ज्ञात हो गयी है।

ग्रामाशय में भोजन 3 से 8 या 10 घंटे तक रहता है, जो भोजन की संरचना पर निर्भर करता है। ग्रामाशय में इस पर यांत्रिकीय तथा रासायनिक क्रियाएँ होती हैं। ठोस भोजन की तुलना में द्रव भोजन ग्रामाशय से क्षुद्रांत्र में ग्रधिक शीघ्रता

ग जाता है। प्रचुर मात्रा में कार्बोहाइड्रेट वाला भोजन प्रचुर मात्रा में प्रोटीन वाले भोजन की अपेक्षा आमाशय में कम समय तक रहता है। वसामय भोजन आमाशय में सबसे देर तक रहता है।

जठर रस की संरचना तथा प्रभाव। जठर रस एक स्पष्ट अम्लीय द्रव है जिसमें एन्ज़ाइम, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, म्यूसिन तथा अन्य कार्बनिक एवं अकार्बनिक पदार्थ होते हैं। इनमें मुख्य एन्ज़ाइम पेप्सिन होता है लेकिन जठर रस में रेनेट एन्ज़ाइम तथा लाइपेस भी होता है।

पेप्सिन प्रोटीन को मध्यवर्ती पदार्थों में विच्छेद कर देती है जिन्हें पेप्टोन या एल्बूमोस कहते हैं। यह स्मरण रहे कि पेप्सिन केवल अम्लीय माध्यम में क्रिया करती है।

रेनेट एन्जाइम का कार्य दुग्ध को दही बनाना है ताकि वह आमाशय में अधिक समय तक रह सके और उसका पाचन हो जाये। यह विशेषत: शावक के लिये अत्यधिक महत्व रखता है।

जठरीय लाइपेस वसा का पाचन करता है, इन को विच्छेद करके उन्हें वसामय अम्लों एवं ग्लिसरीन में विभाजित करता है। यह केवल पायसीकृत वसाओं पर प्रक्रिया करता है, जैसे दुग्ध में विद्यमान वसा जो महीन बूंदों के रूप में दुग्ध में निलंबित होता है।

जठर रस में ऐसा कोई एन्ज़ाइम नहीं होता जो कार्बोहाइड्रेट को विच्छेदित करता हो। लेकिन टायालिन जो लाला में विद्यमान होता है आमाशय में 30-40 मिनट तक, जब तक कि बोलस में जठरीय रस प्रवेश नहीं कर जाता, कार्य करता रहता है।

जठर रस का महत्वपूर्ण घटक हाइड्रोक्लोरिक अम्ल है। यह एन्ज़ाइम की कार्य-विधि को तीव्र करता है तथा इसके अतिरिक्त जीवाणुनाशी है, अर्थात् जीवाणुओं को नष्ट करता है।

जठर रस में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की मात्रा 0.3-0.5% तक होती है। इस अम्ल के निर्माण में साधारण लवण की आवश्यकता होती है जो मनुष्य भोजन के साथ खाता है। कुछ जठर रोगों के कारण जठर रस में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की मात्रा कम या अधिक हो जाती है जिससे पेप्सिन के कार्य पर प्रभाव पडता है।

जठर रस की मात्रा व संरचना पर भोजन की प्रकृति का प्रभाव पड़ता है। रोटी, माँस व दुग्ध खाये जाने के बाद आमाशय में जठर रस स्राव का अध्ययन पावलोव ने अपनी प्रयोगशाला में किया। रोटी में कार्बोहाइड्रेट बहुत अधिक मात्रा में होता है, तो माँस में प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है। दुग्ध एक मिश्रित भोजन है। विभिन्न भोजनों के लिये जठर रस स्राव की प्रकृति में मुख्य परिवर्तनों को तालिका 2 में दिखाया गया है।

तालिका 2

जठर रस स्रावण में परिवर्तनों की प्रकृति

रस की मात्रा	हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की मात्रा	एन्जाइमों (विशेषतः पेप्सिन) की मात्रा	लाला स्रावण की अवधि
मांस के अन्तर्ग्रहण पर अधिकतम	मांस के अन्तर्ग्रहण पर अधिकतम	रोटी के अन्तर्ग्रहण पर अधिकतम	रोटी के अन्तर्ग्रहण पर सबसे अधिक
रोटी के अन्तर्ग्रहण पर कम	दुग्ध के अन्तर्ग्रहण पर कम	मांस के अन्तर्ग्रहण पर कम	मांस के अन्तर्ग्रहण पर कम
दुग्ध के अन्तर्ग्रहण पर सबसे कम	रोटी के अन्तर्ग्रहण पर सबसे कम	दुग्ध के अन्तर्ग्रहण पर सबसे कम	दुग्ध के अन्तर्ग्रहण पर सबसे कम

स्राव की मात्रा भोजन की मात्रा के अनुपात में होती है। मनुष्य प्रतिदिन लग लगभग 2 लीटर जठर रस बनाता है।

जठर रस स्राव का नियंत्रण. जठर ग्रन्थियों के कार्य का नियंत्रण तंत्रिका तंत्र और देह-द्रव करते हैं। जठर रस स्राव के दो पक्ष होते हैं: प्रतिवर्त तथा रासायनिक (देह-द्रवी)। प्रथम पक्ष में जठर रस निम्न उद्दीपकों के कारण प्रतिवर्त रूप से स्रावित होता है: (अ) भोजन का दिखाई देना व सुगन्ध; (ब) मुख कोटर में विद्यमान ग्राहियों पर भोजन का प्रभाव; (3) आमाशय की दीवारों पर भोजन का यांत्रिकीय प्रभाव।

भोजन के दिखाई देने से या सुगन्ध से प्रतिवर्तत रूप में रस का स्रावित होना एक सोप्रतिबंधित प्रतिवर्त है। पावलोव ने इस रस को क्षुधा या प्रेरक रस कहा। इस रस में एन्ज़ाइमों की मात्रा बहुत अधिक होती है, अतएव इसमें अत्यधिक पाचन शक्ति होती है। प्रेरक रस का स्रावण क्षुधा के ज्ञान द्वारा सोप्रतिबंधित होता है जो सामान्य पाचन का प्रतीक है।

खाना खाते समय रस का स्रावण भोजन द्वारा मुख कोटर में श्लेष्मा झिल्ली में संवेदी तंत्रिका सिरों के उद्दीपन के कारण होता है। तंत्रिका उत्तेजन संवेदी तंत्रिकाओं के साथ-साथ मेडुला आब्लान्गेटा तक प्रेषित हो जाता है और फिर स्राव तंत्रिकाओं के साथ-साथ जठर ग्रन्थियों तक प्रेषित होता है, जहाँ यह जठर रस को स्रवित होने के लिये प्रेरित करता है। मुख कोटर में स्थित ग्राहियों के उद्दीपन के उत्तर में रस स्रावण अनुबंधित प्रतिवर्त का परिणाम है। रस स्रावण की इस विधि की विद्यमानता को पावलोव ने अपनी प्रयोगशाला में कुत्तों को छल भरण की मदद से प्रयोग द्वारा सिद्ध किया।

इस प्रयोग में पशु की ग्रसिका को ग्रीवा के क्षेत्र में आड़ा काटा जाता है तथा इसके दोनों सिरे त्वचा के साथ सिल दिये जाते हैं। प्रायः ग्रसिका को उसी समय काटा जाता है जब एक स्थायी जठर नालव्रण निर्धारित किया जाता है। जब ऐसा पशु खाना खाता है तो भोजन उसके आमाशय में नहीं जाता, बल्कि ग्रीवा पर ग्रसिका के बाहर आ जाता है। लेकिन फिर भी जठर रस स्रावित होता है जो यह सिद्ध करता है कि आमाशय में रस का स्रावण प्रतिवर्त रूप से नियंत्रित होता है। मुख कोटर में स्थित ग्राहियों के उद्दीपन के प्रतिवर्त में भोजन खाने के 5-6 मिनट बाद जठर रस निकलना आरम्भ हो जाता है।

आमाशय की दीवारों का यांत्रिकीय रूप से उद्दीपन के उत्तर में रस का स्रावण अनुबंधित प्रतिवर्त के फलस्वरूप होता है। आमाशय की दीवारों पर भोजन का दाब उनमें स्थित ग्राहियों को उद्दीपित करता है। तंत्रिका उत्तेजन तंत्रिकाओं द्वारा मेडुला आब्लान्गेटा तक प्रेषित हो जाता है और वहाँ से जठर ग्रन्थियों तक जाता है, जो रस को स्रावित करती हैं।

जठर रस स्रावण का दूसरा पक्ष, रासायनिक पक्ष, जठर ग्रन्थियों के स्रावण पर नियत रसायनों के प्रभाव पर निर्भर करता है। यह खाना खाने के 15-20 मिनट बाद आरम्भ होता है। मांस या सब्जी खाने के बाद, जिनमें तथाकथित निष्कर्षण होते हैं, जठर रस प्रचुर मात्रा में स्रावित होता है। प्रोटीन पाचन के उत्पाद—ऐल्बूमोस तथा पेप्टोन, तथा मसाले एवं अन्य पदार्थ भी जठर ग्रन्थियों के स्राव को उद्दीपित करते हैं। यह धारणा है कि जठर स्राव के रासायनिक उद्दीपक आमाशय तथा आंतों से रूधिर में अवशोषित हो जाते हैं और इस प्रकार जठर ग्रन्थियों को उद्दीपित करते हैं। यह भी सम्भव है कि आमाशय की दीवार में ग्राहियों पर भी रासायनिक पदार्थ प्रभाव डालते हों, और इस प्रकार तंत्रिका तंत्र द्वारा प्रतिवर्त रूप से जठर ग्रन्थियों के स्राव को तीव्र करते हों। जठर रस स्राव पर विभिन्न उद्दीपकों का प्रभाव व्यावहारिक रूप से एक ही साथ होता है।

कुछ पदार्थ जठर ग्रन्थियों के कार्य पर उद्दीपक नहीं बल्कि विरोधी प्रभाव डालते हैं। इनमें से एक पदार्थ वसा है जो जठर रस के स्रावण में विलम्ब कर देता है।

क्षुद्रांत्र

क्षुद्रांत्र एक 5-7 मीटर लम्बी नलिका है। इसके तीन विभाग होते है: ग्रहणी, मध्यक्षुद्रांत्र तथा इलियम।

ग्रहणी उदरीय कोटर की पश्च दीवार पर प्रथम-तृतीय कटिकशेरूक के स्तर पर स्थित होती है। इसकी आकृति "U"-जैसी होती है और इसके निम्न भाग होते हैं: ऊर्ध्व क्षैतिज, अवरोही तथा निम्न क्षैतिज भाग। अवरोही भाग में सामान्य पित्त

वाहिनी के प्रवेश द्वार तथा अग्न्याशय वाहिनी होती है। इनमें से प्रथम पित्त ले जाती है, तथा दूसरी अग्न्याशय रस ले जाती है। कभी-कभी दो अग्न्याशय वाहिनियाँ होती हैं।

अग्रक्षुद्रांत्र तथा इलियम उदरीय कोटर के मध्यवर्ती तथा निम्न भागों में स्थित होती हैं। पश्च उदरीय दीवार से मध्यांत्र द्वारा अनेक आंत्र छल्ले लटके रहते हैं (दे० पर्युदर्या)। अग्रक्षुद्रांत तथा इलियम के बीच कोई स्पष्ट सीमा नहीं होती है (ग्रहणी को छोड़कर क्षुद्रांत्र का ऊपरी $^2/_5$ वाँ भाग अग्रक्षुद्रांत्र कहलाता है, तथा निम्न $^3/_5$ वाँ इलियम कहलाता है)।
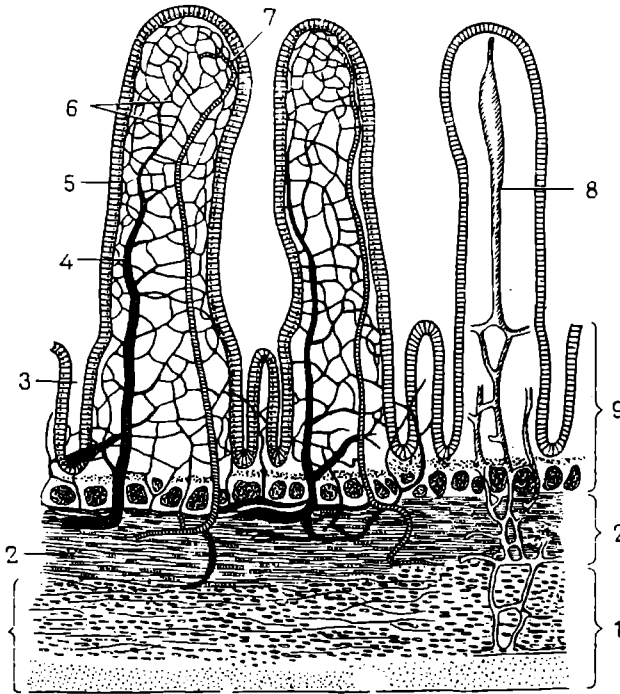
चित्र 79. आंत्र अंकुर की संरचना

1 – पेशी आवरण ; 2 – लघु आंत्र का अधिश्लेष्मल आवरण ; 3 – अंकुरों के बीच अवनमन ; 4 – शिरीय वाहिका ; 5 – अंकुर की उपकला ; 6 – केशिकीय जाल ; 7 – धमनी वाहिका ; 8 – लसीका वाहिका ; 9 – आंत्र का श्लेष्मल आवरण।

क्षुद्रांत की दीवार एक श्लेष्मा परत, अधः श्लेष्मिका परत, पेशी परत तथा सीरमी परत से बनती है। श्लेष्मा परत अनेक गोलाकार मोड़ बनाती है। ग्रहणी

के अवरोही भाग पर एक अनुदैर्घ्य मोड़ होता है जिस पर एक पैपिला होता है। ऊपर बतायी गई सामान्य पित्त वाहिनी तथा अग्न्याशय वाहिनी इस पैपिला पर खुलती है। क्षुद्रांत्र की श्लेष्मा परत में बहुत अधिक ग्रन्थियाँ होती हैं जो क्षुद्रांत्र रस स्रावित करती हैं जो पाचन क्रिया में भाग लेता है। क्षुद्रांत्र की श्लेष्मा परत की संरचना की विशेषता रसांकुरों की विद्यमानता हैं। क्षुद्रांत्र की ग्रन्थियों के द्वार रसांकुरों के आधारों के बीच में होते हैं।

रसांकुर (चित्र 79) श्लेष्मा परत के प्रक्षेप होते हैं। एक रसांकुर की लम्बाई 1 मि० मी० होती है। आंत्र के ल्यूमेन में रसांकुरों के ऊपर स्तम्भाकार उपकला चढ़ी हुई होती है। उपकला के नीचे जालिका संयोजी ऊतक होता है जिसके तंत्रिकाएँ तथा रूधिर वाहिकाएँ होती हैं। प्रत्येक रसांकुर के केन्द्र में प्रच्छन्न सिरे वाली लसीका वाहिका होती है। एक छोटी धमनी प्रत्येक रसांकुर में प्रवेश करती है जहाँ यह केशिकाओं में विभाजित हो जाती है। फिर केशिकाएँ मिलकर शिरा बनाती है जो रसांकुर से निकलता है। रसांकुरों में चिकनी पेशी तंतु तथा तंत्रिका तंतु भी होते हैं। क्षुद्रांत्र में रसांकुरों की कुल संख्या लगभग 40 लाख होती है। रूधिर तथा लसीका में पोषक पदार्थों का अवशोषण रसांकुरों द्वारा होता है।

अधो: श्लेष्मिका परत में लसीका ग्रन्थिकाएँ क्षुद्रांत्र की सम्पूर्ण लम्बाई पर स्थित होती है। इलियम के अंत पर ये एक गुच्छ बनाती हैं जिसे पेयर पैच कहते हैं। लसीका ग्रन्थिकाओं का प्रकार्य रक्षी होता है: कुछ रोगों (उदाहरणतया, टाइफायड में ज्वर) इन का कुछ परिवर्तन हो जाता है।

क्षुद्रांत्र की पेशी परत दो स्तरों से बनती है—अनुदैर्घ्य तथा गोलाकार। पेशी तंतुओं के गोलाकार स्तर का संकुचन क्षुद्रांत्र में तरंगनुमी गतियाँ उत्पन्न करता है जो आमाशय से बृहद्रांत्र की ओर जाती हैं। इन गतियों को क्रमाकुंचन कहते हैं। लोलक गतियाँ भी होती हैं जिनमें पेशी परत के अनुदैर्घ्य तथा गोलाकार स्तर एकांतर क्रम से आंत्र के विभिन्न भागों में संकुचित तथा शिथिल होते हैं।

सम्पूर्ण आंत्र की गतियों का नियंत्रण तंत्रिका आवेगों द्वारा होता है। वेगस तंत्रिका उद्दीपक प्रभाव डालती है, तथा अनुकंपी तंत्रिका निरोधी प्रभाव डालती है। आंत्र दीवारों का यांत्रिकीय उद्दीपन आंत्र गतियों को तीव्र करता है। अतः मोटा खाना तीव्र आंत्र क्रमाकुंचन को उद्दीपित कर सकता है।

सीरमी परत ग्रहणी को आगे की ओर से और अग्रक्षुद्रांत्र एवं इलियम को पूर्णतया ढके रहती है।

लीवर

लीवर एक बड़ा अंग है जिसका भार लगभग 1.5 कि० ग्रा० होता है (चित्र 80)। यह उदरीय कोटर के ऊपरी भाग में, तथा दक्षिण व थोड़ा-सा वाम हाइपो-

कांड्रिया क्षेत्र में स्थित होता है। इसकी दो सतहें–ऊर्ध्व उत्तल तथा निम्न अवतल, – और दो सीमाएँपश्च कुंठित तथा अग्र तीक्ष्ण – होती हैं। ऊर्ध्व सतह डायाफ्राम के समीप और निम्न सतह आमाशय तथा ग्रहणी की ओर आमुख होती है। दात्राकार स्नायु नामक पर्युदर्या मोड़ डायाफ्राम से लीवर की ओर विस्तरित होता है तथा लीवर को दो पालियों में बाँटता है – बड़ा (दक्षिण) तथा छोटा (वाम)। निम्न सतह पर दो अनुदैर्घ्य (दक्षिण तथा वाम) विदर और एक अनुप्रस्थ विदर, जो लीवर को नीचे से चार पालियों – दक्षिण, वाम, हनुसंधिका व पुच्छ में विभाजित करता है, होते हैं। दक्षिण अनुदैहर्प विदर में पित्ताशय तथा निम्न ऊर्ध्व शिरा होते हैं। वाम विदर में लीवर का गोलाकार स्नायु होता है। अनुप्रस्थ काट को पोर्टा हेपेटिस कहते हैं; यह तंत्रिकाओं हेपेटिक धमनी, निवाहिका शिरा, लसीका वाहिका और हेपेटिक वाहिनी के लिये मार्ग बनाता है।
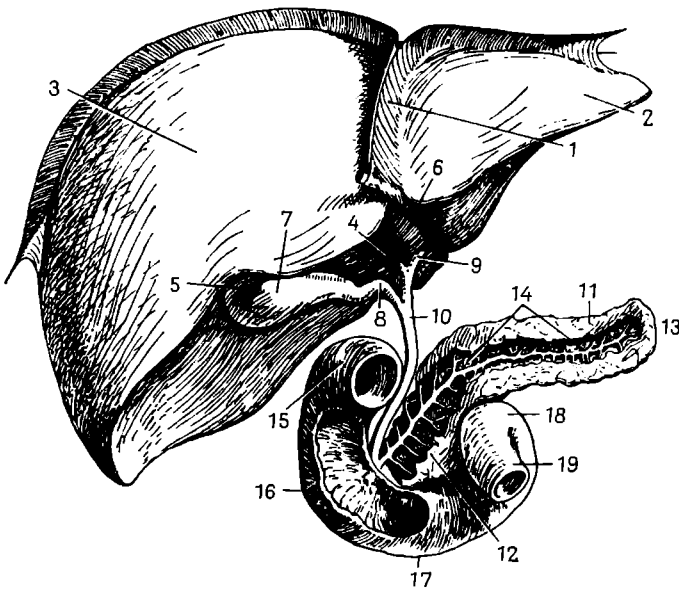
चित्र 80. यकृत, पित्ताशय, ग्रहणी तथा अग्न्याशय

1 – लवित्राकार स्नायु; 2 – यकृत की वाम पालि; 3 – दक्षिण पालि; 4 – हनुसंधिका पालि; 5 – दक्षिण अनुदैर्ध्य विदर; 6 – वाम अनुदैर्ध्य विदर; 7 – पित्ताशय; 8 – पित्त-वाहिनी; 9 – यकृतीय वाहिनी; 10 – सामान्य पित्त-वाहिनी; 11 – अग्न्याशय; 12 – अग्न्याशय का शिर; 13 – अग्न्याशय की पुच्छ; 14 – अव्याशय वाहिनी; 15 – ग्रहणी का महा क्षैतिज भाग; 16 – ग्रहणी का अवरोही भाग; 17 – ग्रहणी का निम्न क्षैतिज भाग; 18 – ग्रहणी तथा अग्रक्षुद्रांत्र का मिलन; 19 – अग्रक्षुद्रांत।

लीवर की पश्च सीमा को छोड़कर, जो डायाफ़ाम के साथ जुड़ी होती है, शेष सम्पूर्ण लीवर पर पर्युदर्या चढ़ा रहता है। लीवर की अग्र सीमा अग्र उदरीय दीवार के समीप स्थित होती है तथा इसके चारों ओर रिब होते हैं। कुछ रोगों में लीवर का आकार बढ़ जाता है। ऐसी स्थितियों में यह रिब के ऊपर निकल आता है और उस स्पर्श किया जा सकता है।
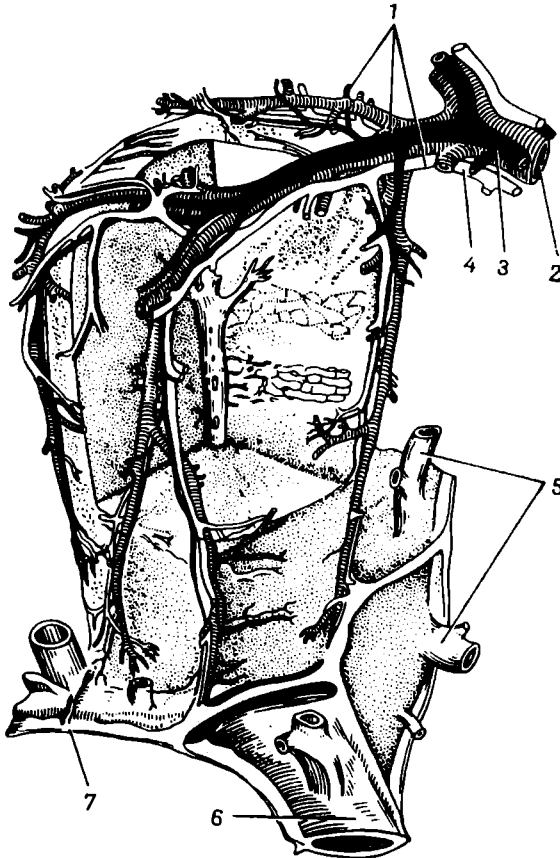
चित्र 81. यकृत की पालिका (आरेख)
1 – अन्तरापालिका रूधिर वाहिकाएं तथा पित्त-वाहिकाएं ; 2 – निवाहिका शिरा ; 3 – यकृतीय धमनी ; 4 – यकृतीय वाहिका ; 5 – दो संलग्न पालिकाओं की केन्द्रिय वाहिनियां ; 6 – यकृतीय वाहिनी ; 7 – यकृत का रेशेदार कैप्स्यूल।

लीवर अनेक पालिकाओं से बनता है तथा पालिकाएँ ग्रन्थि कोशिकाओं से बनती हैं। पालिकाओं के बीच संयोजी ऊतकों के स्तर होते हैं जिनमें तंत्रिकाएँ छोटी

पित्त वाहिकाएँ होती हैं (चित्र 81)। अन्तरा पालिका रूधिर वाहिकाएँ हेपेटिक धमनी एवं निवाहिका शिरे की शाखाएँ होती हैं। पालिकाओं के अन्दर ये केशिकाओं का एक विस्तृत जाल बना लेती हैं जो पालिकाओं के केन्द्र में केन्द्रिय शिरे में रिक्त होती हैं। अन्य अंगों के विपरीत न केवल धमनी रूधिर लीवर तक हेपेटिक धमनी में से होकर जाता है, बल्कि शिरीय रूधिर भी निवाहिका शिरे में से होकर जाता है। धमनी तथा शिरीय रूधिर हेपेटिक पालिकाओं में रूधिर केशिकाओं के तंत्र में प्रवाह करते हैं और केन्द्रिय शिरों में इकट्ठे हो जाते हैं। केन्द्रिय शिरे सम्मिलित हो कर 2-3 हेपेटिक शिरे बनाते है जो लीवर को छोड़ कर ऊर्ध्व निम्न शिरे में रिक्त हो जाते हैं। लीवर के रूधिर प्रदाय की विशेषताएँ इसके प्रकार्यों के साथ सम्बंधित हैं (आगे इसका वर्णन किया गया है)।

निवाहिका शिरे में से गुजरते हुये शिरीय रूधिर उदरीय कोटर के निम्न अयुग्मित अंगों से लीवर में आता है: आमाशय, अग्न्याशय तथा प्लीहा, क्षुद्रांत्र तथा बृहद्रांत का अधिकांश भाग।

हेपेटिक कोशिकाओं के बीच हेपेटिक पालिकाओं में संकीर्ण ल्यूमेन, पित्त-नलिकाएँ होती हैं जिनमें हेपेटिक कोशिकाएँ अपना पित्त स्रावित करती हैं। इन नलिकाओं में से पित्त पित्त-वाहिनियो में जाता है। पित्त वाहिनियाँ सम्मिलित होकर हेपेटिक वाहिनी बनाती हैं जो निवाहिका द्वार से लीवर के बाहर आती है।

लीवर का महत्त्व. जीव की जैविक क्रियाओं में लीवर अत्यधिक महत्व रखता है। यह पित्त स्रावित करता है जो पाचन क्रिया में भाग लेती है (पित्त का महत्त्व पूर्ण विस्तार में आगे वर्णित किया गया है); इसके अतिरिक्त इसके अन्य प्रकार्य भी हैं; जैसे कार्बोहाइड्रेट, वसा और प्रोटीन उपापचय तथा रक्षी प्रकार्य।

ग्लाइकोजेन का उत्पादन करके व उसका संचय करके लीवर कार्बोहाइड्रेट उपापचय में भाग लेता है। क्षुद्रांत्र से रूधिर में अवशोषित पोषक पदार्थ निवाहिका शिरे के द्वारा लीवर में आ जाते हैं। लीवर में रूधिर द्वारा लाया गया ग्लूकोस प्राणि मंड या ग्लाइकोजेन में रूपांतरित हो जाता है। सुरक्षित पोषक पदार्थ के रूप में हेपेटिक कोशिकाओं में (पेशियों में भी) इसका संचय हो जाता है। रूधिर में ग्लूकोस का केवल कुछ भाग ही होता है जो धीरे-धीरे अंगों द्वारा व्यय हो जाता है। इसी के साथ-साथ लीवर का ग्लाइकोजेन ग्लूकोस में विघटित हो जाता है जो रूधिर में प्रवेश कर जाता है। अतएव, रूधिर में ग्लूकोस की मात्रा अपरिवर्तित रहती है।

जब भोजन में वसा की कमी होती है तो लीवर के कार्बोहाइड्रेट के कुछ भाग को वसा में रूपांतरित करके लीवर वसा उपापचय में भाग लेता है।

प्रोटीन उपापचय में भी लीवर का अत्यन्त महत्त्व है; लीवर में प्रोटीन विघटन के उत्पाद यूरिया बनाते हैं जो मूत्र का घटक है। इसके अतिरिक्त लीवर में प्रोटीन की अधिक मात्रा कार्बोहाइड्रेट में रूपांतरित हो सकती है।

लीवर का रक्षी प्रकार्य कुछ विषैले पदार्थों का निराकरण करना है। कुछ ऐसे विषैले पदार्थों (इंडोल, स्कैटोल, इत्यादि) का निर्माण बृहद्रांत्र में प्रोटीनों के सड़न से होता है और ये निवाहिका शिरे द्वारा रूधिर में आ जाते हैं। लीवर में इन पदार्थों का अविष यौगिकों में रूपांतरण हो जाता है व ये मूत्र के द्वारा जीव से बाहर उत्सर्जित हो जाते हैं।

पित्ताशय

पित्ताशय (चित्र 80) लीवर के दक्षिण अनुदैर्घ्य विदर के अग्र भाग में स्थित होता है तथा इसमें पित्त का संचय होता है। इसका एक फण्डस, एक पिंड तथा एक ग्रीवा होती है। ग्रीवा संकीर्ण होकर पित्त वाहिनी के साथ जुड़ जाती है, और जो हेपेटिक वाहिनी के साथ जुड़ कर सामान्य पित्त वाहिनी बनाती है जो ग्रहणी में रिक्त होती है।

जब किसी भी भोजन का पाचन नहीं हो रहा होता है तो पित्ताशय में पित्त का संचय होता रहता है। यह लीवर से पित्ताशय में पहले हेपेटिक वाहिनी के द्वारा और फिर पित्त वाहिनी के द्वारा आता है। जब ग्रहणी में भोजन आता है, पित्ताशय संकुचित हो जाता है तथा मूलपित्तवाहिनी अवरोधनी (सामान्य पित्त वाहिनी के द्वार पर स्थित) प्रतिवर्त रूप से शिथिल हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप पित्ताशय से पित्त आंत्र में चली जाती है।

अग्न्याशय

अग्न्याशय दूसरी सबसे बड़ी पाचन ग्रंथि है (चित्र 80)। यह आमाशय के पीछे पश्च उदरीय दीवार पर स्थित होती है। ग्रन्थि का एक सिर, पिंड तथा पुच्छ होती है। सिर दायीं ओर आमुख होता है तथा "U" जैसी आकृति वाली ग्रहणी से घिरा रहता है, जबकि इसकी पुच्छ वाम दिशा की ओर आमुख होती है तथा यह प्लीहा के एकदम समीप स्थित होती है। अग्न्याशय पालिकाओं से बना होता है पालिकाओं में ग्रन्थि कोशिकाएँ अग्न्याशयी रस स्रावित करती हैं। अग्न्याशयी वाहिनी ग्रन्थि के अन्दर इसकी सम्पूर्ण लम्बाई पर स्थित होती है और ग्रहणी में खुलती है। ग्रन्थि के पिंड से, पालिकाओं के बीच में, विशेष ग्रन्थि ऊतकों के छोटे क्षेत्र होते हैं जिन्हें लांगरहेन्स द्वीप कहते हैं। इन द्वीपों का प्रकार्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के प्रकार्य जैसा होता है (दे. अन्तः स्रावी ग्रन्थियाँ)।

क्षुद्रांत्र में पाचन

आमाशय से भोजन काइम के रूप में छोटी-छोटी मात्रा में क्षुद्रांत्र में जाता है जहाँ इस पर और यांत्रिकीय तथा रासायनिक प्रक्रियाएँ होती हैं। यांत्रिकीय प्रक्रिया

में आंत्र की लोलक गति होती है जिसके फलस्वरूप काइम पाचन रसों के साथ मिलकर और अधिक तरल हो जाता है। यह एन्ज़ाइमों द्वारा भावी रासायनिक क्रिया को और त्वरित कर देता है। क्षुद्रांत्र का क्रमाकुंचन भोजन को पाचन मार्ग में और नीचे प्रेषित कर देता है।

अग्न्याशय रस, आंत्र रस तथा पित्त क्षुद्रांत्र में भोजन पर रासायनिक प्रभाव डालते हैं। यह बात विशिष्ट है कि इन रसों की बड़ी मात्रा काइम की कम मात्रा के लिये स्रावित हो जाती है। मिश्रित कार्बोहाइड्रेट के विघटन की क्रिया क्षुद्रांत्र में समाप्त हो जाती है। पाचन क्रिया क्षुद्रांत्र के ऊपरी भाग में—ग्रहणी में सबसे तीव्रता से घटती है।

भोजन के विघटन से प्राप्त अंत उत्पाद क्षुद्रांत्र से रूधिर और लसीका में अवशोषित हो जाते हैं।

अग्न्याशयी रस की संरचना एवं गुण. अग्न्याशयी रस एक स्वच्छ क्षारीय तरल है जिसमें निम्न घटक होते हैं: (1) ट्रिपसिन जो प्रोटीन पर क्रिया करती है; (2) ऐमिलेस तथा माल्टेस जो कार्बोहाइड्रेट पर प्रभाव डालते हैं; और (3) लाइपेस जो वसा के साथ क्रिया करते हैं।

ट्रिपसिन प्रोटीनों का ऐमीनो अम्लों में विघटन करती है तथा एन्टरोकाइनेस नामक एन्ज़ाइम के माध्यम में ही क्रिया करती है। यह एन्ज़ाइम क्षुद्रांत्र के श्लेष्मा परत में बनता है और आंत्र रस का घटक होता है।

ऐमिलेस तथा माल्टेस कार्बोहाइड्रेट का मोनोसैकराइड में विघटन करते हैं।

लाइपेस वसा का विघटन ग्लिसरीन और वसा-अम्लों में करते हैं; पित्त अम्ल तथा आंत्र रस के क्षारों के साथ क्रिया करके वसा-अम्लों का उपस्थिति में लाइपेस का कार्य एकदम से बढ़ जाता है। अग्न्याशय रस के सभी एन्ज़ाइम केवल क्षारीय माध्यम में ही क्रिया करते हैं। एक दिन स्रावित अग्न्याशयी रस की मात्रा लगभग 800 मि० ली० होती है। अग्न्याशयी रस, तथा अन्य सभी पाचन रसों की संरचना और मात्रा भोजन की प्रकृति पर निर्भर करती हैं। उदाहरणतया, दुग्ध की अपेक्षा रोटी के लिये काफी अधिक अग्न्याशयी रस स्रावित होता है।

अग्न्याशयी रस का स्रावण तंत्रिका तंत्र एवं तरल सिद्धांत द्वारा नियंत्रित होता है। पावलोव ने पशुओं पर प्रयोग करके दिखाया कि भोजन के साथ मुख कोटर के ग्राहियों के उद्दीपन के प्रतिवर्त से अग्न्याशयी रस स्रावित होता है। इस रस स्रावण की प्रकृति प्रतिवर्त होती है। निश्चित रासायनिक पदार्थ अग्न्याशय के कार्य पर भी प्रभाव डालते हैं। इनमें सेक्रेटिन सम्मिलित है जो ग्रहणी के श्लेष्मा परत में आमाशय से भोजन द्वारा लाये गये हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की प्रभाव से बनता है। अग्न्याशयी रस का स्रावण भी अन्य पदार्थों द्वारा प्रभावित होता है (जैसे वसा के विघटन के उत्पाद, इत्यादि द्वारा)। रासायनिक पदार्थ अपना प्रभाव न केवल रूधिर

ा द्वारा, बल्कि प्रतिवर्त रूप से तंत्रिका तंत्र द्वारा, भी डालते हैं। अग्न्याशयी रस केवल पाचन के समय स्रावित होता है।

आंत्र रसों की संरचना एवं गुण. आंत्र रस क्षुद्रांत्र की श्लेष्मा परत की ग्रन्थियों द्वारा स्रावित होते हैं। यह निम्न एन्ज़ाइमों से बनता है: इरेप्सिन जो प्रोटीन विघटन के मध्यवर्ती उत्पादों पर क्रिया करती है; ऐमिलेस, लैक्टेस, आदि जो विभिन्न कार्बोहाइड्रेट के साथ क्रिया करती है; तथा लाइपेस नामक एन्ज़ाइम जो वसा का विघटन करती है। आंत्र रस में ऐन्टेरोकाइनेस, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है, जो किसी पोषक पदार्थ का सीधा विघटन नहीं करती, बल्कि निष्क्रिय ट्रिपसिनोजेन का सक्रिय ट्रिपसिन में रूपांतरित करती है।

प्रतिदिन लगभग 1 लीटर आंत्र रस स्रावित होता है। भोजन का आंत्र में प्रवेश तथा अन्य अनेक पदार्थों का प्रभाव क्षुद्रांत्र की दीवारों का यांत्रिकीय उद्दीपन करता है, जिसके फलस्वरूप उनका स्रावण होता है। उदाहरणतया, क्षुद्रांत्र में जठर रस के आने से इसकी ग्रन्थियों का तीव्र स्रावण उद्दीपित हो जाता है। अग्न्याशयी रस की भाँति आंत्र रस भी केवल पाचन के समय ही स्रावित होता है।

पित्त की संरचना तथा गुण. पित्त पीत-भूरे रंग का क्षीणक्षारीय द्रव है। इसमें जल, पित्तअम्ल, पित्त-वर्णक तथा अन्य कार्बनिक व अकार्बनिक पदार्थ विद्यमान होते हैं। मानव पित्त का मुख्य वर्णक बिलिरूबिन है। यह वर्णक हीमोग्लोबिन (रुधिर वर्णक) में विद्यमान पदार्थों, जो रक्ताणुओं के नष्ट होने पर स्वतंत्र होते हैं, से बनता है।

पित्ताशय में संचित पित्त की अपेक्षा लीवर द्वारा स्रावित स्वच्छ पित्त अधिक तरल व रंग में अधिक हल्की होती है। इसका कारण यह तथ्य है कि पित्ताशय में जल का भी अवशोषण हो जाता है। लीवर में पित्त का निर्माण निरन्तर होता रहता है लेकिन यह ग्रहणी में प्रवेश केवल पाचन के समय ही करती है। पित्त में कोई भी एन्ज़ाइम नहीं होता है, इसीलिये यह सीधे किसी भी पोषक पदार्थ का विघटन नहीं करती। तथापि पाचन में, विशेषतया वसा के पाचन में, इसका बहुत अधिक महत्व है। यह आंत्र में विद्यमान एन्ज़ाइमों, विशेषकर वसा विघटन करने वाली एन्ज़ाइमों की क्रिया में तीव्रता लाती है। यह भोजन में विद्यमान वसा का पायस (महीन गोलिकाओं में विघटन) करने में मदद करती है। पायस किया गया वसा एन्ज़ाइमों द्वारा आसानी से विघटित हो जाता है। वसा के विघटन के समय उत्सर्जित वसा-अम्लों को आसानी से विलेय यौगिकों में रूपांतरित होने में पित्त-अम्ल मदद करते हैं। पित्त आंत्र क्रमांकुचन को तीव्र करने में तथा अग्न्याशयी रस के स्रावण में भी मदद करता है।

कभी-कभी पित्ताशय तथा पित्त वाहिनी में पित्ताश्मरी बन जाती हैं। इनका एक घटक कोलेस्टेरोल है जो पित्त में विद्यमान एक लिपिड है। पित्ताश्मरी दक्षिण

हाइपोकान्ड्रिया में काफ़ी तीव्र दर्द पैदा कर देते हैं। हेपेटिक या पित्त वाहिनी के मार्ग में पिताश्मरी द्वारा अवरोध बनाने से पोलिया हो जाता है।

केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र से आने वाले तंत्रिका आवेगों के प्रतिवर्त से पित्त बनती है। स्रावण की तीव्रता पर कुछ निश्चित पदार्थों, जिन्हें कोलागोग (cholagogues) कहते हैं, का भी प्रभाव पड़ता है। इन पदार्थों में निम्न सम्मिलित हैं: क्षुद्रांत्र में प्रवेश करने वाले जठर रस का हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, प्रोटीन विघटन के उत्पाद, अम्ल तरल, कुछ खनिज जल, आदि। यह बात विशिष्ट है कि स्वयं पित्त पित्त के स्रावण को काफ़ी अधिक उद्दीपित कर देती है जब यह पाचन मार्ग या रूधिर में प्रवेश करती है।

पित्ताशय से ग्रहणी में पित्त का उत्सर्जन एक प्रतिवर्त क्रिया है जिसका नियंत्रण तंत्रिका तंत्र करता है। काइम क्षुद्रांत्र में प्रवेश करके श्लेष्मा परत में स्थित ग्राहियों को उद्दीपित करता है। इसके उत्तर में पित्ताशय की दीवार संकुचित हो जाती है तथा सामान्य पित्त वाहिनी के अंत में स्थित अवरोधिनी शिथिल हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप पित्त पित्ताशय से ग्रहणी में आती है। पाचन के समय पित्त लीवर से आंत्र में, पित्ताशय को छोड़ कर, चली जाती है। एक दिन में मनुष्य 700 से 1,200 मि० ली० पित्त स्रावित करता है।

अवशोषण

मिश्रित पोषक पदार्थों का विघटन क्षुद्रांत्र में ही समाप्त हो जाता है। पोषक पदार्थ साधारण पदार्थों में रूपांतरित हो जाते हैं जो जल में आसानी से विलीन हो जाते है तथा जीव द्वारा सरलता से अवशोषित एवं स्वांगीकृत हो जाते हैं।

पाचन मार्ग से रूधिर तथा लसीका में पोषक पदार्थों का प्रवेश करना अवशोषण कहलाता है। मानव में अवशोषण मुख्यतः क्षुद्रांत्र में घटता है। यह एक जटिल शरीर-क्रिया-विज्ञानो प्रक्रिया है जिसमें आंत्र की श्लेष्मा परत का सक्रिय रोल है। जैसा ऊपर कहा गया है, श्लेष्मा परत अनेक प्रक्षेप, रसांकुर, बनाती है जिनके माध्यम से ही अवशोषण होता है। रसांकुर के कारण ही क्षुद्रांत्र का कुल सतही क्षेत्र 4-5 वर्ग मीटर होता है (तुलना के लिये, त्वचा का कुल सतही क्षेत्र 1.5 वर्ग मीटर होता है)। रसांकुरों को घेरे हुये उपकला कोशिकाएँ आंत्र से रूधिर एवं लसीका में पदार्थों के निर्गम में सक्रिय भाग लेती है।

रूधिर में निम्न का अवशोषण हो जाता है: जल तथा जल में विलीन खनिज लवण, प्रोटीन विघटन के फलस्वरूप बने ऐमीनो अम्ल, और कार्बोहाइड्रेट विघटन के फलस्वरूप बने मोनोसैकेराइड।

वसा के विघटन से बने वसा-अम्ल जल में अविलेय होते हैं इसीलिये इस रूप में विलीन नहीं हो सकते। ये आरम्भिक रूप से क्षुद्रांत्र में क्षारों के साथ प्रतिक्रिया

करते हैं तथा साबुनों (वसा अम्लों के लवणों) में रूपांतरित हो जाते हैं जो पित्त अम्लों की विद्यमानता में आसानी से विलीन हो जाते हैं तथा अवशोषित हो जाते हैं। ग्लिसरीन जो वसा के विघटन से बनती है, भी एक आसानी से विलेय तथा सरलता से अवशोषित होने वाला पदार्थ है। क्षुद्रांत्र की श्लेष्मा परत को पार करने पर ग्लिसरीन तथा साबुन परस्पर क्रिया करते हैं और एक विशिष्ट मानव वसा बनाते हैं जो रसांकुर की स्तन्य अंत-केशिकाओं के माध्यम से लसीका में प्रवेश करता है।

रसांकुरों का समय-समय पर संकुचन, जो एक पम्प का कार्य करते हैं, क्षुद्रांत्र में अवशोषण की मदद करता है। जब एक रसांकुर संकुचित होता है तो इसके स्तन्य अंत-केशिकाओं के पदार्थ बड़ी लसीका एवं रूधिर वाहिकाओं में दब कर रिक्त हो जाते हैं। जैसे ही रसांकुर शिथिल होता है तो इसका आंत्रों से पोषक पदार्थों द्वारा पुनः भरण हो जाता है।

यह बात नोट करनी चाहिये कि कुछ पदार्थों का अवशोषण न केवल क्षुद्रांत्रों में होता है, बल्कि पाचन मार्ग के अन्य भागों में भी होता है। उदाहरणतया, जल ऐल्कोहॉल तथा लवणों का अवशोषण आमाशय में होता है। बृहद्रांत्र में मुख्यतः जल का अवशोषण होता है हालांकि कार्बोहाइड्रेट का भी अवशोषण हो सकता है (यह पोषक गुदवस्ति (enemas) के प्रयोग का आधार है)। पाचन मार्ग के विभिन्न भागों की श्लेष्मा झिल्लियों के द्वारा अनेक औषधियों का अवशोषण हो सकता है।

बृहदांत्र

इलियम बृहदांत्र के साथ दक्षिण त्रिकांत्र खात में जुड़ता है। यहाँ पर श्लेष्मा झिल्ली का एक मोड़ होता है—त्रिकांत्र कपाट—, जो इस प्रकार बना होता है कि पदार्थ क्षुद्रांत्र से बृहदांत्र में तो आसानी से जा सकते हैं, लेकिन क्षुद्रांत्र में वापिस नहीं आ सकते।

बृहद्रांत्र की लम्बाई लगभग 1.5 मी० होती है तथा निम्न भागों में विभाजित होती है (दे० चित्र 70) : अन्धांत्र अपनी कृमिरूप परिशेषिका के साथ; आरोही, अनुप्रस्थ, अवरोही तथा अवग्रहरूपी बृहदांत्र तथा मलाशय।

बृहदांत्र की दीवारों की परत वैसी ही होती है जैसी कि क्षुद्रांत्र की दीवारों की, लेकिन इनकी संरंचना में थोड़ा-सा विभेद अवश्य होता है।

बृहदांत्र की श्लेष्मा परत अर्धचन्द्र वलन बनाती है तथा इसके कोई रसांकुर नहीं होते। श्लेष्मा परत की कोशिकाएँ श्लेष्मा स्रावित करती हैं। सम्पूर्ण श्लेष्मा परत पर एकल लसीका ग्रन्थिकाएँ होती हैं।

बृहदांत्र तथा क्षुद्रांत्र—दोनों की पेशी-परतें दो स्तरों से बनी होती हैं। बृहदांत्र की अनुदैर्ध्य परत इसकी पूर्ण परिधि को नहीं ढकती है, परन्तु तीन पट्टिकाओं—

टीनियाकोली — के रूप में क्रमबद्ध होती है। आंत्र की दीवार पट्टिकाओं के बीच अवकाशों में बहि:सरण बनाती है। बृहदांत्र की सीरमी परत अंगुलिरूप प्रक्षेप बनाती है, जिनमें वसा इकट्ठा होता है; इन प्रक्षेपों को ऐपिपलोइक उपांग कहते हैं। पेशी पट्टिकाएँ, बहि:सरण तथा ऐपिपलोइक उपांग बृहदांत्र को आसानी से क्षुद्रांत्र से भिन्न कर देते हैं।

अन्धांत्र दक्षिण त्रिकांत्र खात में स्थित होती है तथा बृहदांत्र. का आरम्भिक भाग होती है, अर्थात वह भाग जो उस भाग के एकदम नीचे स्थित होता है जहाँ क्षुद्रांत्र बृहदांत्र के साथ जुड़ती है। इस आंत्र तथा कृमिरूप परिशेषिका का सम्बन्ध एक छोटे छिद्र द्वारा होता है जो श्लेष्मा झिल्ली — वाल्वुला प्रोसेसॅस वर्मीफोर्मिस के वलन से बंद होता है।

कृमिरूप परिशेषिका प्राय: अन्धांत्र के नीचे स्थित होती है और वास्तविक श्रोणि के क्षेत्र में उतर जाती है; हालांकि, कभी-कभी यह अन्धांत्र के पीछे भी स्थित होती है। परिशेषिका की मोटाई 1 से० मी० से अधिक नहीं होती तथा इसकी औसतन लम्बाई 7 से 9 से० मी० तक होती है। परिशेषिका की दीवार में लसीका ग्रन्थियाँ काफ़ी बड़ी सँख्या में होती हैं। कृमिरूप परिशेषिका का शोथ अपेक्षाकृत काफ़ी प्राय: होता है और इसे परिशेषिका शोथ कहते हैं।

आरोही बृहदांत्र अन्धांत्र का शेष भाग है। यह उदरीय कोटर के दक्षिण अर्ध में, पश्च दीवार पर स्थित होती है तथा लीवर के स्तर तक ऊपर उठती है जहाँ यह अनुप्रस्थ बृहदांत्र का शेष भाग बनती है।

अनुप्रस्थ बृहदंत्र आमाशय के महा वक्र के नीचे स्थित होता है तथा अपनी आन्त्रयोजनी के द्वारा पश्च उदरीय दीवार से निलंबित रहता है। प्लीहा के समीप वाम हाइपोकान्ड्रिया में यह अवरोही बृहदांत्र के साथ मिल जाता है।

अवरोही बृहदांत्र, आरोही बृहदांत्र की भांति, उदरीय कोटर की पश्च दीवार पर केवल उसके वाम अर्ध में स्थित होता है। यह अवग्रहरूपी बृहदांत्र के साथ जुड़ता है।

अवग्रहरूपी बृहदांत्र वाम त्रिकांत्र खात में स्थित होता है; यह अनेक छल्ले बनाता है तथा इसकी आन्त्रयोजनी भी होती है।

मलाशय अवग्रहरूपी बृहदांत्र का शेष भाग है और वास्तविक श्रोणि में स्थित होता है। मलाशय के आगे स्त्रियों में गर्भाशय एवं योनि, और पुरूषों में मूत्राशय, प्रॉस्टेट तथा शुक्राशय स्थित होते हैं। मलाशय के पीछे सेक्रम तथा अनुत्रिक स्थित होते हैं। खेटम की श्लेष्मा परत 8-10 अनुदैर्ध्य तथा 2-3 अनुप्रस्थ वलन बनाती हैं। अनुदैर्ध्य वलनों के बीच कुछ अवनमन होते हैं जिन्हें मलाशय कोटर कहते हैं। मलाशय का निचला भाग रेखित होता है तथा इसे मलाशयी तुंबिका कहते हैं।

मलाशय का अंत गुद द्वार या गुदा में होता है। गुदा के चारों ओर दो अवरोधि-नियाँ होती हैं—एक आन्तरिक तथा एक बाह्य। आन्तरिक अवरोधिनी चिकनी पेशी ऊतकों से बनी हुई होती है तथा अनैच्छापूर्वक संकुचित होती है। बाह्य अवरोधिनी रेखित पेशियों से बनी हुई होती है तथा चेतना से संकुचित होती है।

बृहदांत्र में पाचन

भोजन के अपचित शेष टुकड़े क्षुद्रांत्र से बृहदांत्र में आ जाते हैं। ये शेष टुकड़े मुख्यतः सेलुलोस से बने होते हैं जो न तो आमाशय में तथा न ही क्षुद्रांत्र में वियोजित होता है। बृहदांत्र में घटने वाली मुख्य क्रियाएँ मल का बनना एवं जल का अवशोषण है। शेष भोजन का किण्वन एवं पूयन भी बृहदांत्र में होता है। बृहदांत्र में अनेक प्रकार के जीवाणु बड़ी सँख्या में होते हैं। इनमें से कुछ जीवाणु कार्बोहाइड्रेट का किण्वन करते हैं तो अन्य प्रोटीन का पूयन करते हैं। दोनों प्रकार के जीवाणु गैसों को बनाते हैं। प्रोटीन के वियोजन के साथ कुछ विषैले पदार्थों का निर्माण होता है (इंडोल, स्कैटोल, इत्यादि) जिनमें से कुछ रूधिर में अवशोषित होकर लीवर में पहुँच जाते है। विषैले पदार्थों का निर्माण मलबद्धता में बढ़ जाता है।

जल का अवशोषण मुख्यतः बृहदांत्र में होता है, लेकिन थोड़े-से भाग का अवशोषण क्षुद्रांत्र में भी होता है। प्रतिदिन लगभग 4 लीटर जल बृहदांत्र में अवशोषित होता है, और इससे केवल 130-150 ग्रा० मल ही बनता है।

मल भोजन का अपचित भाग, श्लेष्मा, मृत उपकला कोशिकाएँ तथा बृहदांत्र के जीवाणुओं की बड़ी सँख्या से बनता है। मल के भार का $^{1}/_{3}$ भाग केवल जीवाणुओं से ही बनता है। मल का रंग विघटित पित्त वर्णक पर निर्भर करता है तथा जीवाणुओं की सँख्या भोजन की मात्रा एवं सँरचना पर निर्भर करती है। मल मलाशय में इकट्ठा हो जाता है। बृहदांत्र की दीवारों के संकुचन से अपचित भोजन आगे चलता है।

मलविसर्जन

आन्त्र का रिक्तीकरण मलविसर्जन कहलाता है। वयस्क दिन में एक या दो बार मलविसर्जन करते हैं और बच्चे दो से अधिक बार मलविसर्जन करते हैं। मलविसर्जन तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित होता है और यह मल से परिपूर्ण बृहदांत्र के निचले भाग के उद्दीपन की प्रतिवर्त अनुक्रिया है। यह केवल तभी होता है जब मलाशय की दीवारों पर मल का दाब एक निश्चित तीव्रता तक पहुँच जाता है (लगभग 20 मि० मी० पारा) जिसके फलस्वरूप आन्त्र की श्लेष्मा परत में स्थित ग्राहियों का उद्दीपन होता है। यह अनुक्रिया आंत्र की पेशी परत का प्रतिवर्त संकुचन है और

गुदा अवरोधिनी की शिथिलता है। इसी के साथ ही प्रेलम ऐब्डोमिनेल (prelum abdominale) पर प्रभाव डालने वाली पेशियाँ संकुचित होती हैं तथा मल बाहर आ जाता है। मलविसर्जन केन्द्र, यानी जो मलविसर्जन प्रतिवर्त का नियंत्रण करते हैं, चतुर्थ कशेरूक के स्तर पर, तथा मेरू रज्जु के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ सेक्रमी विभागों पर स्थित होते हैं। लेकिन मलविसर्जन का नियंत्रण प्रमस्तिष्क वल्कुट भी करता है; इसका प्रभाव मलविसर्जन को स्वेच्छा से रोकना है।

कभी-कभी मल तरल व बारंबार होता है (प्रावाहिका)। और कभी-कभी मलविसर्जन अत्यधिक कम होता है (दो या तीन दिन में एक बार या इससे भी कम) और कठिनाई से होता है (मल बद्धता)। ये रोगग्रस्त अवस्थाएँ प्राय: आन्त्र क्रमांकुचन में विकार उत्पन्न हो जाने से होती हैं।

पर्युदर्या

पर्युदर्या एक सीरमी झिल्ली होता है जो उदरीय कोटर की आंतरिक सतह पर तथा उदरीय अंगों पर चढ़ी हुई होती है। यह एक महीन चमकीली परत होती है जिसे द्रव नम रखता है। पर्युदर्या का वह भाग जो उदरीय कोटर की आंतरिक सतह पर चढ़ा रहता है, भित्तीय पर्युदर्या कहलाता है, तथा वह भाग जो अंतरंग के चारों ओर होता है अंतरंगी पर्युदर्या कहलाता है। पर्युदर्या के दोनों भागों के बीच में एक रेखा-छिद्र जैसा अवकाश होता है जो पर्युदर्या कोटर कहलाता है। इसमें एक सीरमी द्रव होता है जो दोनों संलग्न भागों को नम रखता है तथा उदरीय अंगों की गति के समय घर्षण कम करता है।

अनेक स्थानों में पर्युदर्या उदरीय दीवारों से अंगों तक विस्तरित होता है और संक्रमण वलन बनाता है। पर्युदर्या के सभी वलन स्नायु, आन्त्रयोजनी तथा ओमेन्टा में विभाजित होते हैं। लीवर की लवित्राकार स्नायु, जिसकी चर्चा ऊपर की गई थी, पर्युदर्या स्नायु का उदाहरण है।

पर्युदर्या वलन, जिनपर पश्च उदरीय दीवार से आन्त्र छल्ले निलंबित रहते हैं, आन्त्रयोजनियाँ कहलाती हैं। प्रत्येक आन्त्रयोजनी पर्युदर्या के दोनों भागों से बनती है जिनके बीच अबद्ध संयोजी ऊतकों की परतें, तंत्रिकाएँ, रूधिर वाहिकाएँ, लसीका वाहिकाएँ तथा पर्वसंधियाँ होती हैं। अग्रक्षुद्रान्त्र, इलियम, अनुप्रस्थ; बृहदांत्र, अवग्रहरूपी बृहदांत्र तथा कृमिरूप परिशेषिका सभी में आंत्रयोजनियाँ होती हैं।

एक ओमेन्टम पर्युदर्यी वलन होता है जिसकी दो परतों के बीच वसा होता है। ओमेन्टम दो होते है—महा ओमेन्टम तथा निम्न ओमेन्टम। महा ओमेन्टम में पर्युदर्या की चार परते होती हैं तथा यह आमाशय के महा वक्र से एप्रन की भांति लटका रहता है; अग्र रूप से यह आमाशय के नीचे स्थित उदरीय अंगों को ढके रखता

: तथा अनुप्रस्थ बृहदांत्र के साथ जुड़ जाता है। आमाशय तथा अनुप्रस्थ बृहदांत्र के बीच स्थित महा ओमेन्टम का भाग गैस्ट्राकालिक स्नायु कहलाता है। निम्न ओमेन्टम पर्युदर्या की दो परतों से बनता है, तथा लीवर के पोर्टा से आमाशय के निम्न वक्र और ग्रहणी के आरम्भिक भाग तक विस्तरित होता है। निम्न ओमेन्टम के दक्षिण भाग में सामान्य पित्त वाहिनी होती है, तथा इसकी दो पर्युदर्या परतों के बीच निवाहिका शिरा एवं हेपेटिक धमनी होती है।

उदरीय अंग पर्युदर्या के सापेक्ष भिन्न-भिन्न स्थिति में होते हैं (चित्र 82)। कुछ अंगों के चारों ओर पर्युदर्या होता है और यह अन्तरा पर्युदर्यी स्थिति कहलाती है। अन्य अंगों पर पर्युदर्या केवल तीन ओर से चढ़ा होता है, तथा ऐसे अंगों की स्थिति मध्यपर्युदर्यी कहलाती है। कुछ ऐसे भी अंग होते हैं, जिनपर पर्युदर्या केवल एक ही ओर चढ़ा होता है, ऐसे अंगों की स्थिति को बहिर्पर्युदर्यी कहते हैं। आमाशय, अग्रक्षुद्रांत्र, इलियम, अन्धान्त्र, कृमिरूप परिशेषिका, अनुप्रस्थ बृहदांत्र, अवग्रहरूपी बृहदांत्र मलाशय का ऊपरि भाग तथा प्लीहा अन्तरापर्युदर्यी स्थिति में होते हैं। आरोही बृहदांत्र, अवरोही बृहदांत्र, मलाशय का मध्यवर्ती भाग, लीवर, गर्भाशय, पित्ताशय तथा मूत्राशय तीन ओर से पर्युदर्या द्वारा ढके होते हैं। ग्रहणी, मलाशय का निचला भाग, अग्न्याशय, वृक्क तथा मूत्रवाहिनी बहिर्पर्युदर्यी स्थिति में होते हैं।

पर्युदर्या के प्रति अंगों की स्थिति उदरीय अंगों की शल्यचिकित्सा के समय ध्यान
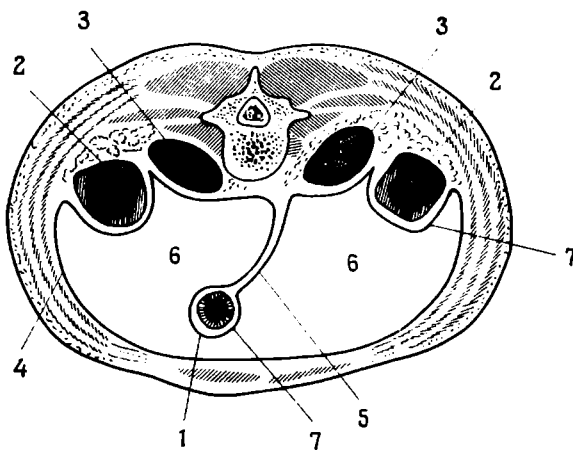
चित्र 82. पर्युदर्या के आपेक्षिक अंगों की स्थिति (आरेख)
1 – अन्तरापर्युदर्या स्थिति; 2 – मध्यपर्युदर्या स्थिति; 3 – बहिर्पर्युदर्या स्थिति; 4 – भित्तिय पर्युदर्या; 5 – आंत्रयोजनी; 6 – पर्युदर्या कोटर; 7 – अंतरंग पर्युदर्या।

में रखी जानी चाहिये। जब उदरीय कोटर काटा जाता है, तो अन्तरा–पर्युदर्यी अंगों को सभी ओर से, मध्यपर्युदर्यी अंगों को तीन ओर से, बर्हिपर्युदर्यी अंगों को एक ओर से स्पर्श किया जा सकता है।

पर्युदर्या का रोल बहुत महत्वपूर्ण है। यह पर्युदर्या कोटर के सीरमी द्रव, रूधिर और लसीका के बीच उपापचय में भाग लेता है। पर्युदर्या आन्तरिक अंगों को परस्पर घर्षण करने से बचाता है तथा एक दूसरे के ऊपर से फिसलने में मदद करता है। उदरीय अंगों के रोग में पर्युदर्या का महत्व विशेष रूप से स्पष्ट हो जाता है क्योंकि यह शोथ को अन्य उदरीय अंगों से पृथक रखता है। इसके परिणामस्वरूप आसंजन बनता है। पर्युदर्या के शोथ को पेरिटोनीटिस कहते हैं।

अध्याय 6

उपापचय

विटामिन

उपापचय जीव के मुख्य जैव प्रकार्यों में से एक है। फ्रे० ऐंजिल्स की परिभाषा के अनुसार जीवन व प्रोटीन पिंडों की विद्यमानता का एक स्वरूप है जिनका अनिवार्य तत्त्व उनसे बाहर के प्राकृतिक वातावरण के साथ उनका निरंतर उपापचयी विनिमय है; जो इस उपापचय के बंद हो जाने के साथ ही बंद हो जाता है। इसके फलस्वरूप प्रोटीन का विघटन हो जाता है।* उपापचय नें दो परस्पर सम्बधित प्रक्रियाएँ होती है; भोजन को जैव ऊतक में रूपांतरित करने की प्रक्रिया जिसे **स्वांगीकरण** या **उपपाचन** कहते हैं, और पदार्थों की चवर्णक्रिया, जिसे **विसस्वांगीकरण** या **उपपाचन** कहते हैं। कोशिकाओं को बनाने वाले जटिल पदार्थ तथा अन्तराकोशिकीय संरचनाएँ जैव जीव में निरंतर बनती रहती हैं। उसी समय जटिल कार्बनिक पदार्थ सरल पदार्थों में वियोजित होते रहते हैं। उपापचय के अंतिम उत्पाद, जो जीव द्वारा रूपांतरित नहीं हो सकते हैं, उत्सर्जी अंगों द्वारा निष्काषित हो जाते हैं।

जीव द्वारा उपभुक्त पोषक पदार्थ न केवल ऊतकों को बनाने में प्रयुक्त होते है, बल्कि ऊर्जा का भी स्रोत होते हैं जो जैव प्रक्रियाओं में जीव द्वारा व्ययित होती है।

उपापचय में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, जल और खनिज लवण भाग लेते हैं। इन पदार्थों के अतिरिक्त जीव को विटामिनों की आवश्यकता होती है।

प्रायः प्रत्येक पदार्थ के उपापचय का पृथक रूप से अध्ययन किया जाता है। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिये कि जैव जीव में एक पदार्थ, जैसे, प्रोटीन, का उपापचय अन्य पदार्थों के उपापचय के साथ सम्बंधित रहता है।

उपापचय तरल नियमन और तंत्रिका तंत्र द्वारा नियमन से होता है। यह तथ्य कि अंगों एवं ऊतकों में उपापचय तंत्रिका तंत्र द्वारा नियमित होता है ईवान पावलोव ने सिद्ध किया था और इस तथ्य की पुष्टि अन्य अनेक वैज्ञानिकों के अनुसंधानों से हुई (क० बिकोव व अन्य वैज्ञानिक)। तंत्रिका तंत्र के इस प्रभाव को पोषण प्रभाव कहते हैं।

---

*फ्रे० ऐंजिल्स. प्रकृति का द्वंदवाद, विदेशी भाषाओं का प्रकाशन गृह, मास्को, 1954, पृ० 396.

उपापचय पर तरल प्रभाव रूधिर में विद्यमान हार्मोनों द्वारा होता है जिन्हें अंतःस्रावी ग्रन्थियां उत्पन्न करती हैं।

प्रोटीन उपापचय

पाचन पथ में भोजन द्वारा अंतर्ग्रहित प्रोटीनों पर आमाशयी अग्न्याशयी और आंत्र रसों में विद्यमान एन्ज़ाइम प्रभाव डालते हैं। पाचन क्रिया में इनका ऐमीनो अम्लों में वियोजन हो जाता है जो क्षुद्रांत्र में रूधिर द्वारा अवशोषित हो जाते है। तत्पश्चात् रूधिर ऐमीनों अम्लों को सम्पूर्ण जीव में विस्तारित कर देता है। अंगों व ऊतकों की कोशिकाओं में ऐमीनो अम्ल मानव प्रोटीनों में रूपांतरित हो जाते हैं। उसी समय अंगों व ऊतकों का भाग बनाने वाले कुछ प्रोटीन और जीव में विद्यमान ऐमीनो अम्ल, जो जैव पदार्थ बनाने के लिये उपयुक्त नहीं हुए हैं, वियोजित हो जाते हैं और ऊर्जा का विमोचन करते हैं। यह ज्ञात हो चुका है कि प्रोटीन वियोजन का एक उत्पाद ग्लूकोस है जिसका और भी अधिक ऑक्सीकरण होता है। जीव में प्रोटीन वियोजन के अन्तिम उत्पाद जल, कार्बन डाइआक्साइड और नाइट्रोजिनस पदार्थ, जैसे अमोनिया, यूरिक अम्ल, इत्यादि हैं। अमोनिया, जो एक विषैला पदार्थ है, यकृत् में यूरिया में परिवर्तित हो जाता है। प्रोटीन विघटन के उत्पाद अन्य पोषक पदार्थों के विघटन के उत्पादों की भांति, जीव में से उत्सर्जी अंगों द्वारा निष्कासित हो जाते हैं।

प्रत्येक दिन में प्रोटीन की आवश्यक मात्रा 100 ग्रा० है। जीव में किसी भी प्रोटीन का संग्रह नहीं होता। व्यस्क के अंग एवं ऊतक पर्याप्त प्रोटीनों का स्वांगीकरण कर लेते हैं ताकि वे जीव में विघटित प्रोटीनों की पूर्ति कर सकें। बच्चों में प्रोटीन संश्लेषण प्रोटीन विघटन से अधिक होता है। जीव में प्रोटीन उपापचय नाइट्रोजन के उपापचय के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। प्रोटीनों में औसतन 16 प्रतिशत नाइट्रोजन अर्थात् प्रोटीनों का भार उनमें विद्यमान नाइट्रोजन के भार से 6.25 गुना अधिक होता है। इसीलिये आहार में प्रोटीन की मात्रा को ज्ञात किया जा सकता है यदि नाइट्रोजन की मात्रा ज्ञात हो। जीव द्वारा निष्कासित मल में विद्यमान नाइट्रोजन की मात्रा से जीव में विघटित प्रोटीनों की मात्रा निर्धारित हो सकती है।

स्वस्थ वयस्क में तथाकथित नाइट्रोजन संतुलन होता है, यानी निष्कासित नाइट्रोजन की मात्रा अंतग्रहीन नाइट्रोजन की मात्रा के बराबर होती है।

तीव्र रोग और वुभुक्षण ऋणात्मक नाइट्रोजन संतुलन का कारण बनते हैं अर्थात् जीव द्वारा अंतग्रहीन नाइट्रोजन की मात्रा से निष्कासित नाइट्रोजन की मात्रा अधिक हो जाती है। बच्चों में नाइट्रोजन संतुलन धनात्मक होता है, अर्थात् अंतग्रहीन

नाइट्रोजन की मात्रा निष्कासित नाइट्रोजन की मात्रा से अधिक होती है। इसका कारण बच्चों में विभिन्न ऊतकों का तीव्र विकास है।

कार्बोहाइड्रेट उपापचय

पाचन पथ में आहार में विद्यमान जटिल कार्बोहाइड्रेट या सैकैराइड पर लाला, अग्न्याशयी और आंत्र रसों में विद्यमान एन्जाइम प्रभाव डालते हैं। ये सरल शर्करा विशेषतः ग्लूकोस में रूपांतरित हो जाते हैं। क्षुद्रांत्र में ग्लूकोस रूधिर में अवशोषित हो जाता है और अंगों तक पहुँच जाता है; उदाहरणतया, निवाहिका शिरा यकृत तक पहुँचाती हैं। अंगों में, विशेषकर यकृत तथा पेशियों में, ग्लूकोस प्राणि स्टार्च ग्लाइकोजन में रूपांतरित हो जाता है जो कोशिकाओं के कोशिका-द्रव्य का संघटक है। यकृत में ग्लाइकोजन आरक्षित पदार्थ है और आवश्यकतानुसार यह ग्लूकोस में रूपांतरित हो जाता है जो रूधिर में प्रवेश कर जाता है और संपूर्ण जीव में विस्तारित हो जाता है। रूधिर में ग्लूकोस की मात्रा प्रायः स्थायी रहती है (0.1–0.12 प्रतिशत)। पेशी और अन्य अंगों का ग्लाइकोजन विघटित हो जाता है और ऊर्जा का विमोचन हो जाता है। पेशी कार्य के समय ग्लाइकोजन की काफ़ी बड़ी मात्रा विघटित हो जाती है। विमोचित ऊर्जा यांत्रिकीय कार्य तथा ऊष्मा के स्रोत के रूप में प्रयुक्त होती है। यह सिद्ध हो चुका है कि तंत्रिका कोशिकाओं में ग्लाइकोजन का निक्षेपण हो जाता है और तंत्रिका तंत्र के कार्य में कार्बोहाइड्रेट प्रयुक्त होते हैं। ऊतकों में कार्बोहाइड्रेट विघटन के अन्तिम उत्पाद जल और कार्बन डाइआक्साइड है।

जब आहार से अपर्याप्त कार्बोहाइड्रेट प्राप्त होते हैं तो उन्हें प्रोटीनों और वसा से प्राप्त किया जाता है। प्रोटीन एवं वसा के विपरीत कार्बोहाइड्रेट का जीव में वि वियोजन आसानी से हो जाता है और ये ऊर्जा के मुख्य स्रोत है। मनुष्य की प्रतिदिन की कार्बोहाइड्रेट की आवश्यकता 456-500 ग्रा० है।

वसीय उपापचय

पाचन पथ में भोजन में विद्यमान वसा अग्न्याशय और आंत्र रसों में विद्यमान एन्ज़ाइमों के प्रभाव में (पित्त के सहयोग से भी) ग्लीसरीन और वसा अम्लों में विघटित हो जाते हैं। वसा अम्ल साबुन जैसा पदार्थ बन जाते हैं। अवशोषण के समय क्षुद्रांत्र की श्लेष्मा परत में ग्लिसरीन और वसा अम्ल पुनः विशिष्ट मानव वसा में रूपांतरित हो जाते है जो लसीका में प्रवेश कर जाते है (पृ० 170)। लसीका से यह रूधिर में प्रवेश कर जाता है और समस्त जीव में विस्तारित हो जाता है। वसा प्लास्टिक पदार्थ की भांति प्रयुक्त होता है और विभिन्न ऊतकों

(जैसे, तंत्रिका ऊतक) का भाग बनाता है। इसी समय वसा के कुछ भाग का ग्राक्सीकरण हो जाता है ग्रौर बहुत ग्रधिक मात्रा में ऊर्जा का विमोचन होता है। वसा के विघटन के ग्रन्तिम उत्पाद जल ग्रौर कार्बन डाइग्राक्साइड है। कोई भी ग्रतिरिक्त वसा ग्रारक्षित मात्रा के रूप में एकत्रित हो जाती है। वसा ग्रवत्वक पर्त, परिवृक्क कोशिका ऊतक तथा महा ग्रोमेन्टम में एकत्रित होता है। जीव में वसा का उत्पादन प्रोटीन विशेषकर कार्बोहाइड्रेट से भी हो सकता है यदि इन्हें ग्रधिक मात्रा में ग्रन्तःगृहीत कर लिया जाये। मानव वयस्क की प्रतिदिन की वसा की ग्रावश्यकता ग्रौसतन 100 ग्रा० होती है।

जल ग्रौर लवण उपापचय

जल जीव के सभी ऊतकों का संघटक है ग्रौर यह कोशिकाग्रों के ग्रन्दर व बाहर विद्यमान होता है। कोशिकाग्रों में यह रासायनिक रूप से कोशिका-द्रव्य के प्रोटीनों एवं ग्रन्य पदार्थों के साथ मिश्रित होता है। कोशिका के बाहर यह ऊतक द्रव का ग्राधार बनाता है। यह रूधिर प्लैज़्मा ग्रौर लसीका के ग्रायतन के ग्राधार पर मुख्य भाग बनाता है तथा ग्रनेक कार्बनिक पदार्थों एवं ग्रकार्बनिक यौगिकों का विलायक है। मानव वयस्क के शरीर में जल की कुल मात्रा संपूर्ण शरीर भार का 70 प्रतिशत है।

जल विभिन्न शरीरक्रियाग्रों में भाग लेता है। पाचन पथ में पोषक पदार्थों का वियोजन, ग्रवशोषण तथा ग्रंगों तक उनका पहुँचना, ऊतकों में उपापचय तथा जीव में ग्रन्य प्रक्रियाग्रों में जल भाग लेता है। जल का महत्व इस तथ्य से ज्ञात होता है कि जल के बिना मनुष्य कुछ ही दिनों में मृत हो जाता है।

मानव वयस्क की प्रतिदिन जल की ग्रावश्यकता ग्रौसतन 2-2.5 लीटर होती है। यह ग्रावश्यकता जलवायु एवं कार्य ग्रवस्थाग्रों पर निर्भर करती है यह गर्म मौसम में या गर्म स्थानों में कार्य के समय बढ़ जाती है।

पाचन पथ में ग्राने वाला जल क्षुदांत्र व बृहदांत्र में रूधिर द्वारा ग्रवशोषित हो जाता है। रूधिर में से यह पोषक पदार्थों एवं लवणों के साथ सभी ऊतकों में पहुँचता है। कार्बनिक पदार्थों के विघटन में ऊतकों में जल की थोड़ी-सी मात्रा विमोचित होती है। ऊतकों से यह विघटन के उत्पादों के साथ रूधिर ग्रौर लसीका में प्रवेश करता है। जीव में से जल का निष्कासन मुख्यतः वृक्क द्वारा ही नहीं, बल्कि त्वचा, फुफ्फुसों (जल वाष्प के रूप में) तथा मल द्वारा भी होती है। प्रतिकूल ग्रवस्थाग्रों में जीव का जल संतुलन बिगड़ सकता है।

उदाहरणतया, जल की ग्रत्यधिक कमी (दीर्घकालीन प्रवाहिका, वमन) से ऊतकों का निर्जलीकरण हो जाता है।

जल उपापचय खनिज लवणों के उपापचय के साथ गहन सम्बन्ध रखते हैं जिनका काफ़ी अधिक महत्व है। अनेक लवण विभिन्न ऊतकों के संघटक हैं और संपूर्ण जीव के प्रकार्यों पर प्रभाव डालते है। उदाहरणतया, अस्थियों एवं दन्तों में कैल्सियम और फॉस्फोरस की काफ़ी अधिक मात्रा होती है। लोह हीमोग्लोबिन का संघटक है और ऑक्सीजन के रूपांतरण में भाग लेता है। क्लोरीन हाइड्रोक्लोरीन अम्ल का संघटक है जो आमाशय रस में विद्यमान होता है। आयोडीन अवटु हार्मोन के उत्पादन के लिये आवश्यक है। सल्फर तथा ज़िंक अग्न्याशय हार्मोन के संघटक है। कोबाल्ट रक्तोत्पत्ति के लिये आवश्यक है; ट्रिपसिन में क्रोमियम होता है। अनेक तत्त्वों के आयन रूधिर प्लैज़्मा, ऊतक द्रव और लसीका में विद्यमान होता है। प्रायः ऊतकों में लवणों की सान्द्रता काफ़ी स्थायी रहती है; ये स्थायी आस्मस दाब और अम्ल-आधार संतुलन बनाये रखते हैं। जल तथा लवण उपापचयों के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध इस तथ्य द्वारा स्पष्ट होता है कि रूधिर तथा ऊतक द्रव में जल का आयतन उनमें विद्यमान लवणों की मात्रा, मुख्यतः सोडियम की मात्रा, पर निर्भर करता है। विभिन्न रासायनिक तत्त्व तंत्रिका तंत्र की कार्य-विधि, हृदय-कार्य, पेशी कार्य, रूधिर स्कन्दन, आदि के साथ सम्बंधित होते हैं।

मानव शरीर में खनिज पदार्थों की कुल मात्रा शरीर के भार का 4,5 प्रतिशत भाग होती है। ये पदार्थ आहार के साथ अंतःगृहीत होते हैं तथा जीव में से इनका निष्कासन मूत्र, स्वेद तथा मल द्वारा होता है।

उपापचय में विभिन्न परिवर्तनों के फलस्वरूप रोग उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी तो ये परिवर्तन रोगों के मुख्य लक्षण होते हैं (उपापचय रोग)। इसका एक उदाहरण गाउट रोग (Gout) है, जिसमें रूधिर में यूरिक अम्ल की मात्रा बढ़ जाती है तथा अम्ल के लवण संधियों, कण्डराओं तथा उपास्थियों में एकत्रित हो जाते हैं। नियमानुसार उपापचय में परिवर्तन अंतःस्रावी ग्रन्थि की कुप्रक्रिया और विटामिनों की कमी की अवस्था में होते हैं।

विटामिन

विटामिनों का महत्त्व. अविटामिनता की धारणा. विटामिन विशेष कार्बनिक पदार्थ हैं जो जीव के लिये आवश्यक हैं। ये ऊर्जा का स्रोत नहीं है तथा प्लास्टिक पदार्थ भी नहीं हैं, बल्कि उपापचय में उत्प्रेरक के रूप में भाग लेते हैं। ये ऊतक एन्ज़ाइमों के बनने के लिये आवश्यक है जो जीव की कोशिकाओं तथा ऊतकों में पदार्थ के रूपांतरण पर प्रभाव डालते हैं। न० लूनिन एक रूसी चिकित्सक ने सन् 1880 में सर्वप्रथम भोजन में इन पदार्थों की विद्यमानता को सिद्ध किया (जिनका नाम बाद में विटामिन रखा गया)। आज लगभग 20 विटामिन ज्ञात हैं। इन्हें A, B,C,D,K,P, इत्यादि अक्षरों द्वारा व्यक्त किया जाता हैं। अधिकांश विटामिनों

की रासायनिक संरचना तथा शरीर-क्रिया सम्बंधी महत्त्व ज्ञात किये जा चुके हैं। कुछ विटामिन (B तथा C) जल में विलेय हैं, जबकि अन्य (A,D,E,K) केवल वसा में ही विलेय हैं। विटामिनों की प्रतिदिन की आवश्यकता की मात्रा मिलीग्रामों या मिलीग्रामों के कुछ अंशों में मापी जाती है। ताज़े विभिन्न प्रकार के भोजन में प्राय: जीव के लिये उचित विटामिन होते हैं। भोजन पर प्रवर्ध या भोजन को काफ़ी समय तक रखने से कुछ विटामिन नष्ट हो जाते हैं। उदाहरणतया, भोजन को उबालने से विटामिन C का अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है। किसी भी विटामिन की लगातार कमी के फलस्वरूप अविटामिनता नामक रोग उत्पन्न होता है। विटामिन की अनुपयुक्त मात्रा के कारण हाइपोविटामिनता नामक अस्वस्थ स्थिति उत्पन्न होती है। अधिकतर अविटामिनता के परिणामस्वरूप कार्य क्षमता कम हो जाती है, थकान शीघ्र हो जाती है, रोगाणुओं के प्रति जीव की रक्षा क्षमता कम हो जाती है, त्रुटि-पूर्ण विकास और (बच्चों में) अपूर्ण विकास होता है, आदि। अविटामिनता के प्रत्येक प्रकार के लिये विशिष्ट त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। कम प्रत्यक्ष विभिन्न प्रकार के परिवर्तन भी हाइपोविटामिनता में देखे गये हैं।

चिकित्सा में विटामिनों का काफ़ी प्रयोग है। इनमें से अनेक विटामिन कृत्रिम रूप में तैयार किये जाते हैं।

विटामिन "ए" विकास पर प्रभाव डालता है। प्राणियों पर किये गये प्रयोगों द्वारा सिद्ध हुआ है कि इस विटामिन की कमी से अवरुद्ध विकास होता है। यह जीव में सामान्य उपकला ऊतकों के सम्पोषण के लिये भी आवश्यक है। "ए"-अविटा-मिनता के कारणवश् कार्निया की उपकला, श्वसन व पाचन पथों की उपकला और अन्य अंगों की उपकला में रोगग्रस्त परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं। त्वचा का सूखना एवं किरेटिनीकरण तथा वर्णकता में वृद्धि देखने में आती हैं। पृथक स्थितियों में शुष्काक्षिपाक (नेत्र का सूख जाना) भी हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप कार्निया का ल्यूकोमा व दृष्टि लुप्त हो सकती हैं (चित्र 83)। मानव में ए-अविटामिनता का प्रथम लक्षण नक्तान्धता (या रतौंधी) है। ऐसे रोगियों में दृष्टि असामान्य रूप से क्षीण होती है या अन्धेरे में एकदम लुप्त हो जाती है। मक्खन, यकृत्, अण्ड पीत, दुग्ध तथा विशेषत: मछली यकृत् तेल में ए विटामिन बहुत अधिक मात्रा में होता है। अनेक सब्जियों व फलों (गाजर, पालक, टमाटर, आदि) में कैरोटीन होता है—वह पदार्थ जिसकी संरचना ए-विटामिन जैसी होती है। मानव (तथा प्राणियों के) जीव में ए-विटामिन यकृत में कैरोटीन से बनता है।

ए-विटामिन अपेक्षाकृत स्थायी है; यह क्वथन से नष्ट नहीं होता। ए-विटामिन की आवश्यकता की प्रतिदिन की मात्रा 1-2 मि० ग्रा० (कैरोटीन की मात्रा 3-5 मि० ग्रा०) होती है) ए-विटामिन की अत्यधिक मात्रा लिये जाने पर उपापचय विकृतियाँ, जैसे अरक्तता तथा अन्य परिवर्तन देखने में आते हैं।

बी – विटामिन, या विटामिन बी समुदाय, ग्यारह विटामिनों के ग्रुप का परिचायक है। इसमें बी$_1$-विटामिन, निकोटीनिक ग्रम्ल, राइबोफ्लेबिन, बी$_6$-विटामिन, फोलिक ग्रम्ल, बी$_{12}$-विटामिन, इत्यदि सम्मिलित हैं। इस ग्रुप की सामान्य विशेषता यह है कि इन सब में नाइट्रोजन होती है। इनमें से प्रत्येक विटामिन की रासायनिक संरचना पृथक होती है ग्रौर जीव में प्रत्येक के प्रभाव भी ग्रलग-ग्रलग होते हैं।

चित्र 83. शुष्काक्षिपाक (कार्निया के ल्यूकोमा का विकास)।

बी$_1$-विटामिन या थायेमीन उपापचय में, विशेषतः कार्बोहाइड्रेट के उपापचय में, विशेष महत्वपूर्ण रोल ग्रदा करता है। इस विटामिन की कमी के कारणवश् बेरी- बेरी नामक रोग उत्पन्न हो जाता है। इस रोग के लक्षण हैं हृदयवाहिका विकृतियाँ एवं पक्षाघात की स्थिति तक प्रेरक ग्रवरोध। इन स्थितियों में मुख्यतः परिधीय तंत्रिका तंत्र ही प्रभावित होता है (बहुतंत्रिकाशोथ)। बेरी-बेरी रोग उन देशों में ग्रधिक होता है जहाँ मुख्य ग्राहार चावल है। बी$_1$ विटामिन मटर, सूखा खमीर, ग्रण्ड-पीत तथा कुछ ग्रनाजों के छिलकों में होता है। मानव जीव में बी$_1$ विटामिन ग्रन्य पदार्थों से नहीं बनता है तथा इसका संचय भी नहीं होता है। प्रतिदिन की ग्रावश्यकता की मात्रा 2 मि॰ ग्रा॰ है। पी पी – विटामिन (निकोटीनिक ग्रम्ल) ऊतकों में काबोहाइड्रेट उपापचय मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ग्रौर उपापचय के ग्रन्य स्वरूपों में भाग लेता है। यह पाचन ग्रन्थियों तथा रक्तोत्पादक ग्रंगों की क्रिया पर प्रभाव डालता है। यह चावल एवं गेंहूँ की भूसी, दुग्ध, ग्रण्डों, बंद गोभी, टमाटर, सलाद पत्तों, खमीर, ग्रादि में मिलता है। जीव में निकोटीनिक ग्रम्ल की कमी पेलाग्रा नामक रोग का एक कारण है। इस रोग के विशिष्ट लक्षण हैं: त्वचा की संरचना में परिवर्तन (किरेटिनी करण) जिसके बाद धीरे-धीरे पाचन-तंत्र में ग्रवरोध (प्रवाहिका) उत्पन्न हो जाता हैं, तंत्रिका तंत्र में परिवर्तन (मानसिक विकृतियां)। पी पी विटामिन की प्रतिदिन की ग्रावश्यकता की मात्रा 15-25 मि॰ ग्रा॰ है।

बी$_1$ विटामिन (राइबोफ्लेविन) काबोहाइड्रेट तथा ग्रन्य पदार्थों के उपापचय में भाग लेता है, श्वसन-क्रिया, रक्तोत्पादन-क्रिया तथा तंत्रिका तंत्र की क्रिया पर प्रभाव डालता है; यह दृश्यनील लोहित के संश्लेषण में भी भाग लेता है। यह विटामिन खमीर, यकृत्, राई रोटी तथा कुछ ग्रन्य पदार्थों में पाया जाता है।

चित्र 84. स्कर्वी में गमका प्रगट होना

राइबोफ्लेविन की कमी के फलस्वरूप त्वचा में रोगग्रस्त परिवर्तन होते हैं, केश गिरने लगते है, तथा तंत्रिका तंत्र व नेत्रगोलक में परिवर्तन होने लगते हैं; इसके कारणवश् पोषी अल्सर व अन्य विकृतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। प्रतिदिन की आवश्यकता की बी विटामिन की मात्रा लगभग 2 मि० ग्रा० होता है।

बी$_6$ विटामिन प्रोटीन , वसा और सल्फर के उपापचय में भाग लेता है। यह काफ़ी अधिक मात्रा में यकृत्, माँस, मछली, खमीर, मटर तथा अन्य फलीदार पौधों में मिलता है। बी$_6$ अविटामिनता की स्थिति में मनुष्य के तंत्रिका तंत्र एवं त्वचा में परिवर्तन होते हैं।

बी$_{12}$ विटामिन रक्ताणुओं के परिपक्व होने के लिये आवश्यक प्रोटीनों के संश्लेषण में भाग लेकर रक्तोत्पादक क्रिया पर प्रभाव डालता है। बी$_{12}$ अविटामिनता के कारणवश् रक्तोत्पादक क्रिया में अवरोध उत्पन्न हो जाते हैं। यह रोग न केवल बी$_{12}$ अविटामिनता की कमी से होता है बल्कि आमाशय और क्षुद्रांत्र की रोगग्रस्त अवस्थाओं के फलस्वरूप भी उत्पन्न हो सकता है जब भोजन से इस विटामिन के अवशोषण में विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

विटामिन "सी", या ऐस्कॉर्बिक अम्ल, प्रतिस्कर्वी है। इस विटामिन की कमी से स्कर्वी रोग उत्पन्न होता है जिसके बारे में प्राचीन काल से ही ज्ञान उपलब्ध है। यह रोग उन लोगों को होता था जो काफ़ी समय तक यात्रा करते थे व जिनके भोजन में सब्जियाँ व फल नहीं होते थे। स्कर्वी धीरे-धीरे बढ़ता है। इस रोग के ल लक्षण मसूड़ों से रूधिर निकलना, (चित्र 84), दन्तों का ढ़ीला होना एवं गिरना तथा अवत्वक एवं अंतरापेशीय रक्तस्राव हैं। इस विटामिन की अधिक मात्रा रोज़-हिन, काली किशमिश, टमाटर, बंद गोभी, प्याज़, नींबू, संतरा, आदि में मिलती है। विटामिन सी अपेक्षाकृत अस्थायी है तथा विभिन्न खाध पदार्थों में इसकी मात्रा उनके रखे जाने की अवधि व विधि पर निर्भर करती है। यह ताज़ा सब्ज़ियों एवं फलों में काफ़ी अधिक होता है। विटामिन की प्रतिदिन की आवश्यकता 50-60 मि० ग्रा० होती है। मिर्च तथा नींबू में विटामिन पी (सिट्रिन) होता है। यह सिद्ध हो चुका है कि स्कर्वी रोग न केवल सी-अविटामिनता के कारण ही बल्कि पी-अविटामिनता के कारण भी होता है।

विटामिन "डी" अस्थिक्षयरोधी है। इस विटामिन की कमी से रिकेट्स होता है (चित्र 85)। बच्चों में रिकेट्स के लक्षण हैं: विकास व वृद्धि में विलम्ब,

अस्थियों का मृदु व वक्र होना, विलम्बित दन्तविन्यास, विलम्बित कलांतरालों का बंद होना, आदि। रिकेट्स वाले बच्चों में पर्शुकाओं में फूलन हो जाती है, वक्ष में परिवर्तन होते हैं; तथा सिर का आकार विस्तृत हो जाता है।

विटामिन "डी" की कमी से कैल्सियम तथा फॉस्फोरस लवणों के उपापचय में अवरोध पैदा हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप अस्थियो में कैल्सियम का संचय नहीं होता है और अस्थियाँ मृदु हो जाती हैं।
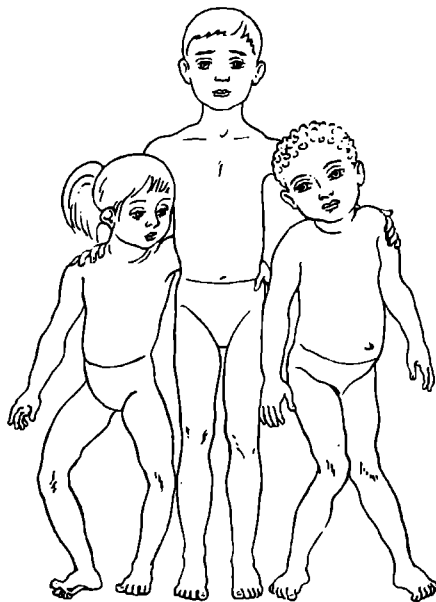
चित्र 85. मध्य :—स्वस्थ बालक; दोनों ओर — समान आयु के रिकिटिक बालक।

विटामिन "डी" की अधिक मात्रा उन्हीं पदार्थों में मिलती है जिनमें विटामिन "ए" मिलता है, यानी मछली यकृत् तेल मक्खन, यकृत् अण्ड पीत तथा दुग्ध। अर्गोस्टेरॉल नामक पदार्थ, जिसे पराबैंगनी किरणन द्वारा विटामिन "डी" में रूपांतरित किया जा सकता है, सब्ज़ियों व माँस में मिलता है। ऐसा ही पदार्थ मानव त्वचा में बहुत अधिक मात्रा में मिलता है। इसी कारण से रिकेट्स रोगियों को न केवल विटामिन "डी" दिया जाता है, बल्कि सूर्य के प्रकाश या क्वार्ट्स पारा वाष्प लैंप के प्रकाश में बैठाया जाता है। बच्चे की विटामिन "डी" की प्रतिदिन की आवश्यकता की मात्रा 0.015-0.02 मि० ग्रा० होती है तथा वयस्क के लिए यह मात्रा 0.025 मि० ग्रा० होती है। विटामिन "डी" की अधिक मात्रा हानिकारक

होती है (यह विभिन्न अंगों में कैल्सियम लवणों की अधिक मात्रा का संचय कर देता है तथा वसा उपापचय में विकार उत्पन्न कर देता है)। विटामिन "डी" की अनेक किस्में होती हैं, लेकिन सर्वाधिक सक्रिय विटामिन "$डी_3$" है।

विटामिन "ई" (टोकॉफेरॉल) प्रजनन क्रिया पर प्रभाव डालता है। प्राणियों पर किए गए प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि विटामिन "ई" की कमी से बंध्यता हो जाती है। "ई" अविटामिनता से लैंगिक प्रकार्यों में विकार उत्पन्न होते हैं, त्वचा फूल जाती है तथा अन्य विकार भी उत्पन्न होते हैं। यह विटामिन माँस, अण्ड पीत, गेंहू आदि में होता है।

विटामिंन "के" प्रतिरक्तस्रावी है तथा प्रोथोम्बिन के निर्माण के लिये (यकृत् में) आवश्यक है जो रूधिर आतंच में भाग लेता है। विटामिन "के" पालक, सलाद पत्तों, बंद गोभी, गाजर आदि में मिलता है। यह विटामिन मानव तथा कुछ कुछ पशुओं में बृहदांत्र में पाये जाने वाले जीवाणु द्वारा बनता है। "के" अविटामिनता रूधिर की आतंच विशेषता को क्षीण कर देता है जिसके फलस्वरूप रक्तस्राव होता है (जैसे मसूड़ों से या संधियों, रैटिना, आदि में)।

ऊर्जा उपापचय

जीव में अनेक प्रकार्यों को करने में ऊर्जा निरन्तर व्यय होती रहती है (पेशी कार्य, ग्रन्थियों की स्रावण क्रिया, तंत्रिका क्रिया, आदि में) तथा इसी समय व निरन्तर रूप से उत्पन्न भी होती रहती है। जीव अपनी ऊर्जा बाह्य वातावरण से प्राप्त किये गये भोजन से ग्रहण करता है। ऊतक एन्ज़ाइमों की क्रिया से भोजन का सरल पदार्थों में वियोजन होता है और ऊर्जा उत्सर्जित होती है। आन्तरिक ऊर्जा का व्यय करने वाली पेशी, स्रावण, तंत्रिका तथा अन्य प्रकार की क्रियाओं के फलस्वरूप ऊष्मा उत्सर्जित होती है। यह सिद्ध हो चुका है कि उपापचय की तीव्रता को जीव में बनने वाली ऊष्मा की मात्रा द्वारा मापा जा सकता है। ऊतकों में एक ग्रा० प्रोटीन का ऑक्सीकरण 4.1 कैलो० ऊष्मा देता है, एक ग्रा० कार्बोहाइड्रेट का आक्सीकरण भी 4.1 कैलो० उष्मा उत्सर्जित करता है, तथा एक ग्रा० वसा का ऑक्सीकरण 9.3 कैलो० ऊष्मा उत्सर्जित करता है। जीव द्वारा ग्रहित इन पदार्थों की मात्रा ज्ञात होने पर हम उनमें विद्यमान ऊर्जा की मात्रा माप सकते हैं यानी अंतर्गृहीत ऊर्जा। यह स्मरण रहे कि जीव द्वारा सभी पोषक पदार्थों का अवशोषण नहीं होता है, बल्कि कुछ पोषक पदार्थों का पाचन नहीं होता है तथा ये पदार्थ निष्कासित हो जाते है। यह प्रयोगतः सिद्ध हो चुका है कि जीव द्वारा अवशोषित 90 प्रतिशत पोषक पदार्थों का पाचन हो जाता है। जीव का ऊर्जा व्यय मापा जा सकता है जिसके लिये अनेक विधियाँ उपलब्ध हैं। इनमें से एक विधि बाह्य

वातावरण में मनुष्य द्वारा उत्सर्जित ऊष्मा की मात्रा को मापना (विशेष कक्षों में) है।

आधारी उपापचय

भोजन प्राप्त करने के 12-18 घंटे के बाद गर्म वातावरण में शरीर की पूर्णतया विश्राम अवस्था में जैविक क्रिया को बनाये रखने (हृदय क्रिया को बनाये रखने, श्वसन पेशी, आदि का संकुचन) के लिये आवश्यक ऊर्जा की न्यूनतम मात्रा आधारी उपापचय कहलाती है।

एक वयस्क पुरुष का आधारी उपापचय 1000 से 2000 कै० प्रति दिन तथा वयस्क स्त्री के लिये 1000 से 1700 कै० प्रतिदिन तक होता है। लैंगिग भिन्नता के अतिरिक्त आधारी उपापचय मनुष्य के भार, ऊँचाई तथा आयु पर भी निर्भर करता है। जब मनुष्य कार्य करता है तो अतिरिक्त ऊर्जा व्यय होती है (कार्य उपापचय)। अतिरिक्त ऊर्जा उपापचय कार्य की प्रकृति व अवधि पर निर्भर करता है। उदाहरणतया, यह ज्ञात हो चुका है कि मानसिक कार्यरत मनुष्य का कुल ऊर्जा व्यय (आधारी उपापचय + कार्य उपापचया) 2700-3000 कै० प्रतिदिन होता है। यह व्यय कठोर शारीरिक कार्यरत मनुष्य के लिये एकदम बढ़ जाता है तथा 5000 कै० प्रतिदिन या इससे भी अधिक हो सकता है।

पोषण

मनुष्य के स्वास्थय एवं कार्य क्षमता पर प्रभाव डालने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण पोषण है। बच्चे का सामान्य विकास काफ़ी मात्रा में उचित पोषण पर निर्भर करता है। चिकित्सा में भी पोषण काफ़ी महत्वपूर्ण चिकित्सीय विधि है।

मनुष्य के लिये आवश्यक भोजन की मात्रा व संरचना आयु, परिमाप कार्य की प्रकृति तथा अन्य कारणों पर निर्भर करती हैं। भोजन की संरचना को बनाते समय जीव के लिये न केवल प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा की आवश्यकता ध्यान में रखी जाती है, बल्कि विटामिनों व खनिज लवणों की आवश्यकता भी ध्यान में रखी जाती है। भोजन में विभिन्न पोषक पदार्थों की मात्रा निश्चित होनी चाहिये। इसमें प्राणि उद्गम के प्रोटीन तथा वसा होने चाहिये और वनस्पती प्रोटीन और वसा भी सम्मिलित होने चाहिये। यह स्मरण रहे कि विभिन्न खाद्य पदार्थ विभिन्न प्रकार सम्मिलित होते हैं। विभिन्न प्रकार का भोजन युक्तिमूलक पोषण की सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। भोजन का अवशोषण उसके तैयार किये जाने पर तथा उसके किन अवस्थाओं में ग्रहण किये जाने पर और इस बात पर कि दिन में कितनी बार खाया जाता है, निर्भर करता है। स्वादिष्ट भोजन यदि एक निश्चित समय ही लिया

जाए तो उसका सबसे भली प्रकार व शीघ्र पाचन होता है। विभिन्न भोजनों का कैलोरिक मान ज्ञात करने के लिये विशेष तालिकाएँ प्रयोग की जाती है।

रोगियों के उपचार के समय भोजन का निश्चित क्रम अतिआवश्यक है। निश्चित भोजन का पालन न करने से रोगी की अवस्था में जटिल विकार उत्पन्न हो सकते हैं।

ऊष्मा उत्पादन तथा ऊष्मा हानि

आस पास के वातावरण के ताप पर निर्भर न होते हुये मानव शरीर का ताप स्थायी रहता है। यह ताप ऊष्मा उत्पादन तथा ऊष्मा हानि द्वारा नियांत्रित होता है। जीव में पोषक पदार्थों के ऑक्सीकरण के परिणामस्वरूप सभी अंगों में ऊष्मा का उत्पादन निरंतर होता रहता है। पेशियों में, विशेषत: शारीरिक कार्य के समय ऊष्मा का अधिक मात्रा में उत्पादन होता है। उपापचय एवं ऊष्मा उत्पादन में प्रत्यक्ष आंतर-निर्भरता है। उपापचय में वृद्धि होने से ऊष्मा का उत्पादन अधिक होता है, और उपापचय में कमी होने से ऊष्मा का उत्पादन कम होता है। सामान्यत: ऊष्मा उत्पादन का नियंत्रण उपापचय में परिवर्तनों द्वारा होता है। उदाहरणतया, यदि बाह्य वातावरण का ताप कम हो जाता है तो उपापचय, तथा इसके परिणामस्वरूप, ऊष्मा उत्पादन बढ़ जाएगा। इस आंतर निर्भरता का स्पष्ट उदाहरण है शरीर के ठंडा हो जाने पर पेशियों का कम्कपाना। ठंड द्वारा त्वचा के ग्राही उद्दीपित होते हैं और प्रतिवर्त रूप से पेशियों को संकुचित करते हैं, जिससे उपापचय में और ऊष्मा उत्पादन में वृद्धि होती है।

ऊष्मा उत्पादन के साथ ही साथ ऊष्मा हानि की क्रिया भी घटती है। अंगों में प्रवाह कर रहा रूधिर गर्म हो जाता है तथा आसपास के वातावरण को अतिरिक्त ऊष्मा दे देता है। मुख्यत: ऊष्मा हानि त्वचा के माध्यम से ऊष्मा विकिरण व ऊष्मा संवहन द्वारा होती है; तथा यह स्वेद वाष्पण द्वारा भी होती है। ऊष्मा का कुछ भाग उच्छवासित वायु, और मूत्र तथा मल के उत्सर्जन के साथ भी निष्कासित हो जाता है। त्वचा के माध्यम से ऊष्मा का विकिरण एवं संवहन केवल उसी स्थिति में होते हैं जब शरीर का ताप आसपास के वातावरण के ताप से अधिक होता है। जब वायु का ताप अधिक होता है तो मुख्यत: या एकमात्र रूप से, ऊष्मा की हानि स्वेद वाष्पण द्वारा होती है। ऊष्मा हानि का नियंत्रण मुख्यत: त्वचीय वाहिकाओं में प्रवाह कर रहे रूधिर की मात्रा में परिवर्तन होने पर तथा स्वेद की तीव्रता पर निर्भर करता है। जव स्वेद वाहिकाएँ विस्फारित होती हैं और अधिक मात्रा में रूधिर प्रवाह करता है, तो ऊष्मा हानि की मात्रा भी वढ़ जाती है; जब ये वाहिकाएँ संकुचित होती हैं, तो रूधिर प्रवाह कम हो जाता है, तथा ऊष्मा हानि कम हो जाती है।

ऊष्मा उत्पादन तथा ऊष्मा हानि की प्रक्रिया का नियंत्रण तंत्रिका तंत्र अधश्चेत्तक में स्थित ऊष्मा-नियंत्रण केन्द्रों की मदद से करता है। प्राणियों पर किये गये प्रयोगों

द्वारा सिद्ध हो चुका है कि मस्तिष्क के इस भाग का यांत्रिकीय (सुई व किसी तीक्ष्ण गोली द्वारा) अथवा वैद्युत उद्दीपन शरीर के ताप में वृद्धि करता है।

त्वचा के तापीय ग्राहियों के उद्दीपित होने पर और केन्द्रों की ओर प्रवाह कर रहे रूधिर के ताप के प्रभाव से सामान्यत: ऊष्मा नियंत्रण केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं। उदाहरणतया, जब ठंड द्वारा त्वचा ग्राही उद्दीपित होते हैं तो आवेग ऊष्मा-नियंत्रण केन्द्रों को प्रेषित हो जाते हैं। उसी समय ऊष्मा-नियंत्रण केन्द्रों पर प्रवाह करने वाले रूधिर का ताप परिवर्तित हो सकता है। इन उद्दीपकों के प्रति ऊष्मा-नियंत्रण केन्द्र दो प्रकार से प्रतिक्रिया करते हैं: एक ऊतकों में उपापचय की वृद्धि करता है जिससे ऊष्मा उत्पादन बढ़ जाता है; तथा दूसरा त्वचीय रूधिर वाहिकाएँ संकुचित करता है जिससे ऊष्मा हानि कम हो जाती है। इससे जीव ठंडा होने से बच जाता है।

स्वस्थ मनुष्य के जीव में ऊष्मा उत्पादन तथा ऊष्मा हानि संतुलित होते हैं। आसपास के वातारण में निष्कासित होने वाली ऊष्मा की मात्रा उत्पादित ऊष्मा की मात्रा के बराबर होती है। इस संतुलन के परिणामस्वरूप शरीर का ताप स्थायी बना रहता है।

कक्षक में मापा गया स्वस्थ मनुष्य के शरीर का ताप 36.5° C से 36.9°C तक हो सकता है। शिशुओं का ताप मलाशय में मापा जाता है: 37-37.5°C । प्रतिदिन ताप मान में नियमित रूप से मामूली-सा परिवर्तन हो सकता है। न्यूनतम ताप प्रात: 4:00 से 6:00 बजे के बीच और अधिकतम शमि 4:00 से 6:00 बजे के बीच देखा गया है। दिन में अनेक बार मापा गया ताप प्रतिदिन का तापमान वक्र वनाने के काम आ सकता है।

अनेक रोगों के उत्पन्न होने का कारण शरीर में ताप को वृद्धि होता है जो विकृत ऊष्मा नियंत्रण के फलस्वरूप होती है। 41°C से अधिक शरीर ताप की वृद्धि जीव के लिए अत्यधिक हानिकारक है क्योंकि यह जैविक क्रियाओं में विकार उत्पन्न करती है (जैविक क्रियाएँ केवल निश्चित ताप सीमाओं के अन्तर्गत ही सम्भव है)। शरीर ताप की अधिक वृद्धि से उपापचय में तीव्र वृद्धि होती है, जीव के अपने प्रोटीनों का अत्यधिक वियोजन (ऋणात्मक नाइट्रोजन संतुलन), द्रुतहृदय, रूधिर दाब की सम्बंधित वृद्धि, तीव्र श्वसन, आदि। शरीर का ताप कठोर शारीरिक कार्य, विशेषत: जब वायु का ताप अधिक होता है, के समय बढ़ जाता है। ऐसी स्थितियों में मनुष्य ऊष्माघात का शिकार हो सकता है।

कुछ स्थितियों में, उदाहरणतया, दीर्घकालीन ठंडा रहने पर शरीर का ताप सामान्य से नीचे गिर जाता है। कभी-कभी शरीर ताप में कमी (अवतरतापशील) शल्य चिकित्सा में कृत्रिम रूप से की जाती है (हृदय की शल्य-क्रिया के समय)। इससे जीव में उपापचय में कमी हो जाती है तथा ऊतकों की ऑक्सीजन की आवश्यकता में कमी हो जाती है। ऐसी स्थितियों में ऊतक रूधिर में ऑक्सीजन की कमी काफ़ी देर तक सहन कर सकते हैं।

अध्याय 7

जननमूत्र तंत्र

जननमूत्र तंत्र अंगों के दो तंत्रों – मूत्रीय तथा जनन – से बना है। दोनों तंत्रों के भिन्न-भिन्न प्रकार्य है लेकिन इनमें भ्रूणविज्ञान और शरीर विज्ञान के दृष्टिकोण से गहरा सम्बन्ध है।

मूत्रीय तंत्र

सामान्य सूचनायें

जीव में जैव क्रियाओं के फलस्वरूप विभिन्न ऊतको में प्रोटीनों; वसा और कार्बोहाइड्रेटों का विघटन होता है तथा इसके साथ ही ऊर्जा का उत्सर्जन होता है और यौगिक बनते हैं जिन्हें उपापचय के अन्त्य उत्पाद कहते हैं।

उपापचय के उत्पाद रूधिर में प्रवेश कर जाते हैं और उत्सर्जी अंगों में से गुज़रते हुये जीव से बाहर निकल जाते हैं। विघटन के अनेक उत्पाद मूत्रीय अंगों द्वारा मूत्र में ही नष्ट हो जाते हैं।

मूत्रीय तंत्र गुर्दा, मूत्रवाहिनी, मूत्राशय तथा मूत्रमार्ग से बना है। मूत्र गुर्दों में बनता है जो मुख्य उत्सर्जी अंग हैं। तत्पश्चात् मूत्रवाहिनी में से गुजराते हुये यह मूत्राशय में आ जाता है जो एक आशय का कार्य करता है। मूत्र का निकास मूत्रमार्ग द्वारा होता है।

गुर्दों के अतिरिक्त त्वचा एवं फुफ्फुस भी उत्सर्जन क्रिया में भाग लेते हैं। प्रोटीन उपापचय के उत्पादों, जल और लवण का जीव में से उत्सर्जन त्वचा में से निकलने वाले स्वेद द्वारा होता है। कार्बन डाइआक्साइड तथा जल (जल वाष्प के रूप में) फुफ्फुसों द्वारा निष्कासित होते हैं।

गुर्दे

गूर्दे एक युगलित अंग हैं जो कटि-क्षेत्र में पश्च उदरीय पृष्ठ बारहवें वक्षीय और प्रथम द्वितीय कटि कशेरूक (चित्र 86) पर स्थित होते हैं। गुर्दों का भार लगभग 150 ग्रा० होता है।
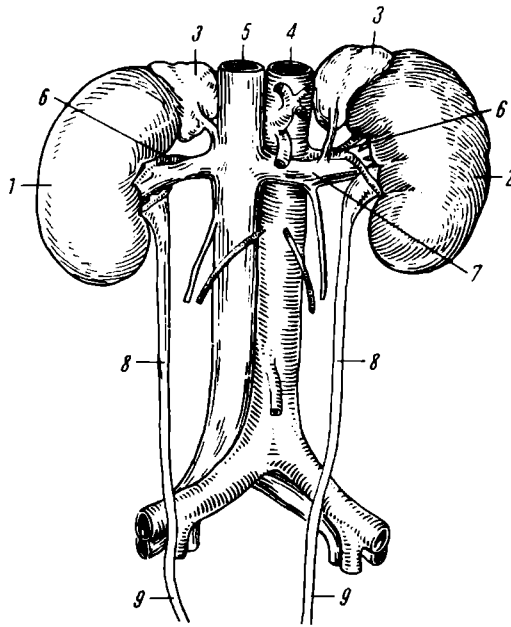
चित्र 86. वृक्क तथा मूत्रवाहिनी
1 – दक्षिण वृक्क ; 2 – वाम वृक्क ; 3 – अधिवृक्क ग्रन्थि ; 4 – धमनी ; 5 – निम्न महाशिरा ; 6 – वृक्क धमनी ; 7 – वृक्क वाहिनी ; 8 – मूत्रवाहिनी ।

गुर्दे के चारों ओर झिल्लियाँ चढ़ी हुई होती हैं। संयोजी ऊतक झिल्ली जो गुर्दों के एकदम साथ चिपकी रहती हैं, तंतुमय कैप्स्यूल कहलाती है। इस कैप्स्यूल के चारों ओर परिवृक्कीय वसा चढ़ा रहता है जिसे वसा कैप्स्यूल कहते हैं। गुर्दे की सबसे बाहरी झिल्ली वसा संपट्ट कहलाती है।

गुर्दे की आकृति सेम के बीज की भांति होती है। इसके ऊपरी व निम्न सिरे होते हैं (जिन्हें प्रायः ध्रुव कहते हैं), अग्र व पश्च तल और पार्श्व तथा मध्यवर्ती सीमाएं होती हैं। मध्यवर्ती सीमा पर एक विदर होता है जिसे नाभिका वृक्क कहते हैं जिसमें मूत्रवाहिनी, तंत्रिकाएं, वृक्कीय धमनी, वृक्कीय शिरे तथा लसीका वाहिकाएँ होती है। गुर्दे के अन्दर नाभिका केन्द्रिय कोटर में विस्तरित हो जाती है जिसे वृक्कीय कोटर कहते हैं। अन्तिम के अन्दर महा तथा निम्न वृक्क पुंज वृक्क श्रोणि, तंत्रिकाएं और रूधिर वाहिकाएँ होती हैं।

गुर्दे के एक भाग में दो पदार्थ होते हैं, जिन्हें वल्कुट पदार्थ और मज्जा पदार्थ कहते हैं। (चित्र 87)। वल्कुट पदार्थ गुर्दे की परिधि के साथ-साथ स्थित होता है
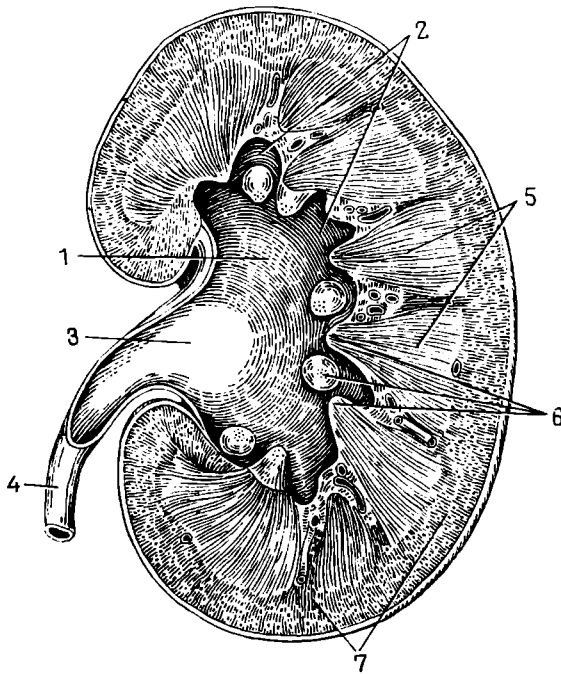
चित्र 87. वृक्क (भाग)

1 – महा बाह्यदल पुंज ; 2 – लघु बाह्यदल पुंज ; 3 – वृक्क श्रोणि ; 4 – मूत्रवाहिनी ; 5 – तंत्रिका पदार्थ ; 6 – पैपिला ; 7 – वृक्क का वल्कुट पदार्थ। 7 – केशिका-गुच्छ में रूधिर लाने वाली वाहिका ; 8 – केशिका-गुच्छ में से रूधिर बाहर निकालने वाली वाहिका ; 9 – नलिकाओं के चारों ओर केशिकाएं ; 10 – शिरा।

और स्तंभों के रूप में मज्जा पदार्थ में प्रवेश कर जाता है। मज्जा पदार्थ वल्कुट पदार्थ के अन्दर स्थित होता है और इस की आकृति पालिका अथवा वृक्कीय पिरामिड जैसी हो जाती है। पिरामिड के शिखर वृक्कीय कोटर की ओर अभिसरित होते हैं तथा इनके चारों ओर लघु बाह्यदल पुंज होते हैं। (चित्र 87)।

गुर्दे के वल्कुट और मज्जा पदार्थों में बड़ी सँख्या में मूत्रजन नलिकाएँ तथा रूधिर वाहिकाएँ स्थित होती हैं। मूत्रजन नलिकाएँ गुर्दे के मृदूतक बनाते हैं। ये बहुत ही महीन तथा भांति-भांति की आकृति वाली (प्लेट III) नलिकाएँ होती हैं जिनकी दीवारें वृक्कीय उपकला से बनी हुई होती हैं। वृक्कीय पदार्थ में विद्यमान रूधिर वाहिकाओं का व्यास भिन्न-भिन्न होता है और ये वृक्कीय धमनी और वृक्कीय शिरे की शाखाएँ बनाती हैं।

मूत्रजन नलिकाएँ महीनतम रूधिर वाहिकाओं के साथ सम्बंधित होती हैं और तथाकथित वृक्काणु बनाती हैं (गुर्दे की संरचना इकाई)। मूत्र वृक्काणु में बनता है। दो गुर्दों में बीस लाख वृक्काणु होते हैं।

प्रत्येक वृक्काणु का आरम्भिक भाग तथाकथित वृक्कीय कणिका (मालपीगी – शुमल्यान्सकी कणिका) होती है (प्लेट III)। वृक्काणु केशिकीय लूपों के गुच्छों (केशिकीय गुच्छों) तथा एक कैप्स्यूल से बनी हुई होती है (गुच्छ-कैप्स्यूल)। गुच्छ-कैप्स्यूल को शुमल्यान्स्की-बाउमन कैप्स्यूल भी कहते हैं। अन्तिम की आकृति दो दीवारों वाले कप की भांति होती है। आगे इसके साथ मूत्रजन नलिकाएँ होती हैं जिन्हें निकटस्थ समवलित नलिका कहते हैं। ये एक लूपनुमा नलिका के साथ जुड़ी होती हैं जो दूरस्थ समवलित नलिका के साथ सम्बंधित होती है ये सभी नलिकाएँ वृक्काणु का भाग होती हैं।

वृक्काणु की रूधिर वाहिकाओं और मूत्रजन नलिकाओं के बीच सम्बन्ध मूत्र निर्माण की क्रिया में काफी महत्व रखता है। अभिवाही वाहिकाएँ नामक रूधिर वाहिकाएँ केशिकीय गुच्छ कैप्स्यूल में प्रवेश करके केशिकाओं में विभाजित हो जाती हैं जो वृक्कीय कैप्स्यूल का केशिकीय गुच्छ बनाती हैं। गुच्छ में से रूधिर अपवाही वाहिका में प्रवाह करता है। अभिवाही वाहिकाओं केशिकीय गुच्छों तथा अपवाही वाहिकाओं में धमनीय रूधिर होता है। यह नोट करना चाहिये कि अभिवाही वाहिकाओं की तुलना में अपवाही वाहिकाओं का व्यास छोटा होता है। इसके परिणामस्वरूप केशिकीय गुच्छों की कैपिलरी में दाब बढ़ जाता है जो मूत्र निर्माण के लिये आवश्यक है। अपने क्रम में अपवाही वाहिकाएँ कैपिलरी के सघन जाल में विभाजित हो जाती हैं जो वृक्काणुओं की नलिकाएँ बनती हैं। इन कैपिलरी में से गुज़रने पर धमनीय रूधिर शिरा रूधिर में परिवर्तित हो जाता है। अन्य अंगों के विपरीत गुर्दे में एक के स्थान पर कैपिलरी के दो विन्यास होते हैं। इसका सम्बन्ध मूत्र निर्माण से है।

वृक्काणुओं में मुत्रजन नलिकाओं के अतिरिक्त गुर्दे में एकत्रित करने वाली नलिकाएँ भी होती हैं जो मूत्र के निर्माण में महीं, बल्कि उसके निष्कासन में भाग लेती हैं। एकत्रित करने वाली नलिकाएँ इकट्ठी हो जाती हैं तथा इनके ऑस्टिया गुर्दों के मज्जा पदार्थ में पिरामिड के शिखरों पर लघु बाह्यदल पुंजों में खुल जाते हैं।

मूत्र निमार्ण की क्रिया. वृक्काणु में मूत्र निर्माण की क्रिया दो चरणों में होती है: प्रथम चरण में प्राथमिक मूत्र बनता है; द्वितीय चरण में गौण या अन्तिम मूत्र बनता है।

प्राथमिक मूत्र वृक्कीय कणिका में केशिकीय गुच्छ कैपिलेरी में से प्रवाह करने वाले रूधिर के फिल्टरन के परिणामस्वरूप बनता है। रूधिर में विद्यमान जल का कुछ भाग एवं कुछ अन्य पदार्थ केशिकीय गुच्छ की दीवार और केशिकीय गुच्छ कैप्स्यूल के अंतरंग स्तर में से गुजर कर कैप्स्यूल की अवकाशिका में प्रवेश कर जाता

है। प्राथमिक मूत्र की रासायनिक संरचना रूधिर प्लैज़्मा से मिलती-जुलती है, लेकिन इसमें प्रोटीन नहीं होते हैं। वृक्कीय कणिका में प्राथमिक मूत्र फिल्टरन की क्रिया केशिकीय गुच्छ कैपिलेरी में उच्च रूधिर दाब के फलस्वरूप सम्भव होती है। रूधिर-दाब दाब के थोड़ा-सा कम हो जाने पर मूत्र निकास में कमी हो जाती है।

जीव द्वारा निष्कासित किया जाने वाला मूत्र गौण या अन्तिम मूत्र कहलाता है। इसका निर्माण वृक्काणु की मूत्रजन नलिकाओं में प्राथमिक मूत्र से रूधिर द्वारा जल तथा जल में विलीन अन्य पदार्थों के पुनः अवशोषण से होता है। यह परिकलित किया गया है कि 24 घंटों में लगभग 100 लीटर प्राथमिक मूत्र बनता है, लेकिन केवल 1.5 लीटर अन्तिम मूत्र निष्कासित होता है। संरचना के आधार पर प्राथमिक मूत्र तथा अन्तिम मूत्र में निम्न विभेद है: प्राथमिक मूत्र में ग्लूकोस, ऐमीनो अम्ल तथा कुछ अन्य पदार्थ होते हैं। जैसे प्राथमिक मूत्र वृक्काणुओं की नलिकाओं में से गुजरता है, ये सभी पदार्थ तथा साथ-साथ जल का अधिकांश भाग, अपवाही वाहिकाओं की शाखाओं अथवा मूत्रजन नलिकाओं की रूधिर कैपिलरी में प्रवाह कर रहे रूधिर में पुनः अवशोषित हो जाता है।

वृक्काणुओं में से अन्तिम मूत्र एकत्रित करने वाली नलिकाओं में प्रवेश कर जाता है तथा तत्पश्चात लघु बाह्यदल पुंजो में प्रवेश कर जाता है। लघु बाह्यदल पुंज (प्रत्येक गुर्दे में इनकी सँख्या 8 से 12 तक होती है) दो या तीन महा बाह्यदल पुंजों में परिवर्तित होते हैं जो फिर वृक्कीय श्रोणि तक पहुँचते हैं। श्रोणि में से मूत्र मूत्रवाहिनी में से गुजर कर मूत्रशय में प्रवेश करता है।

गुर्दों का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार्य रूधिर में लवण की सान्द्रता को बनाये रखना है। मूत्र में रूधिर में से अनेक लवण तथा कई अन्य पदार्थ निष्कासित हो जाते हैं और निष्कासन की गति जीव में होने वाली क्रियाओं पर निर्भर रहती है। उदाहरणतया, जठर पाचन में रूधिर प्लैज़्मा में विद्यमान क्लोरीन आयन जठर ग्रन्थियों द्वारा काफ़ी तीव्रता से प्रयुक्त हो जाते हैं और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल बनाते हैं तथा मूत्र में इन आयनों का निष्कासन कम हो जाता है। जब रूधिर में लवणों की मात्रा अधिक हो जाती है तो मूत्र में उनका निष्कासन बढ़ जाता है। इस प्रकार रूधिर प्लैज़्मा की सान्द्रता स्थायी स्तर पर बनी रहती है। उसी समय जीव के सभी ऊतकों में परासरणी दाब और निश्चित अम्ल-क्षार सन्तुलन आपेक्षिक रूप से स्थायी बने रहते हैं।

मूत्र निर्माण का नियंत्रण. गुर्दों का कार्य तंत्रिका तंत्र और तरल नियंत्रण के अनुसार होता है। गुर्दों में तंत्रिका तन्तु बड़ी सँख्या में होते हैं। केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र से तंत्रिका आवेश वृक्कीय रूधिर वाहिकाओं को संकीर्ण बना देता है या मोड़ देता है। अतः केशिकीय गुच्छ की दीवारों की पारगम्यता और मूत्रजन नलिकाओं की उपकला कोशिकाओं की अवशोषण क्षमता परिवर्तित हो जाती है। यह मूत्र निर्माण क्रिया पर प्रभाव डालता है। उदाहरणतया, जब वृक्कीय रूधिर वाहिकाएँ संकुचित

होती हैं तो रूधिर का अंतर्वाह कम हो जाता है तथा मूत्र कम बनता है। केशिकीय गुच्छ की दीवारों की पारगम्यता बढ़ जाने पर अथवा मूत्रजन नलिकाओं की केशिकाओं की अवशोषण क्षमता कम हो जाने से मूत्र निर्माण में वृद्धि होती है तथा मूत्र की संरचना में भी परिवर्तन होता है।

क० बीकोव ने प्रतिबंधित प्रतिवर्तों पर प्रयोग द्वारा वल्कुट प्रमस्तिष्क और गुर्दों के बीच सम्बन्ध सिद्ध किया। किसी प्राणि जीव में जल प्रवेश कराये जाने के साथ-साथ अन्य उद्दीपकों की क्रिया भी की गई, जैसे तालमापी विस्पंद। स्वाभाविकतः जल के कारणवश मूत्र निर्माण में वृद्धि हुई। जल के बिना अनेक तालमापी विस्पंदों के प्रयोग से भी मूत्र निर्माण में वृद्धि हुई। इसका कारण था कि प्रतिबंधित प्रतिवर्त बन गया था। यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि अन्य आन्तरिक अंगो की भांति वृक्कीय वाहिकाओं में संवेदी तंत्रिका सिरे होते हैं जो उद्दीपित होने पर प्रतिवर्त रूप से हृदयवाहिका तथा श्वसन क्रियाओं को परिवर्तित करते है।

मूत्र निर्माण पर प्रभाव डालने वाले तरल कारणों में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण रोल हार्मोन का है। उदाहरणतया, अधः स्फीतिका के अग्र पिंडक द्वारा बनने वाली एक हार्मोन (मूत्रल हार्मोन) मूत्र निर्माण को उद्दीपित करती है। अधः स्फीतिका का पश्च पिंडक प्रतिमूत्रल हार्मोन बनाती है जो मूत्रजन नलिकाओं में विद्यमान जल का रूधिर में पुनः अवशोषण बढ़ा देती है तथा इस प्रकार अन्त्य मूत्र निर्माण की मात्रा कम कर देती है। जब जीव में जल की थोड़ी-सी अस्थायी वृद्धि होती है तो प्रतिमूत्रल हार्मोन का प्रभाव बन्द हो जाता है और मूत्र का निर्माण बढ़ जाता है। जल की कमी के फलस्वरूप इस हार्मोन का प्रभाव बढ़ जाता है और मूत्र की मात्रा कम हो जाती है, लेकिन मूत्र की सान्द्रता अधिक हो जाती है। कुछ लोगों को अधः स्फीतिका के पश्च पिंडक की अधोक्रिया से तकलीफ होती है जिससे प्रतिश्त्रल हार्मोन कम मात्रा में बनती है। इन स्थितियों में मूत्रजन नलिकाओं में पुनः अवशोषण की क्रिया में अवरोध उत्पन्न हो जाता है तथा मूत्र का काफ़ी अधिक मात्रा में निष्कासन हो जाता है (उदकमेह)।

अन्य हार्मोन (थायरॉक्सिन–अवटु ग्रन्थि की हार्मोन ऐड्रिनलीन–अधिवृक्क की हार्मोन इत्यादि) भी मूत्र निर्माण पर अपना प्रभाव डालती हैं। उदाहरणतया, थायरॉक्सिन मूत्रजन नलिकाओं में जल का पुनःअवशोषण कम कर देती है जिससे फिल्टरन कम हो जाता है और मूत्र निर्माण भी कम हो जाता है।[८]

प्रोटीन विघटन के उत्पाद (मूत्र, इत्यादि) भी मूत्रलता उत्पन्न करके वृक्कीय क्रिया पर प्रभाव डालते हैं।

मूत्र निर्माण क्रिया पर तरल कारणों का प्रभाव प्राणियों में गुर्दों और तंत्रिका तंत्र के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध विच्छेद करके गुर्दों को प्रतिरोपित करके सिद्ध किया जा

चुका है। जैसे ही रुधिर परिसंचरण आरम्भ होता है प्रतिरोपित गुर्दे मूत्र निष्कासन आरम्भ कर देते हैं।

चिकित्सा विज्ञान में तथाकथित मूत्रलता (डाययूरेटिन आदि) का प्रयोग काफी प्रचलित है।

मूत्र

मूत्र एक हल्के पीले रंग का कम अम्लीय द्रव है। मनुष्य 24 घंटों में औसतन 1.5 लीटर मूत्र निष्कासित करता है। इसका विशिष्ट घनत्व जल से मामूली-सा अधिक होता है और यह 1.015 – 1.020* है।

मूत्र की संरचना. मूत्र जल तथा उसमें विलीन कार्बनिक पदार्थों से बना है। स्वस्थ मनुष्य के मूत्र में (सामान्य मूत्र में) लगभग 95 प्रतिशत जल और 5 प्रतिशत अन्य पदार्थ होते हैं। मूत्र में निष्कासित कार्बनिक पदार्थ मुख्यतः प्रोटीन विघटन के उत्पाद होते हैं। इनमें यूरिया, यूरिक ऐसिड, क्रिएटिनिन, हिपूरिक ऐसिड, इत्यादि होते हैं। इनमें से अधिकांश में नाइट्रोजन (नाइट्रोजन वाले पदार्थ) होती है। मूत्र में विद्यमान अकार्बनिक पदार्थों में साधारण लवण, सल्फ्यूरिक तथा फास्फोरिक अम्लों के लवण पोटैशियम ऑक्साइड इत्यादि होते हैं।

मूत्र की प्रतिदिन की मात्रा में लगभग 60 ग्रा० कार्बनिक तथा अकार्बनिक पदार्थ होते हैं। अधिकतम मात्रा में मूत्र में निष्कासित होने वाले पदार्थों में यूरिया (20 – 30 ग्रा०) तथा साधारण लवण (10 – 15 ग्रा०) होते हैं। प्रोटीन विघटन के उत्पादों मे विद्यमान नाइट्रोजन का 9/10 वाँ भाग जीव द्वारा मूत्र में निष्कासित हो जाता है। रुधिर में लवणों की मात्रा का स्तर गुर्दों द्वारा साधारण लवण एवं अन्य लवणों के निष्कासन से स्थायी बना रहता है।

ऊपरिलिखित पदार्थों के अतिरिक्त स्वस्थ मनुष्य के मूत्र में गैसें (कार्बन डाइआक्साइड आदि), एकल श्वेताणु तथा मूत्र मार्ग की विशल्कित उपकला कोशिकाएँ भी होती हैं।

मूत्र की मात्रा, संयोजकता तथा गुणों में काफ़ी विभिन्नता पायी जाती है और ये निम्न बातों पर निर्भर करते हैं: आस-पास के वातावरण का ताप व आर्दता, कार्य का स्वरूप, भोजन की मात्रा एवं संरचना, जल की मात्रा, इत्यादि। जब मनुष्य को अधिक स्वेद आता है, या वह सूखा अथवा जलशोषक भोजन खाता है, कम मात्रा में जल पीता है तो मूत्र की मात्रा भी कम हो जाती है। ठंडे या आर्द्र मौसम मे

---

*1 लीटर जल का भार 1000 ग्रा० होता है तथा 1 लीटर मूत्र का भार 1.015 – 1.020 ग्रा० होता है।

तथा तरल भोजन और जल अधिक मात्रा में पीये जाने पर मूत्र निष्कासन की मात्रा भी बढ़ जाती है। रात की अपेक्षा दिन में मूत्र अधिक मात्रा में निष्कासित होता है। मूत्र की मात्रा एवं उसके विशिष्ट घनत्व एक साथ ही परिवर्तित होते हैं। मूत्र निर्माण की मात्रा कम होने पर उसका विशिष्ट घनत्व प्रायः अधिक हो जाता है तथा विलोमतः मूत्र की मात्रा अधिक हो जाने पर उसका विशिष्ट घनत्व कम हो जाता है। मूत्र का विशिष्ट घनत्व 1.002 से 1.030 तक होता है। यह एक विशेष उपकरण द्वारा मापा जाता है जिसे यूरोमीटर कहते हैं।

मूत्र के रंग की तीव्रता भी विभिन्न हो सकती है। यह मूत्र में विद्यमान (पित्त वर्णकों से बने) विशेष वर्णकों (यूरोबिलिन, यूरोक्रॉम) की मात्रा पर निर्भर करता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि रोगों की स्थिति में (पीलिया, गुर्दों, मूत्र मार्ग आदि के रक्तस्राव आदि में) और इसके बाद विशेष औषधियों को लेने पर भी मूत्र का रंग परिवर्तित हो जाता है।

भोजन की संरचना मूत्र की प्रतिक्रिया पर प्रभाव डालती है। यदि काफ़ी समय तक शाकाहारी भोजन खाया जायं तो मांसाहारी भोजन की स्थिति के विपरीत मूत्र क्षीण अम्लीय न होकर क्षारीय होगा।

उपापचय में सभी परिवर्तन तथा गुर्दों की विभिन्न दूष्क्रियाएँ मूत्र की संरचना पर प्रभाव डालती हैं। नियमानुसार प्रत्येक रोगी के मूत्र का निरीक्षण किया जाता है। कुछ रोग मूत्र की संरचना में विशिष्ट परिवर्तन करते हैं। उदाहरणतया, स्वस्थ मनुष्य के मूत्र में कोई प्रोटीन, शर्करा अथवा रूधिर नहीं होता जबकि रोगियों के मूत्र में ("वैकृत" मूत्र में) ये पाये जा सकते हैं।

मूत्र में प्रोटीन की विद्यमानता को ऐल्बूमिनमेह कहते हैं। दीर्घकालीन ऐल्बूमिनमेह वृक्कीय रोगों का लक्षण है जिन में गुर्दों की रूधिर कोशिकाओं की पारगम्यता अधिक हो जाती है। अत्यधिक शारीरिक परिश्रम के फलस्वरूप मूत्र में प्रोटीन अस्थायी रूप में प्रकट हो सकते हैं। मूत्र में शर्करा की विद्यमानता को शर्करामेह कहते हैं। दीर्घकालीन शर्करामेह मधुमेह का लक्षण है। जब अग्न्याशय अपनी हार्मोन – इंसुलिन (दे. अंतः स्रावी ग्रन्थियाँ) – पैदा करना बन्द कर देता है तो यह रोग उत्पन्न होता है। अधिक मात्रा में कार्बोहाइड्रेट खाने के फलस्वरूप मूत्र में शर्करा अस्थायी रूप से प्रकट हो जाती है।

मूत्र में रूधिर की विद्यमानता को रूधिरमेह (haematuria) कहते हैं रूधिरमेह की मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है : केवल सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखे जा सकने वाले रक्ताणुओं की कुछ संख्या से लेकर नग्न आँख से दिखाई देने वाले रूधिर के अधिमिश्रण तक। रूधिरमेह वृक्कीय केशिकीय गुच्छ पर चोट या मूत्र मार्ग में रक्तस्राव का लक्षण है।

रोगी मूत्र में भी स्तंभों में इकट्ठे जुड़े हुये संचक (वृक्कीय उपकला की कोशिकाएँ), रोगाणु तथा बड़ी सँख्या में रक्ताणु हो सकते हैं।

कभी-कभी मूत्र में विद्यमान लवणों से मूत्र मार्ग में, प्रायः वृक्कीय श्रोणि में, वृक्कीय कैल्कुली (renal calculi) बन जाती है। वृक्कीय कैल्कुली गुर्दों के क्षेत्र में तीव्र दर्द पैदा कर देती है (renal coli)।

मूत्रवाहिनी

मूत्रवाहिनी लगभग 30 से० मी० लम्बी एक नलिका है (चित्र 86)। नाभिका वृक्क से निकल कर मूत्रवाहिनी पश्च उदरीय दीवार के साथ-साथ उतर कर वास्तविक श्रोणि के कोटर में आ जाती है जहाँ यह मूत्राशय की दीवार में छिद्र करके कोटर में प्रवेश कर जाती है। मूत्रवाहिनी की दीवार तीन स्तरों से बनी हुई होती है : श्लेष्मा, पेशी तथा संयोजी-ऊतक स्तर (adventitia)। श्लेष्मा स्तर पर रेखित उपकला होती है। पेशी स्तर पर गोलाकार और क्षैतिज चिकनी पेशी ऊतकों की परतें होती हैं। इसका पेशी स्तर संकुचित होता है तथा क्रमाकुचक प्रकार्य करता है।

मूत्राशय

मूत्राशय (vesica urinazia) मूत्र के लिये आशय का कार्य करता है (चित्र 88)। यह संलयन जघनास्थि के पीछे वास्तविक श्रोणि के कोटर में स्थित होता है। संलयन जघनास्थि तथा वास्तविक श्रोणि के बीच श्लथ कोशिकीय ऊतकों की परत होती है। पुरुषों में मलाशय मूत्राशय के पीछे स्थित होता है, स्त्रियों में यह गर्भाशय तथा योनि के कुछ भाग के पीछे स्थित होता है।

मूत्राशय के तीन भाग होते हैं : ऊपरी भाग अथवा शिखर ; मध्यवर्ती भाग अथवा पिंड ; निम्न भाग अथवा फंडस। मूत्राशय की दीवार तीन स्तरों से बनी हुई होती हैं ; श्लेष्मा, पेशी तथा संयोजी। ऊपर, पार्श्व के कुछ भाग पर तथा पीछे से मूत्राशय पर एक अतिरिक्त सीरमी झिल्ली होती है जिसे पयुदर्या कहते हैं। मूत्राशय की श्लेष्मा झिल्ली अनेक परतें बनाती हैं जो केवल फण्डस के क्षेत्र में नहीं पायी जाती, जहाँ दो मूत्रमार्गों के छिद्रों तथा आन्तरिक मूत्रीय छिद्र के बीच एक चिकना त्रिकोणीय क्षेत्र होता है—कोणस्पूलता या आशय त्रिकोण। मूत्राशय के भरे जाने के साथ-साथ श्लेष्मा स्तर की परतें खुलती जाती हैं।

श्लेष्मा स्तर चिकनी पेशी की तीन परतों से बना हुआ होता है जो विभिन्न दिशाओं में विस्तरित होती हैं।

एक वयस्क के मूत्राशय की क्षमता 350—500 मि० ली० तक होती है। जब मूत्राशय अत्यधिक भर जाता है तब इसके शिखर संलयन जघनास्थि की ऊपरी सीमा तक उठ कर अग्र उदरीय दीवार को संकुचित कर देते हैं।

मूत्र मार्ग की संरचना नीचे दी गई है (पृ० 202 तथा 209)।
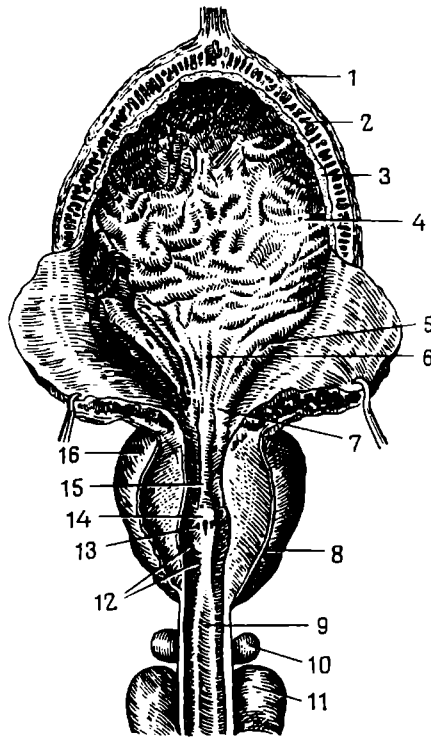
चित्र 88. आशय तथा पुरुष मूत्रमार्ग का भाग

1 – आशय का शिखर ; 2 – पेशी आवरण ; 3 – अधिश्लेष्मल आवरण ; 4 – श्लेष्मल आवरण ; 5 – मूत्रवाहिनी रंध्र ; 6 – आशय त्रिकोण ; 7 – आन्तरिक मूत्रमार्ग रंध्र ; 8 तथा 16 – प्रॉस्टेट ग्रन्थि ; 9 – मूत्रमार्ग का झिल्लीमय भाग ; 10 – बल्बो-मूत्रमार्ग ग्रन्थि ; 11 – मगुह पिंड शिश्न ; 12 – प्रॉस्टेट वाहिका का रंध्र ; 13 – स्खलनीय वाहिनी का रंध्र ; 14 – शुक्रीय वप्र ; 15 – मूत्रमार्ग का प्रॉस्टेट भाग।

मूत्रण

मूत्राशय का रिक्त होना (मूत्रण) तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित होता है तथा यह एक प्रतिवर्त क्रिया है। मूत्राशय के श्लेष्मा स्तर में संवेदी तंत्रिका सिरे – ग्राही – होते हैं। पेशी स्तर में प्रेरक तंत्रिकाएँ होती हैं। जब मूत्राशय भरता है तो मूत्र मूत्राशय की दीवारों पर दाब डालता है और ग्राहियों को उद्दीपित करता है। मूत्राशय का पेशी स्तर इस अनुक्रिया के फलस्वरूप संकुचित होता है और मूत्रीय अवरोधिनी श्लथ हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप मूत्र बाहर आ जाता है। उदरीय पेशियों का

संकुचन इस क्रिया में एक निश्चित रोल अदा करता है। मूत्रण प्रायः उस समय होता है जब आशय की दीवारों पर मूत्र का दाब एक निश्चित तीव्रता तक पहुँच जाता है। मूत्रण केन्द्र यानी मूत्रण प्रतिवर्त को नियंत्रण करने वाले केन्द्र, मध्यमस्तिष्क, मेडुला आब्लांगैटा, और पेरू रज्जु के द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ सेक्रमी खंडों में स्थित होते हैं। लेकिन मूत्रण का नियंत्रण प्रमस्तिष्क वल्कुट द्वारा भी होता है क्योंकि कि मनुष्य अपने मूत्रण पर इच्छानुसार नियंत्रण कर सकता है।

तंत्रिका तंत्र और मूत्रीय अंगों के कुछ रोगों का लक्षण मूत्रण में विकार उत्पन्न होना है (मूत्रीय असंयम, बारंबार मूत्रण होना, रात्रिकालीन असंयत-मूत्रता)।

जनन तंत्र

सामान्य सूचनाएं

सभी जैव जीव जनन करते हैं। मनुष्य में, सभी उच्च प्राणियों की भांति जनन प्रकार्य एक विशेष तंत्र द्वारा होता है — जनन तंत्र।

व्यावाहारिक रूप से जननांग दो भागों में विभाजित किये गये हैं: आन्तरिक तथा वाहरी जननांग।

पुरुष के आन्तरिक जननांग निम्न से बने हैं: दो शुक्रीय ग्रन्थियाँ या वृषण तथा उनके उपांग, प्रवाही तथा स्खलनीय वाहिनी, शुक्राशय, प्रॉस्टेट ग्रन्थि तथा कंदीय-मूत्रीय या काउपर-ग्रन्थि। वाहरी जननांगों में वृषणकोण तथा शिश्न होते हैं। (चित्र 89)।

स्त्री के आन्तरिक जननांगों में अंडाशय, गर्भाशय तथा योनि आते हैं। बाहरी जननांगों में वृहदभगोष्ठ, लघुभगोष्ठ तथा भगशेफ आते हैं।

पुरुष जननांग

आन्तरिक पुरुष जननांग

वृषण पुरुष की युगलीय जनन या शुक्रीय ग्रन्थियों में से एक है जो वृषणकोष में स्थित होती हैं। (चित्र 90)। शुक्राणुओं — पुरुष जनन-कोशिकाओं — की सँख्या बढ़ती रहती है तथा पुरुष यौन हार्मोन बृषण में बनती है (दे० अंतः स्रावी ग्रन्थियाँ)। वृषण एक अंडाकार पिंड है जो पार्श्व में थोड़ा-सा-चपटा होता है। इसके ऊपर एक सघन संयोजी-ऊतक झिल्ली होती है जो श्वेत कंचुक बृपण कहलाती है क्योंकि इसका रंग पके हुए अण्डे के श्वेत जैसा होता है। वृषण की पश्च सीमा पर यह झिल्ली मोटी
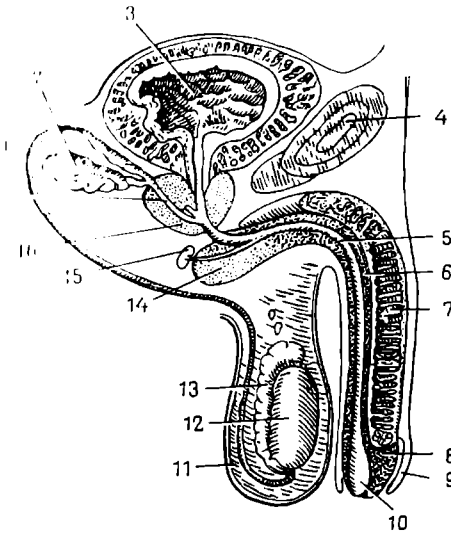
चित्र 89. पुरुष जननांग (आरेख)
1 डेफेरन्ट वाहिका ; 2 – शुक्राशय ; 3– आशय ...टर ; 4 – संधान जघमास्थि ; 5 – मूत्रमार्ग ; 6 – सगुह पिंड मूत्रमार्ग ; 7 – सगुह पिंड शिश्न ; 8 – शिश्न मुंड ; 9– शिश्नमंडछद ; 10– मूत्रमार्ग विस्फारण ; 11 – वृषणकोष ; 12–वृषण ; 13 – अधिवृषण ; 14 – सगुह मुंड मूत्रमार्ग का बल्ब ; 15–वल्ब्रो-मूत्रमार्ग (कॉउपर) ग्रन्थि ; 16 – प्रास्टेट ग्रन्थि ; 17 – स्खलनीय वाहिका।
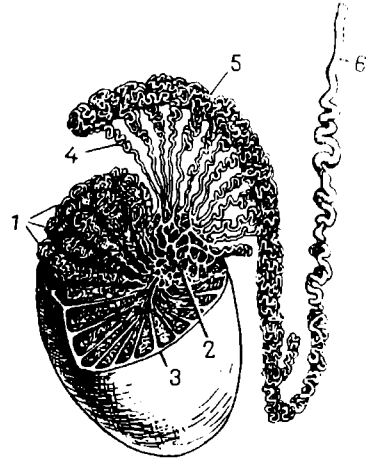
चित्र 90. वृषण। श्वेत कंचुक वृषण को थोड़ा खोल दिया गया है।
1 – वृषण पालिका ; 2 – रज्जु वृषण ; 3 – श्वेत कंचुक ; 4 – अपवाही वाहिनी ; 5 – अधिवृषण वाहिनी ; 6 – डेफेरेन्ट वाहिनी।

हो जाती है जिसे फुफ्फुस मध्यावकाश वृषण कहते हैं। संयोजी-ऊतक छिद्रित झिल्लिकाएँ वृषण को पालिकाओं में विभाजित करती हैं। पालिकाओं में महीन नलिकाएँ होती हैं, जो वृषण की संवलित नलिकाएँ होती हैं, जिनकी दीवारें सहायक तथा शुक्रजनक कोशिकाओं से बनी हुई होती हैं। शुक्रजनक कोशिकाएँ जटिल रूपांतरण की शृंखला द्वारा शुक्राणुओं में परिवर्तित हो जाती हैं। इस क्रिया को शुक्रजनन कहते हैं। शुक्राणु एक तरल स्राव में पाये जाते हैं जिसके साथ मिलकर ये शुक्रीय तरल* बनाते हैं। शुक्राणु शुक्रजनक नलिकाओं से निकल कर फुफ्फुस मध्यावकाश वृषण में आ जाता है

* यौन-सम्बन्ध में मूत्रमार्ग में से विसर्जित किये गये शुक्रीय तरल में प्रॉस्टेट का स्राव तथा शुक्राशय का स्राव होते हैं।

ग्रौर फिर 10 से 12 तक ग्रपवाही वाहिनियों में से गुज़रकर ग्रधिवृषण वाहिनी में ग्रा जाता है। गर्भ का वृषण उदरीय कोटर में स्थित होता है तथा वंक्षण नाल में से गुज़र कर वृषणकोष में ग्रा जाता है। जन्म के समय दोनों ही वृषण ग्रक्सर वृषणकोष में होते हैं।

ग्रधिवृषण (चित्र 90) एक छोटा-सा पिंड होता है जो शुक्रीय ग्रन्थि की पश्च सीमा के पास स्थित होता है। इसमें एक वाहिनी होती है जो प्रवाही वाहिनी को ज़ारी रखती हैं।

प्रवाही वाहिनी (चित्र 89) एक नलिका-सी होती है जिसकी लम्बाई 40 से 50 से.मी. तक होती है। इसका कार्य शुक्रीय तरल को गुज़ारना है। इसकी दीवार तीन स्तरों से बनी हुई होती है: श्लेष्मा, पेशी तथा संयोजी ऊतक। यह ग्राधिवृषण के निम्न सिरे से निकल कर ग्रवत्वक छल्ले में से गुजरते हुये वक्षण नाल में प्रवेश करती है। प्रवाही वाहिनी वंक्षण नाल में शुक्राणु रज्जु में प्रवेश कर जाती है।

शुक्राणु रज्जु छोटी ग्रंगुलि के समान मोटी होती है तथा इसमें प्रवाही वाहिनी के ग्रतिरिक्त वृषण तथा ग्रधिवृषण की तंत्रिकाएँ रूधिर तथा लसीका वाहिकाएँ होती हैं। इनके चारों ग्रोर एक सामान्य संपट्ट झिल्ली होती है। वक्षण नाल के गहरे छल्ले पर प्रवाही वाहिनी वाहिकाग्रों तथा तंत्रिकाग्रों से पृथक हो जाती है ग्रौर वास्तविक श्रोणि के कोटर में मूत्राशय के फण्डस की ग्रोर उतर जाती है, जबकि रूधिर तथा लसीका वाहिकाएँ ग्रौर तंत्रिकाएँ उदरीय कोटर की ग्रोर ऊपर चढ़ती हैं। प्रॉस्टेट के समीप प्रवाही वाहिनी शुक्रीय वाहिका की उत्सर्जी वाहिका के साथ जुड़ कर स्खलनीय वाहिनी बनाती है।

शुक्रीय वाहिनी. शुक्रीय वाहिका (चित्र 89) 4 से 5 से० मी० लम्बा युगलीय ग्रंग है। यह मूत्राशय के फण्डस ग्रौर मलाशय के बीच स्थित होता है। शुक्रीय वाहिकाएँ शुक्रीय तरल के ग्राशय का कार्य करती हैं। ये एक स्राव भी उत्पन्न करती हैं जो इस तरल का घटक है।

स्खलनीय वाहिनी. जैसा ऊपर बताया गया है स्खलनीय वाहिनी प्रवाही वाहिनी तथा शुक्रीय वाहिका के जुडने से बनती है। यह प्रॉस्टेट के पदार्थ में से गुजर कर मूत्र मार्ग के प्रॉस्टेट भाग में ग्रा जाती है। प्रत्येक स्खलन में लगभग 200 000 000 शुक्राणु निकलते हैं।

प्रॉस्टेट. यह मूत्राशय के फण्डस के नीचे वास्तविक श्रोणि के कोटर में स्थित होता है (चित्र 89) तथा इसका एक ग्राधार ग्रौर शिखर होता है। ग्रन्थि का ग्राधार ऊपर की ग्रोर होता है तथा मूत्राशय के फण्डस के साथ जुड़ा हुग्रा होता है। इसका शिखर नीचे की ग्रोर होता है तथा मूत्रजनन डायाफ्राम के साथ चिपका रहता है। ग्रन्थि पेशी (चित्रनी) तथा ग्रन्थि ऊतकों से बनी हुई होती है। ग्रन्थि ऊतक पालि बनाता है जिसकी वाहिकाएँ मूत्र मार्ग के प्रॉस्टेट भाग में ग्राती हैं। इस ग्रन्थि का

स्राव शुक्रीय तरल का घटक है। संकुचित हो कर ग्रन्थि का पेशी ऊतक वाहिका को रिक्त होने में मदद करता है और इसके साथ ही मूत्रीय अवरोधिनी का कार्य करता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है प्रॉस्टेट में से मूत्र मार्ग तथा दो स्खलनीय वाहिकाएँ गुज़रती हैं। अधिक आयु में संयोजी ऊतकों के बढ़ने से यह ग्रन्थि बड़ी भी हो जाती है तथा यह मूत्राशय के रिक्त होने की क्रिया में रूकावट भी पैदा कर देती है। प्रॉस्टेट तथा शुक्रीय वाहिकाएँ मलाशय में से परिस्पर्श की जा सकती हैं।

काउपर ग्रन्थि (दे० चित्र 89) एक युगलीय अंग है जो मूत्रजनन डायाफ्राम में स्थित होता है। प्रत्येक ग्रन्थि मूत्र मार्ग का पेनाइल (penile) भाग होता है।

बाहरी पुरुष जननांग

वृषणकोष एक त्वचीय थैली होती है जिसमें वृषण तथा अधिवृषण होते हैं (चित्र 89)।

वृषणाकोष की त्वचा के नीचे तथाकथित प्रासक होता है जो संयोजी ऊतक एवं चिकनी पेशी रेशों की बड़ी संख्या से बना होता है। प्रासक के नीचे एक संपट्ट होता है जो वृषणोत्कर्ष पेशी को ढके हुये रहता है। यह पेशी रेखित पेशी ऊतक से बनी हुई होती है और संकुचित होने पर वृषण को ऊपर उठा देती है। पेशी के नीचे सामान्य वृषण कंचुक तथा स्वक वृषण कंचुक होते हैं। इनमें से प्रथम अंतः-उदरीय संपट्ट का प्रवर्ध है तथा वृषण और शुक्रीय रज्जु को ढके हुये रहता है। दूसरा एक सीरमी झिल्ली है। विकास की क्रिया में पर्युदर्या वृषणकोष (योनि प्रवर्ध) में एक प्रक्षेप बनाता है जो स्वक वृषण कंचुक को ऊपर उठाता है। यह दो स्तरों से बना होता है जिनके बीच एक रेखा-छिद्र जैसा कोटर होता है और इसमें थोड़ा-सा सीरमी द्रव होता है। एक स्तर वर्षण को ढके रहता है तथा दूसरा सामान्य वृषण कंचुक को ढके रहता है।

शिश्न. इसका एक मुडं, एक पिंड तथा एक मूल (दे० चित्र 89) होता है। मुंड मोटा दूरस्थ सिरा होता है। मूत्र मार्ग का द्वार मुंड के अग्रभाग पर होता है। मुंड तथा पिंड के बीच एक संकीर्ण भाग होता है जिसे ग्रीवा कहते हैं। मूल जघनास्थि के साथ जुड़ा रहता है।

शिश्न तीन तथाकथित कंदरामय पिंडों से बना होता है। इनमें से दो शिश्न सगुह पिंड होते हैं तथा एक मूत्रमार्ग सगुह पिंड होता है (यह मूत्र को निष्कासित करता है)। मूत्रमार्ग सगुह पिंड का दूरस्थ सिरा मोटा होता है तथा शिश्न मुडं बनाता है। प्रत्येक सगुह पिंड सघन संयोजी परत द्वारा ढ़का रहता है और इसकी स्पंजी संरचना होती है। अनेक संयोजी ऊतक झिल्लिकाएँ गुह नामक कोटर बनाती हैं। यौन उत्तेजन के समय ये गुह रूधिर से भर जाते हैं तथा शिश्न फूल जाता है और ऊर्ध्व हो जाता है। शिश्न के ऊपर एक त्वचा होती है जो एक परत बनाती है—शिश्नमुंडछद।

पुरुष का मूत्रमार्ग न केवल मूत्राशय से मूत्र को उत्सर्जित करता है बल्कि शुक्रीय तरल का स्खलन भी करता है। यह 16 से 18 से० मी० लम्बा होता है तथा प्रॉस्टेट मूत्रजनन डायाफ्राम और शिश्न सगुह पिंड में से गुज़रता है। इसीलिये यह तीन भागों में वर्णित किया गया है: प्रॉस्टेट, झिल्लीदार तथा स्पंजी (चित्र 89)।

प्रॉस्टेट भाग सबसे चौड़ा होता है। इसकी लम्बाई लगभग 3 से० मी० होती है। इसकी पश्च दीवार पर शुक्रीय वप्र होता है। इसके ऊपर दो स्खलनीय वाहिकाएँ खुलती है। शुक्रीय तरल शुक्रीय ग्रन्थियों से निकल कर तथा शुक्रीय तरल का घटक प्रॉस्टेट वाहिनी की वाहिका में से गुज़र कर इनमें से गुज़रता है।

झिल्लीदार भाग सबसे संकीर्ण तथा छोटा होता है (लगभग 1 सें० मी०)। यह मूत्रजनन डायाफ्राम के साथ अच्छी प्रकार जुड़ा रहता है।

स्पंजी भाग सबसे लम्बा होता है (12 से 14 सें० मी०)। यह शिश्न मुंड में मूत्रमार्ग के बाहरी द्वार पर समाप्त होता है। स्पंजी भाग का पश्च भाग मुड़ा हुआ होता है तथा मूत्रवाहिनी का बल्वस-भाग कहलाता है। काउपर ग्रन्थि की वाहिकाएँ इसी भाग में खुलती है। इन ग्रन्थियों का स्राव शुक्रीय तरल का घटक होता है। मूत्र मूत्रमार्ग के बाहरी द्वार के एकदम पीछे स्थित स्पंजी भाग का दूरस्थ भाग भी मुड़ा हुआ होता है तथा नौकाभिकार खात कहलाता है। स्पंजी भाग की श्लेष्मा परत पर रिक्तिका नामक छोटे-छोटे अवनमन होते हैं।

पुरुष मूत्रवाहिनी में दो अवरोधिनियाँ होती हैं: आन्तरिक तथा बाहरी। आन्तरिक अवरोधिनी स्वेच्छापूर्वक संकुचित हो जाती है। (दे० चित्र 78)। आन्तरिक अवरोधिनी (स्थिर) स्थायी होती है तथा बाहरी अवरोधिनी शिशन के ऊर्ध्व होने के साथ-साथ सीधी हो जाती है। पुरुष की मूत्रवाहिनी की संरचना तथा स्थिति (विस्तरित, सं संकुचित होना, मुड़ना आदि) मूत्राशय की चिकित्सा करने के समय काफी महत्व रखती हैं।

स्त्री जननांग

आंतरिक स्त्री जननांग

अंडाशय (चित्र 91) यह एक युगलीय अंग है। यह यौन प्रॉस्टेट है जिसनें स्त्री की यौन कोशिकाएँ विकसित होती है तथा पक्वता प्राप्त करती है और स्त्री की यौन हार्मोन बनती है। अंडाशय अवास्तविक श्रोणि के कोटर में गर्भाश्य के पार्श्व में होती हैं। प्रत्येक अण्डाशय अण्डाकार व थोड़ा-सा चपया पिंड होता है व इसका भार 5-6 ग्रा० होता है। अंडाशय की अग्र व पश्च सीमाएँ तथा ऊपरी व निम्न सिरे होते हैं। अग्र सीमा गर्भाशय के विस्तृत स्नायु के साथ जुड़ी होती
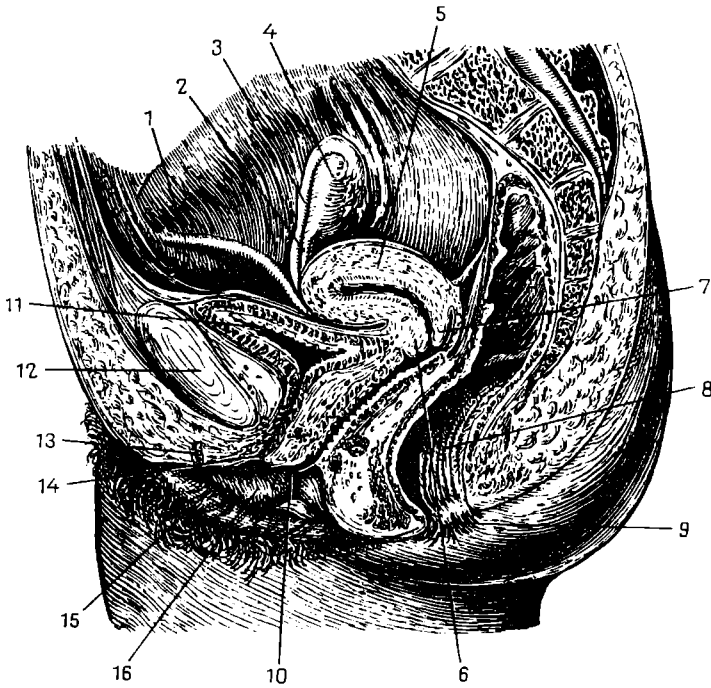
चित्र 91. स्त्री श्रोणि प्रदेश

1 – गर्भाशय का गोलाकार स्नायु ; 2 – अंडाशय का विशेष स्नायु ; 3 – गर्भाशयी नलिका ; 4 – अंडाशय ; 5 – गर्भाशय ; 6 – गर्भाशय ग्रीवा का अग्र ओष्ठ ; 7 – गर्भाशय ग्रीवा का पश्च ओष्ठ ; 8 – मलाशय ; 9 – गुदा ; 10 – योनि रंध्र ; 11 – मूत्राशय ; 12 – संधान उघनास्थि ; 13 – भगशेफ ; 14 – बाह्य मूत्रमार्ग रंध्र ; 15 – महाअधरोष्ठ ; 16 – लघु अधरोष्ठ ।

है, जबकि पश्च सीमा स्वतंत्र होती है। ऊपरी सिरा गर्भाशयी नलिका की ओर होता है ; निम्न सिरा अण्डाशय के निश्चित स्नायु की मदद से गर्भाशय के साथ जुड़ा होता है। अण्डाशय के ऊपर संयोजी ऊतक तथा उपकला से बनी एक झिल्ली होती है।

अण्डाशय का एक भाग तंत्रिका तथा वल्कुट पिंडों को दिखाता है। तंत्रिका पिंड अबद्ध संयोजी ऊतक से बना हुआ होता है जो रुधिर वाहिकाओं तथा तंत्रिकाओं के लिये स्थान बनाता है। वल्कुट पिंड की संरचना भी अबद्ध संयोजी ऊतक से बनती है। वल्कुट परत में अनेक पुटक स्थित होते हैं जो अण्डाशय का मृदूतक बनाते हैं। प्रत्येक पुटक (चित्र 92) थैली-जैसी आकृति का होता है तथा उसमें एक स्त्री जनन-कोशिका होती है। थैली की दीवारें उपकला कोशिकाओं से बनी होती हैं। यौन दृष्टि-

चित्र 92. अंडाशय में ग्रैफियन पुटक।
1 – अंडाशय का पदार्थ; 2 – गैफियन पुटक की झिल्लियां; 3 – ग्रैफियन पुटक-कोशिका; 4 – द्रवसे परिपूर्ण ग्रैफियन पुटक का कोटर; 5 – अण्डाणु; 6 – अंडाणु का केन्द्रक।
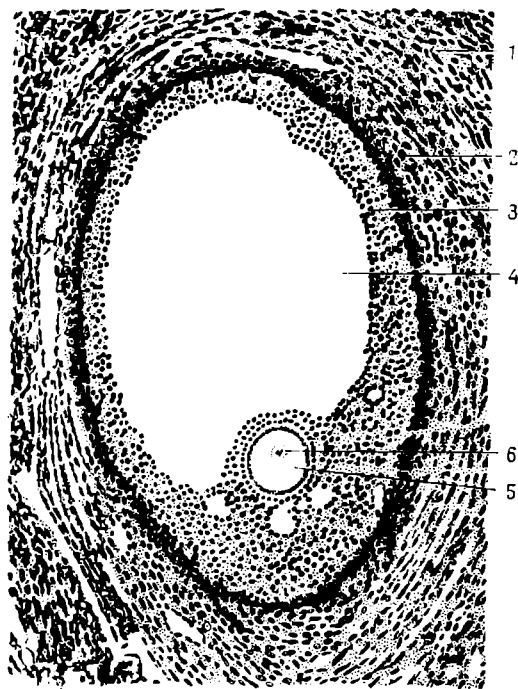
कोण से परिपक्व स्त्री में सभी पुटक विकास के विभिन्न स्तरों एवं विभिन्न आकार के होते हैं। नवजात शिशु-बालिका के अण्डाशय में 40000 से 200 000 तक तथाकथित प्रारंभिक अपरिपक्व पुटक होते हैं। पुटकों की परिपक्वता यौन परिपक्वता के साथ आरम्भ होती है (12-16 वर्ष की आयु में)। यद्यपि, स्त्री के जीवन-काल में 500 से अधिक पुटक परिपक्व नहीं होते। शेष पुटक नष्ट हो जाते हैं। पुटक के परिपक्व होने के साथ-साथ इसकी दीवारें बनाने वाली कोशिकाएँ प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होने लगती हैं, पुटक का आकार बढ़ने लगता है; इसके अन्दर द्रव से परिपूर्ण कोटर बन जाता है। परिपक्व पुटक, जिसका व्यास 2 मि० मी० होता है, ग्राफी पुटक कहलाता है। एक पुटक को परिपक्व होने में 28 दिन अथवा एक चन्द्र मास लगता है। पुटक के परिपक्व होने के साथ-साथ उसमें विद्यमान अण्डाणु विकसित होने लगता

.:; उस पर अनेक जटिल क्रियाएँ होती हैं। अण्डाशय में स्त्री जनन कोशिका का विकास अण्डजनन कहलाता है।

परिपक्व पुटक की दीवार महीन होकर फट जाती है। पुटक में विद्यमान अण्डाणु द्रव के प्रवाह के साथ पर्युदर्यी कोटर में आ जाता है, तथा गर्भाशयी नलिका में प्रवेश करता है।

अण्डाशय के पुटक में स्त्री जनन-कोशिका का परिपक्व होना व ग्राफी पुटक से बाहर निकलना अण्डोत्सर्ग कहलाता है। ग्राफी पुटक के फटने के स्थान पर एक पीत पिंड बन जाता है। यदि सगर्भता हो जाती है तो यह पीत पिंड सगर्भता के पूर्ण काल में बना रहता है तथा अंतः स्रावी ग्रन्थि का प्रकार्य पूर्ण करता है (दे० अध्याय 12 अंतः स्रावी ग्रन्थियाँ)। यदि निषचन नहीं होता है तो पीत पिंड क्षीण हो जाता है तथा एक चिन्ह छोड़ देता है। अंडोत्सर्ग तथा रजोधर्म में गहरा सम्बन्ध है। रजोधर्म गर्भाशय में से समय-समय से विसर्जित होने वाला रक्तिम तरल होता है (दे० "गर्भाशय")। सगर्भता के समय अण्डोत्सर्ग तथा रजोधर्म दोनों ही बंद हो जाते हैं।

अण्डोत्सर्ग तथा रजोधर्म 12-16 वर्ष से 45-50 वर्ष की आयु तक होते हैं, जिसके बाद स्त्रियों में तथाकथित रजोनिवृति की अवस्था आरम्भ हो जाती है। इस समय से अण्डोत्सर्ग प्रक्रिया तथा रजोधर्म बंद हो जाते हैं।

गर्भाशयी नलिकाएं एक युग्मी अंग हैं। ये गर्भाशय के पार्श्व में उसके चौड़े स्नायु के ऊपरी भाग में स्थित होते हैं, और अण्डाणु को अण्डाशय से गर्भाशय तक पहुँचाते हैं। अण्डाशयी नलिका की दीवार श्लेष्मा परत, पेशी स्तर और सीरमी आवरण से बनी हुई होती है। श्लेष्मा परत के अंदर पक्ष्माभी उपकला चिपकी रहती है। पेशी स्तर चिकने पेशी ऊतकों से बना हुआ होता है। पर्युदर्या एक सीरमी आवरण है। गर्भाशयी नलिका में दो छिद्र होते हैं: इनमें से एक छिद्र गर्भाशयी कोटर, और दूसरा छिद्र अण्डाशय के समीप पर्युदर्या कोटर में खुलता है। अण्डाशय के साथ सम्बंधित गर्भाशयी नलिका का सिरा एक कीप की भांति मुड़ा हुआ होता है तथा गर्भाशयी नलिका का अन्तिम छोर तथाकथित झालर के रूप में होता है। अण्डाशय से बाहर निकलकर अण्डाणु इन झालरों में से गुजरते हुये गर्भाशय में आता है। गर्भाशयी नलिका में अण्डाणु तथा शुक्राणु के मिलन के परिणामस्वरूप निषेचन होता है। निषे-चित अण्डाणु विभाजित होना आरम्भ होता है तथा एक भ्रूण विकसित होता है। विक-सित हो रहा यह भ्रूण अण्डाशयी नलिका में से गुज़रते हुये गर्भाशय में आ जाता है। पक्ष्माभी उपकला के पक्ष्माभों के कम्पन तथा गर्भाशयी नलिका की दीवारों के संकुचन ही भ्रूण को गतिमय करते हैं।

गर्भाशय (ग्रीक में – metra) गर्भावधि का पेशी अंग है (दे० चित्र 93)। यह वास्तविक श्रोणि के कोटर में मूत्राशय के पीछे और मलाशय के आगे स्थित होता है। इसकी आकृति नाशपाती की भांति होती है। इसके ऊपर के तथा चौड़े भाग को
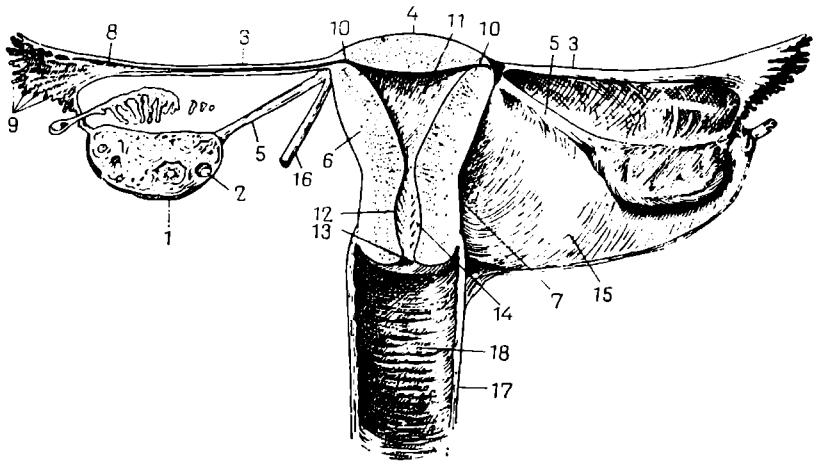
चित्र 93. स्त्री के आन्तरिक जननांग (पश्च पक्ष)। गर्भाशय, योनि, वाम अंडाशय तथा नलिका (काट)।

1 – अंडाशय ; 2 – ग्रैफियन पुटक ; 3 – गर्भाशय नलिका ; 4 – गर्भाशय फन्डस ; 5 – अंडाशय का विशेष स्नायु ; 6 – अर्भाशय पिंड ; 7 – गर्भाशयी ग्रीवा ; 8 – पर्युदर्या गुहा में खुलने वाली गर्भाशयी नलिका का रंध्र ; 9 – झालर ; 10 – गर्भाशयी कोटर में खुलने वाली गर्भाशयी नलिका का रंध्र ; 11 – गर्भाशय कोटर ; 12 – ग्रीवा नलिका ; 13 – वाह्य गर्भाशयास्थि ; 14 – ग्रीवा नलिका में श्लेष्मल मोड़ ; 15 – गर्भाशय का विस्तृत स्नायु ; 16 – गर्भाशय का गोलाकार स्नायु ; 17 – योनि ; 18 – योनि श्लेष्मल के मोड़।

फण्डस कहते हैं, मध्यवर्ती भाग को पिंड और निचले भाग को ग्रीवा कहते हैं। पिंड तथा ग्रीवा के बीच संकुचित भाग को इस्थमस कहते हैं। ग्रीवा योनि के साथ सम्बंधित होती है। पिंड ग्रीवा के ऊपर आगे की ओर झुका रहता है इस मोड़ को पूर्व आकोंचन कहते हैं। पिंड के अन्दर एक रेखा-छिद्र जैसा कोटर होता है जो ग्रैव नलिका के साथ सम्बंधित रहता है। इस संधि को प्रायः uteri interuum कहते हैं। ग्रैव नलिका uteri externum नामक द्वार में से योनि में खुलती है। uteri exterunm के दोनों ओर मोटा भाग होता है जिसे गर्भाशय ग्रीवा के अग्र एवं पश्च ओष्ठ कहते हैं। दोनों गर्भाशयी नलिकाओं के छिद्र गर्भाशय के कोटर में खुलते हैं।

गर्भाशय की दीवार तीन परतों से बनी हुई होती हैं: आन्तरिक, मध्यवर्ती तथा वाहरी परतें।

आन्तरिक परत को गर्भाशय का अंतः स्तर कहते हैं। यह एक श्लेष्मा झिल्ली है जिस पर स्तम्भाकार उपकला चढ़ी हुई होती हैं। गर्भाशय कोटर में इसका तल चिकना होता है तथा ग्रैव नलिका में छोटे-छोटे मोड़ होते हैं। गर्भाशय कोटर में स्राव करने

वाली ग्रन्थियाँ श्लेष्मा झिल्ली पर स्थित होती है। यौन परिपक्वता के समय गर्भाशय की श्लेष्मा झिल्ली में क्रमानुगत परिवर्तन होते रहते हैं जिनका ग्रण्डाशयों में हो रही क्रियाग्रों के साथ गहरा सम्बन्ध होता है (ग्रण्डोत्सर्ग तथा पीत पिंड का बनना)। जब गर्भाशयी नलिका में से गर्भाशय में भ्रूण प्रवेश करता है, तब श्लेष्मा झिल्ली विस्तरित हो कर फूल जाती है। भ्रूण स्वयं को इस ढीली श्लेष्मा झिल्ली में स्थित कर देता है। तथापि, यदि ग्रण्डाणु निषेचित नहीं है तो श्लेष्मा झिल्ली का ग्रधिकांश भाग कट कर बाहर ग्रा जाता है। रुधिर वाहिकाएँ टूट जाती हैं ग्रौर गर्भाशयी रक्त-स्राव, रजोधर्म, स्थान लेता है। रजोधर्म की ग्रवधि 3-5 दिन तक होती है जिसके पश्चात गर्भाशय की श्लेष्मा झिल्ली पुनः बन जाती है ग्रौर परिवर्तनों की पूर्ण शृंखला पुनः घटती है। ऐसे परिवर्तन 28 दिन के बाद घटते हैं।

मध्यवर्ती परत सबसे दृढ़ होती है ग्रौर यह चिकने पेशी ऊतकों से बनी हुई होती है। इसे मायोमेट्रियम कहते हैं। इसके पेशीरेशे विभिन्न दिशाग्रों में जाते हैं। प्रसव के समय गर्भाशय की पेशी-परत कें संकुचित होने से गर्भ गर्भाशय से निकल कर योनि में ग्रा जाता है, ग्रौर फिर उसके बाहर निकल जाता है।

बाहरी परत को पेरिमेट्रियम कहते हैं। यह एक सीरमी ग्रावरण है जो पयुदर्या पर चढ़ा हुग्रा होता है। पयुदर्या ग्रीवा को योनि के साथ जोड़ने वाले भाग के ग्रतिरिक्त सम्पूर्ण गर्भाशय को ढके हुए रहता है। यह गर्भाशय से ग्रन्य ग्रंगों ग्रौर वास्तविक श्रोणि की दीवारों तक जाता है ग्रौर वास्तविक श्रोणि के कोटर में दो पर्युदर्या द्वारा ग्रावरित कोष्ठ बनाता है। स्फोटगर्ती-गर्भाशयी कोष्ठ गर्भाशय के ग्रागे स्थित होता है तथा मलाशयी-गर्भाशयी कोष्ठ गर्भाशय के पीछे स्थित होता है। पीछे वाला कोष्ठ ग्रागे वाले कोष्ठ से ग्राकार में बड़ा होता है।

गर्भाशय के चारों ग्रोर, गर्भाशय के चौड़े स्नायु की परतों के बीच वसामय ऊतक इकट्ठा हो जाता है जिसे पारामेट्रियम कहते हैं।

गर्भाशय एक गतिशील ग्रंग है। जब मूत्राशय भर जाता है तो गर्भाशय पीछे की ग्रोर गिर जाता है ग्रौर जब मलाशय भर जाता है तो यह ग्रागे की ग्रोर ग्रा जाता है। तथापि, गर्भाशय की गतिशीलता गर्भाशयी स्नायुग्रों द्वारा सीमित होती है जो इसे उसके स्थान पर रखे रहने में मदद करते हैं।

गर्भाशय के स्नायु. ये चौड़े, गोल तथा गर्भाशयी-सेक्रमी स्नायु होते हैं। गर्भाशय के सभी स्नायु युगमी होते हैं। चौड़े स्नायु पर्युदर्या के दो स्तरों के मोड़ हैं जो गर्भाशय से वास्तविक श्रोणि की पार्श्व दीवारों तक विस्तरित होते हैं। चौड़े स्नायु के ऊपरि भागों में गर्भाशयी नलिकाएँ होती हैं। गोल स्नायुग्रों की ग्राकृति रस्सी की भांति होती है। ये संयोजी ऊतको तथा चिकने पेशी ऊतकों से बने हुये होते हैं। ये गर्भाशय से वंक्षण नाल के सबसे ग्रान्तरिक छल्ले तक विस्तरित होते हैं, तथा नाल में से गुजर कर बृहदभगोष्ठ तक पहुँचते हैं। गर्भाशयी-सेक्रमी स्नायु संयोजी-ऊतक रेशों के गुच्छ

होते हैं और गर्भाशय से मलाशय तक विस्तरित होते हैं तथा इसके बाद सेक्रम तक पहुँचते हैं। श्रोणि आधार की पेशियाँ (दे० "बीजाणुपरिभित्ति") गर्भाशय तथा वास्तविक श्रोणि के अन्य अंगों के प्रबलन में महत्वपूर्ण रोल अदा करते हैं।

गर्भाशय की स्थिति, आकार तथा संरचना सगर्भता के समय परिवर्तित होते हैं। गर्भ के विकास के साथ-साथ अण्डपूर्ण गर्भाशय बढ़ता जाता है, इसकी दीवारें कुछ-कुछ क्षीण हो जाती हैं। सगर्भता की अन्तिम अवस्था में गर्भाशयी फण्डस उरोस्थि प्रवर्ध तथा नाभि के बीच के स्तर तक पहुँच जाता है। गर्भाशय की श्लेष्मा झिल्ली गर्भ झिल्लियों तथा अपरा के विकास के फलस्वरूप काफ़ी परिवर्तित होती है (दे० "मानवीय गर्भ के विकास की रूप-रेखा")। गर्भाशय का पेशी आवरण पेशी रेशों की लम्बाई तथा घेर के विकास के कारणवश बढ़ जाता है। इसके परिणामस्वरूप गर्भाशय का भार 20 गुना अधिक हो जाता है। गर्भावधि काल लगभग 280 दिन (10 चन्द्रमा मास) तक होता है। प्रसव के पश्चात गर्भाशय शीघ्रता से अपना आकार कम कर देता है और अपनी पूर्व अवस्था प्राप्त कर लेता है। स्त्री के गर्भाशय का भार जिसने कभी किसी बच्चे को जन्म नहीं दिया हो, 50 ग्रा० होता है। संतान को जन्म देने के बाद स्त्री के गर्भाशय का भार 100 ग्रा० हो जाता है। चिकित्सक गर्भाशय का हाथ से तथा ग्रीवा की दृष्टि से निरीक्षण करते हैं। दृष्टि निरीक्षण योनि में से किया जाता है और हाथ से निरीक्षण योनि अथवा मलाशय में से किया जाता है।

योनि लगभग 8 से 10 सें० मी० लम्बी नलिका है (दे० चित्र 91)। मैथुन में शुक्राणु वाला शुक्रीय तरल शिश्न द्वारा योनि में विसर्जित कर दिया जाता है। शुक्राणु गतिशील होते हैं तथा ये योनि से गर्भाशयी कोटर में तैर कर चले जाते हैं जहाँ से ये गर्भाशयी नलिकाओं में प्रवेश कर जाते हैं। प्रसव के समय गर्भ गर्भाशय से शरीर के बाहर योनि में से ही गुज़र कर जाता है। योनि की दीवारें तीन परतो से बनी होती हैं—एक श्लेष्मा, एक पेशी तथा एक संयोजी ऊतक। श्लेष्मा परत योनि की अग्र और पश्च दीवारों पर मोड़ बनाती है। योनि का ऊपरी भाग गर्भाशयी ग्रीवा के साथ जुड़ कर कक्ष बनाता है, जिन्हें योनि चापिकाएँ कहते हैं, और ये कक्ष योनि की दीवारों और ग्रीवा के बीच स्थित होते हैं। योनि की दो चापिकाएँ होती हैं: अग्र एवं पश्च। योनि का निचला भाग योनि के प्रघाण में खुलता है। योनि के सामने मूत्रशय तथा मूत्रमार्ग का फण्डस होता है, और योनि के पीछे मलाशय स्थित होता है। योनि और पयुदर्या कोटर का सम्बन्ध गर्भाशय तथा गर्भाशयी नलिकाओं के द्वारा है।

बाहरी स्त्री जननेंद्रियां

बृहदभगोष्ठ त्वचा के दो मोड़ हैं जिनमें वसामय ऊतक काफी सँख्या में होते हैं। ये rima pudendi नामक अवकाश को बाँधते हैं। बृहदभगोष्ठ के अग्र तथा

पश्च सिरे त्वचा के छोटे मोड़ों द्वारा जुड़े होते हैं जिन्हें पश्च और अग्र संधायी कहते हैं। बृहद्भगोष्ठ के ऊपर संधान जघनास्थि के ऊपर mons veneris होता है। इस स्थान पर त्वचा के ऊपर काफी बाल होते हैं तथा वसामय ऊतक भी काफी अधिक संख्या में होते हैं।

लघुभगोष्ठ भी त्वचा के दो मोड़ हैं। लघुभगोष्ठ के बीच एक संकीर्ण छिद्र होता है जो योनि का प्रघाण कहलाता है। मूत्रमार्ग का बाहरी छिद्र तथा योनि का प्रवेश द्वार योनि के प्रघाण में खुलते हैं। कन्याओं में योनि का प्रवेश श्लेष्मा झिल्लियों के गुच्छ द्वारा बंद होता है जिसे योनिच्छद कहते हैं। पहले मैथुन में योनिच्छद का विभेदन हो जाता है और रूधिर वाहिकाओं को चोट लगने के कारणवश थोड़ा-सा रक्त बहता है। लघुभगोष्ठ के आधार में दो बड़ी प्रघाण ग्रन्थियाँ (बार्थोलिन ग्रन्थियाँ) स्थित होती हैं। इन ग्रन्थियों की वाहिनियाँ योनि प्रघाण में लघुभगोष्ठ के तल पर खुलती हैं।

भगशेफ योनि प्रघाण में मूत्रमार्ग के बाहरी छिद्र के आगे स्थित होता है। यह एक छोटा अंगुलि जैसा भाग होता है तथा दो गुहामय पिंडों से बना होता है जिनकी संरचना शिश्न जैसी होती है। भगशेफ में संवेदी तंत्रिका सिरे काफ़ी सँख्या में होते हैं जिनके उद्दीपित होने पर यौन उत्तेजना उत्पन्न होती है।

स्त्री मूत्रमार्ग

स्त्री मूत्रमार्ग लगभग सरल रेखीय होता है (दे० चित्र 91)। यह 3 से 3.5 स. मी. लम्बा, पुरूष मूत्रमार्ग से चौड़ा होता है तथा आसानी से फैल सकता है। इसमें श्लेष्मा झिल्लियाँ लगी रहती हैं जिनमें श्लेष्मा-स्राव ग्रन्थियाँ स्थित होती हैं। इसका उद्गम मूत्राशय (बाहरी छिद्र) के फण्डस में होता है, और यह योनि के आगे मूत्रजनन डायाफ्राम में से गुज़र कर योनि प्रघाण (बाहरी छिद्र) में खुलती है। पुरूष मूत्रमार्ग की भांति स्त्री मूत्रमार्ग में दो अवरोधिनियाँ—एक आन्तरिक तथा दूसरी बाहरी—होती हैं।

बीजाणुपरिभित्ति

बीजाणुपरिभित्ति शरीर का वह भाग है जो वास्तविक श्रोणि के निर्गम में होता है और श्रोणि आर्क तथा अनुत्रिक के बीच स्थित होता है। बाहरी जननेंद्रियाँ तथा गुदा इसी क्षेत्र में स्थित होते हैं। बीजाणुपरिभित्ति की त्वचा के नीचे वसामय ऊतक होते हैं और इनके नीचे श्रोणि आधार बनाने वाली पेशियाँ तथा संपट्ट होते हैं। श्रोणि आधार के दो भाग होते हैं: श्रोणि डायाफ्राम तथा मूत्रजनन डायाफ्राम।

श्रोणि डायाफ्राम दो युगमी पेशियों से बना होता है जिन्हें लिवेटर ऐनी तथा कॉक्सीजिओस कहते हैं (चित्र 94)। पेशियों पर के ऊपर तथा नीचे से संपट्ट नहे
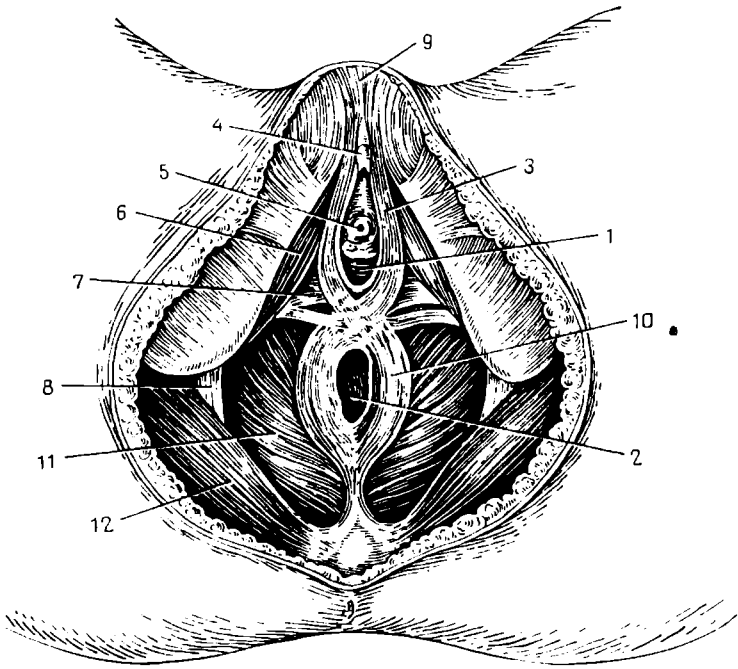
चित्र 94. स्त्री में श्रोणि पृष्ठ की पेशियां (नीचे से देखने पर)
1 – योनि रंध्र; 2 – गुदा; 3 – बल्बोकेवरनोसस पेशी; 4 – भगशेफ; 5 – बाह्य मूत्रमार्ग रंध्र; 6 – रशियोवेवटनस पेशी; 7 – अनुप्रस्थ बीजाणुपरिभित्ति प्रोफण्डस पेशी; 8 – सेक्रो बेरस स्नायु; 9 – मोन्स वेनेरिस; 10 – बाह्य अवरोधिनी गुदा; 11 – लिवेटर गुदा; 12 – ग्लूटियस मक्सीमस पेशी।

हुए होते है: मलाशय का अंत भाग, जो गुदा पर समाप्त होता है, श्रोणि डायाफ्राम में से गुजरता है। गुदा के चारों और एक पेशी होती है जो इसकी बाहरी अवरोधिनी होती है। मलाशय के निम्न भाग और आसनास्थि गण्डक के बीच दोनों ओर एक अवकाश होता है जिसे श्रोणि-मलाशय खात कहते हैं। इसमें वसामय ऊतक, रूधिर वाहिकाएँ और तंत्रिकाएँ होती हैं।

मूत्रजनन डायाफ्राम श्रोणि आधार का अग्र भाग है और यह जघनास्थियों के बीच स्थित होते हैं। यह एक युगमी पेशी (अनुप्रस्थ बीजाणुपरिभित्ति प्रोफण्डस) से बना है तथा इस पर दोनों ओर से संपट्ट चढ़े हुए होते हैं। पुरुषों में मूत्रमार्ग मूत्रजनन डायाफ्राम में से गुज़रता है तथा स्त्रियों में यह मूत्रमार्ग और योनि में से गुज़रता है।

मूत्रमार्ग की बाहरी अवरोधिनी को बनाने वाली पेशी मूत्रजनन डायाफ्राम में स्थित होती है।

बीजाणुपरिभित्ती की सभी पेशियाँ रेखित होती हैं।

प्रसूति विज्ञान में पारिभाषिक शब्द बीजाणुपरिभित्ति का अभिप्राय है श्रोणि आधार का वह भाग जो बाहरी जननेंद्रियों तथा गुदा के बीच स्थित होता है।

मानवीय गर्भ के विकास की रूप-रेखा

मानवीय शरीर के ऊतक तथा अंग भ्रूण और गर्भ स्तरों पर बनते एवं विकसित होते हैं। भ्रूण स्तर का आरम्भ निषेचन के साथ होता है तथा अंत सगर्भता के तीसरे मास में होता है। गर्भ का स्तर तीसरे मास के अंत से जन्म तक होता है। निषेचन सगर्भता की वह क्रिया है जिसमें पुरुष और स्त्री युग्मक संयोजित होते हैं। पुरुष युग्मक (शुक्राणु, जनन कोशिकाएँ) का स्वरूप चाबुक जैसा होता है और यह एक सिर, जिसमें एक प्रवेधक है, एक ग्रीवा तथा एक पुच्छ से बना होता है (चित्र 95)। ये अपनी पुच्छ की गति के कारण गतिशील होते हैं। स्त्री के युग्मक (अण्डाणु) गोल होते हैं तथा शुक्राणु की तुलना में कई गुना बड़े होते है। परिपक्व अण्डाणु जैसा कि ऊपर बताया गया है (पृ. 204) अण्डाशय से गर्भाशयी नलिकाओं तक अपना मार्ग खोज लेता है। गर्भाशयी नलिकाओं के आरम्भिक भाग में पुरुष तथा स्त्री युग्मकों के संयोजन के फलस्वरूप निषेचन होता है जो सगर्भता का आरम्भ है।

चित्र 95. मानव शुक्र (आरेख)
A—ऊपर से देखने पर; B—पार्श्व दृश्य; 1—शिरा; 2—ग्रीवा; 3 पुच्छ; 4—प्रवेधक।

जैसे-जैसे यह गर्भाशयी नलिका से गर्भाशय की ओर चलता है निषेचित अण्डाणु अपनी संतति कोशिकाओं में विभाजित हो जाता है जिन्हें कोरकखंड कहते हैं। इस विभाजन को विदलन कहते हैं। विद्लन के समय भ्रूण का पोषण अण्डाणु में विद्यमान पोषक पदार्थों द्वारा होता है। विद्लन की प्रक्रिया सगर्भता के पाचवें या छटे दिन समाप्त हो जाती है, और इस समय तक भ्रूण गर्भाशयी कोटर में प्रवेश कर जाता है तथा एक आशय, एक कोरकपुटी का स्वरूप प्राप्त कर लेता है जिसमें तरल से परिपूर्ण कोटर होता है (चित्र 96)। मानवीय कोरकपुटी की दीवार कोशिकाओं की एक परत से बनी हुई होती है जिसे पोषकोरक कहते और यह भ्रूण (गर्भ) झिल्लियों का गुच्छ होता है। कोरकपुटी के नीचे कोशिकाओं का छोटा-सा बंडल होता

चित्र 96. मानव भ्रूण के विकास के आरम्भिक चरण

A – कोरकपुटी ; 1 – ट्रोफोब्लास्ट ; 2 – भ्रूण ब्लास्ट ; B – सात दिवस का भ्रूण ; 1 तथा 2 – ट्रोफोब्लास्ट ; 3 – अन्तर्जनस्तर ; 4 – बाह्यचर्म ; 5 – गर्भाशयी श्लेष्मल ; C – ग्यारह दिवस का भ्रूण ; 1 तथा 2 – जरायु ; 3 – बाह्यचर्म ; 4 – अन्तरजनस्तर ; 5 – ऐमनियोनिक पुटिका ; 6 – पीतक कोष ; 7 – मीजेन्काइम ; 8 – गर्भाशयी श्लेष्मल ।

है जिससे बाद में वास्तविक भ्रूण विकसित होता है। कोशिकाओं के इस बंडल को भ्रूणकोरक कहते हैं।

सगर्भता के छठे या सातवें दिन भ्रूण गर्भाशय के श्लेष्मा स्तर पर रोपित हो जाता है। अगले दो हफ्तों (अर्थात् निषेचन के तीसरे हफ्ते के अंत तक) के बाद कन्दुकन हो जाता है। यह जनन बिम्ब का निर्माण है तथा बाद में यहाँ विभिन्न अंगों के गुच्छों का निक्षेपण होता है। इसी समय तथाकथित भ्रूण-बाह्य अंश यानी पीनक कोष, अपरापोषिका, भ्रूण (गर्भ) झिल्लियाँ तथा अन्य संरचनाएँ, विकसित होती हैं। कन्दुकन में भ्रूण कोरक दो बिम्बों या प्राथमिक जनन स्तरों – बाह्यचर्म (सबसे बाहर का) और अन्तर्जनस्तर (सबसे अन्दर का) – में विभाजित हो जाता है (चित्र 96)। अन्तर्जनस्तर अपने क्रम में मध्यजनस्तर (मध्यवर्ती जन स्तर) बनाता है।

कन्दुकन की क्रिया में प्राथमिक जनन स्तर, विशेषकर मध्यजनस्तर, कोशिकाओं को जन्म देते हैं जो जनन स्तरों के बीच में अवकाशों की पूर्ति करती हैं। इन कोशि-

चित्र 97. तीन जनन स्तरों के व्युत्पन्न
1 – अन्तर्जनस्तर; 2 – मध्यजनस्तर; 3 – बाह्यचर्म।
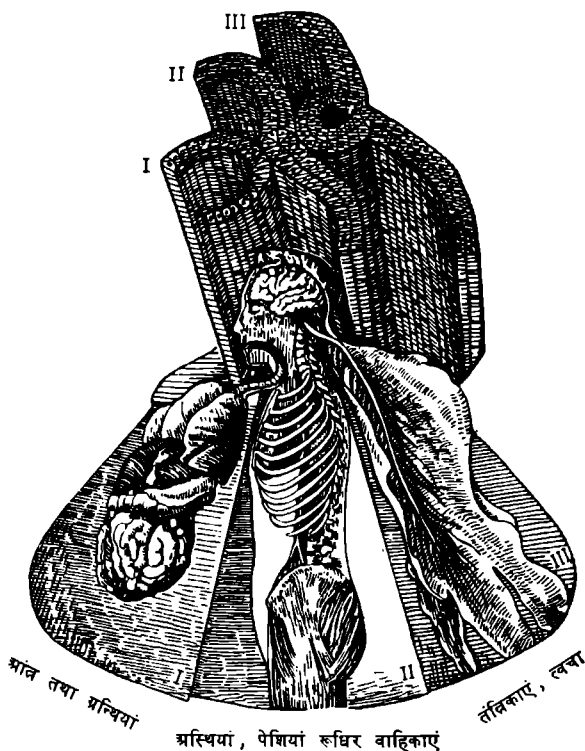
काम्रों के योग को मध्योतक कहते हैं। अनेक जटिल रूपांतरणों (विभिन्नता) विकास के परिणामस्वरूप प्राथमिक जनन स्तर ऊतकों तथा अंगों में विकसित हो जाते हैं (चित्र 97)। बाह्यचर्म का विकास त्वचा की उपकला, मुख तथा नासा कोटर की श्लेष्मिका, तंत्रिका तंत्र और संवेदी अंगों के कुछ भागों में हो जाता है।

पाचन-क्षेत्र (मुख कोटर के अतिरिक्त) की श्लेष्मिक की उपकला, पाचन ग्रन्थियों, श्वसन अंगों की उपकला (नासा कोटर के अतिरिक्त) और अवटुग्रन्थि, परावटु एवं थाइमस का विकास अन्तर्जनस्तर द्वारा होता है।

कंकाल पेशीन्यास, मूत्रांग का कुछ भाग, लिंग ग्रन्थि तथा सीरमी झिल्लियों की उपकला (मेसोथैलियम) का विकास मध्यजनस्तर द्वारा होता है। संयोजी ऊतक, संवहन तंत्र और रक्तोत्पादक अंग मध्योतक से बनते हैं।

भ्रूण-बाह्यांश भाग भ्रूण विकास में काफ़ी महत्व रखते हैं। भ्रूण जीवन के आरम्भिक स्तरों में पीतक कोष कार्य करता है (चित्र 98)। गर्भाशय की दीवार में रोपण के
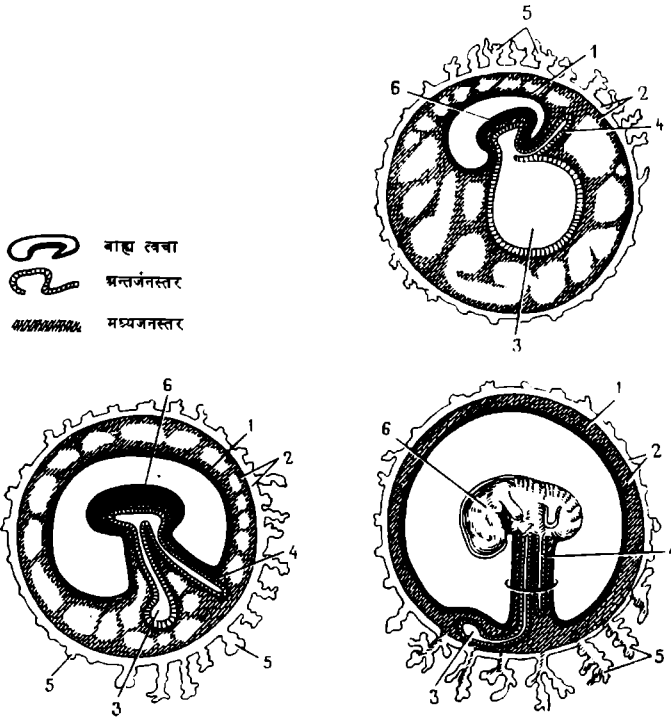
चित्र 98. भ्रूण तथा भ्रूण-बाह्यांश भागों का विकास
1 – एमनियोन ; 2 – जरायु ; 3 – पीतक कोष ; 4 – अपरापोषिका ; 5 – जरायु विली ; 6 – भ्रूण।

दौरान यह भ्रूण का पोषण करता है। इस समय भ्रूण का पोषण गर्भाशयी श्लेष्मिका के विघटन के उत्पादों द्वारा होता है। पोषक पदार्थ पोषकोरक कोशिकाओं द्वारा इकट्ठे हो जाते हैं जहाँ से वे पीतक कोष में चले जाते हैं और फिर भ्रूण में प्रवेश करते हैं। कुछ समय के लिये पीतक कोष रक्तोत्पादक प्रकार्य करता है (यह रूधिर कोशिकाओं तथा वाहिकाओं को जन्म देता है) उसके उपरान्त यह क्षीण हो जाता है।

पक्षियों और सरीसृपों के भ्रूण के विकास में, विशेषकर श्वसन एवं उत्सर्जन को निश्चित करने में, अपरापोषिका का काफ़ी महत्व है। मनुष्य में अपरापोषिका का रोल रूधिर वाहिकाओं को भ्रूण एवं उसकी दीर्घरोमी झिल्लियों, जरायु, के साथ जोड़ना है। नाभि रूधिर वाहिकाएँ अपरापोषिका की दीवारों में विकास करती हैं। ये भ्रूण की वाहिकाओं के साथ सम्बन्ध रखती है तथा जरायु के उस क्षेत्र में विकसित होती हैं जो अपरा के निर्माण में भाग लेता है।

भ्रूण (गर्भ)· झिल्लियां तीन झिल्लियाँ – उल्ब, जरायु और पाती झिल्लियाँ भ्रूण के चारों ओर बन जाती हैं (चित्र 99)।
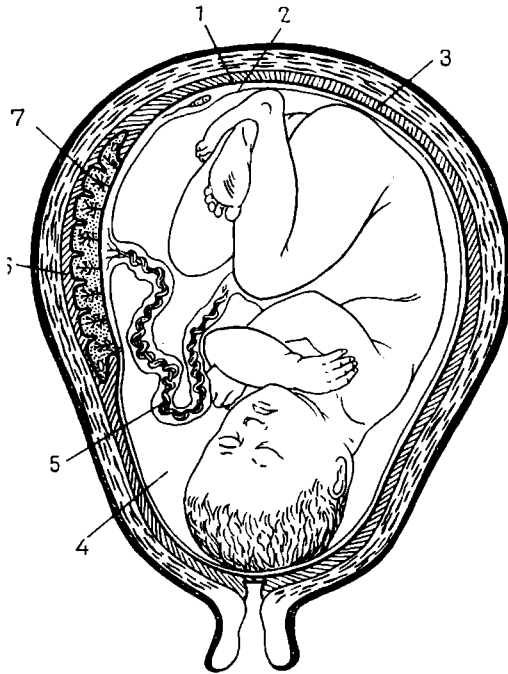
चित्र 99. गर्भाशय में गर्भ झिल्लियों की स्थितियां

1 – जरायु; 2 – एमनियोन; 3 – पाती झिल्ली; 4 – एमनियोटिक द्रव से पूर्ण एमनियोन कोटर; 5 – नाभि रज्जु; 6 – प्लैसेन्टा का मातृ भाग; 7 – प्लैसेन्टा का गर्भ भाग।

बनाती है और इस में भ्रूण (गर्भ) तथा उल्ब तरल होता है। उल्ब तरल उल्व द्वारा ही बनता है। सगर्भता की अंतिम अवस्था में इस तरल की मात्रा 1 से 1.5 ली० तक हो जाती है।

यह भ्रूण की हानिजनक प्रभावों से रक्षा करता है और इसका विकास एवं गति सुरक्षित रखता है।

भ्रूण झिल्लियों में सबसे बाहरी झिल्ली जरायु होती है। यह भ्रूण के पोषकोरक और मध्योतक के संलग्न भागों से विकसित होती है। आरम्भ में संपूर्ण जरायु पर तथाकथित आद्य रसांकुर चढ़ी हुई होती है। बाद में जरायु के लगभग संपूर्ण भाग से यह आद्य रसांकुर लुप्त हो जाता है तथा इसके स्थान पर उप रसांकुर आ जाता है जो केवल कुछ भाग पर ही चढ़ा रहता है। जरायु का यह क्षेत्र अपरा के निर्माण में भाग लेता है। उल्व तथा जरायु भ्रूण झिल्लियाँ हैं तथा ये निषेचित अण्डाणु से बनती है।

पाती झिल्लियाँ जरायु के बाहर स्थित होती हैं। यह एक मातृ झिल्ली है क्योंकि यह गर्भाशयी श्लेष्मिका से बनती है। पाती झिल्ली का अधिकांश भाग एक महीन परत है। इस झिल्ली का छोटा-सा भाग, जिसे आधार पट्टिका कहते हैं, मोटा हो जाता है तथा अपरा का कुछ भाग बनाता है। भ्रूण (गर्भ) झिल्लियो तथा अपरा की भाँति, पाती झिल्लियाँ भी प्रसव के समय निष्कासित हो जाती हैं तथा गर्भ के बाद गर्भाशय से बाहर निकाल दी जाती हैं। अपरा एक तश्तरी की आकृति वाला अंग है जिसका व्यास 20 से 30 सं.मी. तथा मोटाई 2 से 3 से. मी. (चित्र 100) तक होती है। इसके दो भाग होते हैं – एक गर्भ तथा एक मातृक। इन दोनों
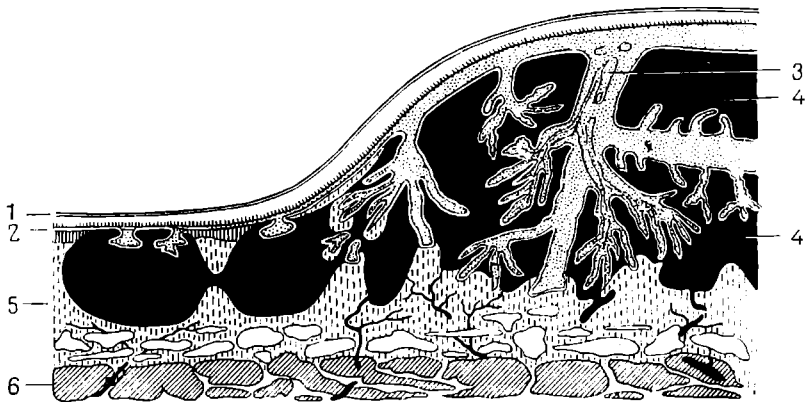
चित्र 100. मानवीय अपरा (अनुभाग) की संरचना
1 – उल्ब ; 2 – जरायु ; 3 – जरायु-अंकुरिका 4 – रिक्तिकाएं ; 5 – गर्भाशय श्लेष्मिका (आधार-पट्टिका) ; 6 – गर्भाशय का पेशी आवरण।

व बीच रिक्तिकाएँ होती हैं जिनमें मातृक रूधिर परिसंचारित होता है। अपरा के गर्भ तथा मातृक भाग संयोजी ऊतकों द्वारा बँधे हुये होते हैं।

अपरा का गर्भ भाग जरायु का रसांकुर वाला भाग है। जरायु का प्रत्येक रसांकुर अनेक शाखाओं में विभाजित होता है तथा एक वृक्ष की भाँति होता है। रसांकुर में वाहिकाएँ होती हैं जो नाभि वाहिकाओं की शाखाएं होती हैं (धमनियों एवं शिरों की)। रसांकुर पाती झिल्ली की आधार पट्टिका नामक भाग में विकसित होती हैं। इसके बाद आधार पट्टिका का कुछ भाग नष्ट हो जाता है। अपरा का मातृक भाग संयोजी ऊतक की महीन परत है जो गर्भाशयी श्लेष्मिका की आधार पट्टिका के नष्ट होने के बाद बनी रहती है।

तीसरे हफ्ते के अंत से सगर्भता के अंत तक गर्भ अपरा के माध्यम से मातृक जीव से पोषक पदार्थ एवं आक्सीजन ग्रहण करता है तथा उपापचय के उत्पाद उत्सर्जित करता है। रिक्तिकाओं में परिसंचारित मातृक रूधिर तथा रसांकुरों की वाहिकाओं में परिसंचारित गर्भ रूधिर के बीच पदार्थों का निर्विघ्न विनिमय होता रहता है। मातृक तथा गर्भ रूधिर परस्पर नहीं मिलते हैं

अंगों का तीव्र विकास अपरा पोषण—पोषण की श्रेष्ठतम विधि—द्वारा ही होता है। इसी समय के दौरान गर्भ के भार व लम्बाई में तीव्र बृद्धि होती है।

गर्भ तथा अपरा के बीच सम्बन्ध नाभि रज्जु द्वारा बनता है जो 50 सें. मी. लम्बी और 1.5 सें. मी. मोटा होता है। नाभि रज्जु में दो नाभि धमनियाँ तथा एक नाभि शिरा होता है (दे. गर्भ में रूधिर परिसंचरण)।

अपरा पोषण के निश्चित होने के बाद गर्भ का पिंड निम्न प्रकार बनता है।

चौथे हफ्ते में भ्रूण बाह्य-भ्रूणीय भागों से पृथक हो जाता है, और इसकी लम्बाई में वृद्धि होने के कारण यह सर्पिल आकार ग्रहण कर लेता है। हस्त तथा पैर मुकुल (arm and beg buds) मुलिकाओं के रूप में प्रगट होती हैं।

छठे हफ्ते के अंत तक भ्रूण की लम्बाई 2 सें. मी. हो जाती है।* अग्रांगों के मुकुल बड़े होते हैं तथा अंगुलियों को देखा जा सकता है। सिर का काफ़ी अधिक विकास हो जाता है तथा पुच्छ काफ़ी लम्बी हो जाती है। चेहरा भी बनने लगता है और ऊपरी एवं निचला जबड़ा आसानी से देखा जा सकता है। बाहरी कर्ण भी विकसित होना आरम्भ करता है। इस आयु में ग्रैव क्षेत्र में एक निश्चित उठाव देखा जा सकता है। इसमें हृदय एवं गुर्दे के मुकुल होते हैं।

आठ हफ्ते की आयु में भ्रूण का स्वरूप मानव जैसा हो जाता है। इसकी लम्बाई 4 सें. मी. तथा भार 4 से 5 ग्रा. तक होता है। प्रमस्तिष्क गोलार्ध विकसित होते हैं भ्रूण का सिर मानवीय स्वरूप प्राप्त करता है तथा इसकी मुख्य आनन रूप-रेखा

---

*यह लम्बाई अनुत्रिक से ब्रेगमा (Bregma) तक होती है।

प्रत्यक्ष हो जाती है। ग्रैव क्षेत्र तथा विकसित हो रही अंगुलियाँ देखी जा सकती हैं। आठवें हफ्ते के अंत तक सभी अंगों के मूलांग बन जाते है और यह प्रायः गर्भ के नाम से जाना जाता है।

तीन मास की आयु वाला गर्भ मनुष्य ही लगता है, केवल इसका सिर काफ़ी बड़ा होता है। चेहरा भलीभांति बना होता है। सिर तथा ग्रीवा सीधे होते हैं। चूषण प्रतिवर्त की लाक्षणिक ओष्ठ गति प्रगट हो जाती है। अग्रांग काफ़ी विकसित होते है तथा उद्दीपन के उत्तर में संकुचित होते हैं। अन्य अंग भी अपना प्रकार्य आरम्भ करते हैं। 3 मास की आयु का गर्भ 8 सें. मी. लम्बा होता है तथा इसका भार 45 ग्रा० होता है। इसके बाद गर्भ की लम्बाई तथा भार काफ़ी तेज़ी से बढ़ता है। स्त्रियों में गर्भावधि लगभग 10 चन्द्र मास (280 दिन) तक होती है। सगर्भता के अंत तक गर्भ की लम्बाई 50 सें. मी. तथा भार 3.5 कि. ग्रा. हो जाता है।

अध्याय 8

रूधिर. हृदयवाहिका तंत्र

रूधिर

रूधिर एक लाल रंग का द्रव्य है जिसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है तथा स्वाद लवण जैसा होता है। इसका विशिष्ट घनत्व 1.050-1.060 होता है। वयस्क के शरीर में लगभग 5 कि० ग्रा. रूधिर होता है जो संपूर्ण शरीर के भार का $^1/_{30}$ भाग होता है।

रूधिर तथा लसीका जीव का आंतरिक वातावरण बनाते हैं तथा इनके अनेक प्रकार्य होते हैं।

रूधिर के प्रकार्य

रूधिर उपापचय में महत्वपूर्ण रोल अदा करता है। यह सभी अंगों के ऊतकों का पोषण करता है तथा अकृष्ट उत्पादों को निष्कासित करता है। रूधिर में से मल उत्पादों का उत्सर्जन उत्सर्जी अंगों द्वारा होता है।

श्वसन में भी रूधिर की काफ़ी महत्वपूर्ण भूमिका है। यह अंगों के ऊतकों को ऑक्सीजन देता है तथा उनसे कार्बन डाइऑक्साइड निष्कासित करता है। रूधिर में ऑक्सीजन का प्रवेश फुफ्फुसों द्वारा होता है। रूधिर में से कार्बन डाइऑक्साइड का निष्कासन मुख्यतः फुफ्फुसों द्वारा ही होता है।

अनेक अंगों की कार्य विधियों के तरल नियंत्रण पर रूधिर का प्रभाव पड़ता है। यह जीव के भीतर चारों ओर विभिन्न पदार्थों को ले जाता हैं (जैसे, हार्मोन इत्यादि) इनमें से कुछ पदार्थ उद्दीपन करते हैं तथा कुछ अंगों के प्रकार्य में अवरोध करते हैं।

रूधिर का रक्षात्मक प्रकार्य भी है। इसमें ऐसी कोशिकाएँ होती हैं जिनमें भक्षकाणु-क्रिया के गुण होते हैं तथा विशेष पदार्थ होते हैं जिन्हें प्रतिरक्षी कहते हैं तथा जिनका कार्य प्रतिरक्षा करना है।

जीव में ऊष्मा को प्रसारित करना तथा शरीर में स्थायी ताप बनाये रखना भी रूधिर का प्रकार्य है। रूधिर वाहिकाओं में रूधिर की गति के कारण ऊष्मा शरीर के गर्म भागों से ठंडे भागों में चली जाती है। रूधिर अतिरिक्त ऊष्मा को बाहरी वाता-वरण में दे देता है तथा इस प्रकार जीव अत्यधिक गर्म नहीं होता।

स्वस्थ मनुष्य में रूधिर की मात्रा तथा संरचना आपेक्षिक रूप से स्थायी ही रहती हैं। जीव की बाहरी अवस्थाओं के आधार पर इनमें थोड़े-से परिवर्तन हो सकते हैं लेकिन ये शीघ्र ही सामान्य अवस्था में लौट आते हैं। अनेक रोग भी रूधिर में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। इन परिवर्तनों के गुण रोग का निदान करने में काफ़ी अधिक मदद करते हैं। इसीलिये संपूर्ण चिकित्सकीय जाँच में रूधिर जाँच आवश्यक है। जीव के सभी ऊतकों के सामान्य रूप से कार्य करने के लिये आवश्यक है कि रूधिर की मात्रा एवं संरचना स्थाथी बनी रहे।

यह बात नोट करनी चाहिये कि रूधिर का कुछ भाग परिसंचरण नहीं करता है बल्कि तथाकथित रूधिर डिपो (प्लीहा यकृत् और अवत्वक ऊतकों की केशिकाओं में) इकट्ठा रहता है। विभिन्न अवस्थाओं में डिपो रूधिर के आयतन में परिवर्तन होने के फलस्वरूप जीव में परिसंचरण कर रहे रूधिर की मात्रा में परिवर्तन हो सकता है। उदाहरणतया पेशी कार्य में या रूधिर हानि के कारण रूधिर डिपो में से सामान्य परिसंरचण के लिये रूधिर बाहर आ जाता है।

रूधिर की कुल मात्रा में अस्थायी रूप से कुछ वृद्धि अधिक मात्रा में तरल पदार्थ पीने अथवा आंत्र में से जल के अवशेशोण के फलस्वरूप हो सकती है। हालांकि स्वस्थ जीव में से जल की अतिरिक्त मात्रा गुर्दों द्वारा अपेक्षाकृत शीघ्र ही निष्कासित हो जाती है। रूधिर स्रवण में रूधिर मात्रा अस्थायी रूप से कम हो सकती है। रूधिर की अधिक मात्रा की शीघ्रता से हानि के कारण (कुल मात्रा का एक तिहाई से आधे तक) मृत्यु भी हो सकती है।

रूधिर की संरचना

रूधिर कोशिकाओं या निर्मित तत्त्वों एवं जीवद्रव्य से बनता है। कोशिकाएं रूधिर की कुल मात्रा का 40-45 प्रतिशत बनाती हैं और जीव द्रव्य 55-60 प्रतिशत बनाता है।

रूधिर के कोशिकीय तत्त्व

रूधिर के कोशिकीय तत्त्व रक्ताणुओ, श्वेताणुओं और रूधिर पट्टिकाणुओं अथवा बिम्बाणुओं से बनते हैं।

स्वस्थ मनुष्य के रूधिर में प्रति घन मि० मि० में 45000 000से 5 000 000 तक रक्ताणु होते हैं। रक्ताणु केन्द्र रहित कोशिकाएँ होती है जो उभयावतल डिस्क जैसी होती हैं। इनका व्यास 7-8 माइक्रोन तक और मोटाई 1.5 से 2 माइक्रोन तक होती है। रक्ताणुओं के कोशिका द्रव्य में एक प्रोटीन वर्ण होता है जिसे हीमोग्लोबिन कहते हैं और यह रूधिर को लाल रंग देता है। हीमोग्लोबिन का एक घटक लौह है।

रक्ताणुओं का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकार्य ऑक्सीजन को ले जाना है। जब रूधिर फुफ्फुसों में प्रवाह करता है रक्ताणुओं में विद्यमान हीमोग्लोबिन ऑक्सीजन अवशोषित कर लेती है तथा इसके बाद ऑक्सीजनसहित (धमनीय) रूधिर संपूर्ण जीव में परिसंचरण करता है। अंगों में आक्सीजन हीमोग्लोबिन से पृथक हो जाती है तथा ऊतकों में प्रवेश कर जाती है। ऊतकों से कार्बन डाइऑक्साइड को फुफ्फुसों तक पहुँचाने में भी हीमोग्लोबिन भाग लेती है। कार्बन डाइआक्साइड फुफ्फुसों में रूधिर में से निकल कर वायु में निष्कासित हो जाती है। अधिकांश कार्बन डाइआक्साइड का वाहक रूधिर का जीव द्रव्य होता है।

वयस्क मानव में आक्सीजन की परम मात्रा रूधिर के भार का 12.5-14% होती है तथा यह 17% (100 ग्रा० रूधिर में 17 ग्रा० ऑक्सीजन) भी हो सकती है। रूधिर जाँच में प्राय: आपेक्षिक हीमोग्लोबिन मात्रा निश्चित करते हैं जो 100 ग्रा० रूधिर में 17 ग्रा० के प्रति हीमोग्लोबिन की यथार्थ मात्रा को प्रतिशत में व्यक्त करता है। यह 70 से 100% तक होती है।

किन्हीं रोगी अवस्थाओं में रूधिर में हीमोग्लोबिन की मात्रा परिवर्तित हो जाती है। उदाहरणतया, अरक्तता का मुख्य कारण हीमोग्लोबिन की मात्रा में कमी होना है। इस अवस्था में या तो रक्ताणुओं की सँख्या कम हो जाती है या हीमोग्लोबिन की मात्रा (अथवा दोनों ही) कम हो जाती है।

स्वस्थ मनुष्य में श्वेताणुओं की सँख्या 1 घन मि० मी० रूधिर में 6 000-9000 होती है। श्वेताणुओं में केन्द्र होता है तथा इनका आकार भी विभिन्न होता है। ये सक्रिय रूप से गतिशील होते हैं तथा इसी कारण से इनकी आकृति परिवर्तित होती है। कुछ श्वेताणुओं के कोशिकाद्रव्य में कणिकाएँ होती हैं जबकि अन्यों में नहीं होती हैं। सभी श्वेताणु दो भागों में विभाजित होते हैं – कणिका वाले तथा कणिकारहित।

कणिकीय श्वेताणुओं का व्यास 9-12μ होता है। इनके केन्द्र प्राय: खंडों में विभाजित होते हैं जो तंतुओं द्वारा परस्पर जुड़े होते हैं। पट्टी आकृति के केन्द्र वाले कणिकीय श्वेताणुओं के नए स्वरूप अधिक नहीं पाये जाते और अंडाकार केन्द्र बहुत ही विरल होते हैं।

सभी कणिकीय श्वेताणु एक समान नहीं होते हैं। अभिरंजन प्रतिक्रिया के आधार पर तीन प्रकारें निर्धारित की गई हैं: इओसिनरागी, क्षारकरंजी और उदासीनरंजी। इओसिनरागी के कोशिकाद्रव्य में समान आकार की बड़ी कणिकाएँ होती हैं जो तीव्र गुलाबी या लाल रंग देती हैं; क्षारकरंजी में विभिन्न आकार की कणिकाएँ होती हैं जो नीला रंग देती हैं। उदासीनरंजी में महीन रेत जैसी कणिकाएँ होती है जो अम्ल व क्षार दोनों को ही हल्काबैंगनी रंग देती हैं।

कणिकारहित श्वेताणुओं में कोई कणिकाएँ नहीं होती हैं।

इन कोशिकाओं की दो किस्में होती है: लसीकाणु और एककेन्द्रकाणु। लसीकाणु

छोटी कोशिकाएँ होती हैं (6.5-8.5μ व्यास वाली) जिनमें एक गोल केन्द्र होता है जिसके चारों ग्रोर कोशिकाद्रव्य का एक महीन छल्ला होता है। एककेन्द्रकाणु बड़े ग्राकार की कोशिकाएँ होती हैं (12-20μ व्यास वाली)। प्राय: इनकी ग्राकृति सेम के बीज जैसी होती है ग्रौर कभी-कभी ग्रंडाकार होती है। स्वस्थ मनुष्य में कणिकासहित तथा कणिकारहित कोशिकाग्रों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध ग्रपेक्षाकृत स्थायी बना रहता है तथा इसे श्वेताणु गणनांक कहते हैं। इसे प्रतिशत में तालिका में दिखाया गया है।

तालिका 3

विभिन्न प्रकार के श्वेताणुग्रों का पारस्परिक संबंध (% में)

कणिकी श्वेताणु					कणहीन श्वेताणु	
न्यूट्रोफाइल			इग्रोसिनरागी	बेसोफाइल	लसीकाणु	एककेन्द्रकाणु
प्राथमिक	पट्टिक कोशिका	सखंड कोशिका				
1 तक	3-4	60-70	2-4	0.5-1	20-25	6-8

श्वेताणुग्रों की कुल सँख्या में परिवर्तन तथा विभिन्न प्रकार की कोशिकाग्रों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध में परिवर्तन द्वारा ग्रनेक रोगों का पता चलता है। ग्रनेक रोगों में श्वेताणुग्रों की सँख्या बढ़ जाती है। हालांकि ऐसे भी रोग होते हैं जिनमें श्वेताणुग्रों की सँख्या कम हो जाती है। इस ग्रवस्था को श्वेताणुन्यूनता कहते हैं। श्वेताणुग्रों के विभिन्न ग्रुपों का पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न रोगों के कारण भिन्न होता है। उदाहरणतया, कुछ रोगों में इग्रोसिनरागी का प्रतिशत बढ़ जाता है (इस ग्रवस्था को इग्रोसिनरागिता कहते हैं! जबकि ग्रन्य रोगों में उदासीनरंजी की सँख्या वढ़ जाती है (उदासीनरंजिता),इत्यादि। इग्रोसिनरागिता को विशेषत: किक्किशता ग्रौर स्कार्लेट ज्वर में देखा जा सकता है।

स्वस्थ मनुष्य में भी श्वेताणुग्रों की सँख्या में ग्रस्थायी परिवर्तन देखा जा सकता है। उदाहरणतया, भोजन के बाद तथा शारीरिक परिश्रम के बाद श्वेताणुबहुलता देखी जा सकती है।

श्वेताणु रक्षी प्रकार्य करते हैं। इनमें भक्षकाणुक्रिया के गुण होते हैं (चित्र 101) ग्रर्थात् ये जीवाणुग्रों ग्रौर ग्रन्य कार्बनिक कणों को निगल कर नष्ट कर देते हैं तथा ये वाहिकाग्रों की दीवारों में से गुजर सकते है ग्रौर ऊतकों में से गुज़र कर शोथ के स्थान तक पहुँच सकते हैं। ऐसे तथ्य उपलब्ध हैं जो सिद्ध करते हैं कि श्वेताणु
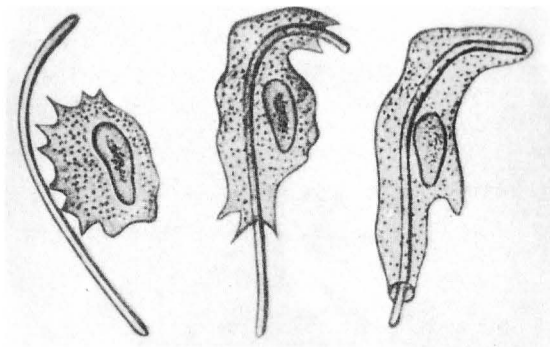
चित्र 101. श्वेताणु द्वारा जीवाणु का भक्षकाणुक्रिया: तीन उत्तरेत्तर स्तर (आरेख) ।

प्रकिण्व तथा अन्य पदार्थ रूधिर के जीवद्रव्य में विसर्जित करते हैं जो जीव में प्रवेश किये हुये संक्रामक रोगाणुओं को नष्ट करने में मदद करते हैं। श्वेताणुओं की रक्षी भूमिका तथा भक्षकाणुक्रिया का सिद्धांत जैसा कि ऊपर बताया गया है महान रूसी वैज्ञानिक ईवान मेचनीकोव ने की थी (1845--1916) ।

रूधिर पट्टिकाणु या बिम्बाणु बहुत ही छोटे होते हैं तथा इनकी आकृति अनियमित होती हैं। इनमें थ्रॉम्बोकाइनेस एक पदार्थ विद्यमान होता है जो रूधिर के थक्का होने में भाग लेता है। बिम्बाणुओं की सँख्या स्थायी नहीं होती है तथा एक घन मि. मी. 100 000 से 300 000 तक हो सकती है। बिम्बाणुओं की सँख्या में तीव्र कमी होने को थ्रॉम्बोपेनिया कहते हैं। इस अवस्था में रूधिर का थक्का बनाने का गुण विकृत हो जाता है।

रूधिर जीवद्रव्य

जीवद्रव्य एक श्यान हल्का पीला प्रोटीन द्रव्य होता है। इसमें रूधिर के कोशिकीय तत्त्व निलंबित रहते हैं। इसमें 90-92 प्रतिशत जल तथा 8-10% कार्बनिक तथा अकार्बनिक पदार्थ होते हैं। कार्बनिक पदार्थों में अधिकतर रूधिर प्रोटीन, ऐल्ब्यूमिन, ग्लोबुलिन तथा फाइब्रिनोजन होते हैं। जीवद्रव्य में ग्लूकोस, वसा, वसामय पदार्थ, अमीनो अम्ल, विभिन्न उपापचयज (यूरिया, यूरिक अम्ल, आदि), एन्जाइम तथा हार्मोन विद्यमान होते हैं। अकार्बनिक पदार्थ रूधिर जीवद्रव्य का 0.9-1 प्रतिशत भाग बनाते है तथा इनमें सोडियम, पोटैशियम, कैल्सियम आदि के लवण होते हैं। जीवद्रव्य में लवणों की सान्द्रता अपेक्षाकृत स्थायी होती है। खनिज पदार्थ, विशेषत: सोडियम क्लोराइड रूधिर का परासरणी दाब स्थायी बनाए रखने में मुख्य रोल अदा करते हैं। रूधिर-जीवद्रव्य जीव के ऊतक द्रव्यों के साथ घना सम्बन्ध रखता है। यह ऊतकों

इल्या मेचनिकोव

को उनकी जैव क्रियाओं के लिये आवश्यक सभी पदार्थ देता है तथा उनसे उपापचयज प्राप्त करता है। स्वस्थ मनुष्य में सभी ऊतकों में परासरणी दाब अपेक्षाकृत रूप से स्थायी वना रहता है। ऊतकों में परासरणी दाब में अधिक परिवर्तन होने से उनकी क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। रूधिर की रासायनिक प्रतिक्रिया (pH) को अपेक्षाकृत स्थायी बनाये रखने के लिये रूधिर जीवद्रव्य की संरचना काफ़ी महत्व रखती है।

जैसा कि ऊपर बताया गपा है, रूधिर-जीवद्रव्य में विशेष पदार्थ होते है, जिन्हें प्रतिरक्षी कहते हैं, तथा इनका प्रकार्य रक्षी होता है। इनमें से कुछ आविष (रोगाणुओं द्वारा विसर्जित विष) को उदासीन कर देते हैं, तथा अन्य जीव में प्रवेश कर चुके रोगाणुओं को नष्ट कर देते हैं, और कुछ अन्य इन्हें संश्लिष्ट कर देते हैं, इत्यादि। प्रतिरक्षी एक रोग से छुटकारा पाये हुये मनुष्य के रूधिर में काफ़ी समय तक रह सकते हैं ताकि इस मनुष्य में इस विशेष रोग के लिये प्रवणता न रहे।

अनेक रोगों की रोकथाम कृत्रिम अप्रवणता द्वारा की जाती हैं: मृत अथवा क्षीण

रोगाणुओं और उनके आविष वाला टीका जीव को लगाया जाता है। इसके प्रतिवर्त में जीव प्रतिरक्षी उत्पन्न करता है। इस प्रकार के टीकों के उदाहरण हैं: चेचक, आन्त्रज्वर और अन्य रोगों के प्रति टीके। रोगों के प्रति अप्रवणता को असंक्राम्यता कहते हैं।

कुछ रोगों में रोगियों को आरोग्यकर सीरम दिया जाता है। सीरम फाइब्रिनोजन से निकाला गया जीव-द्रव्य होता है। आरोग्यकर सीरम में प्रतिरक्षी होते हैं तथा इस उन जन्तुओं के रूधिर से बनाया जाता है जो इस विशेष रोग से छुटकारा पा चुके होते हैं।

रूधिर के सामान्य गुण

रूधिर स्कन्दन

रूधिर में स्कन्दन गुण विद्यमान है। सामान्यतः रूधिर वाहिकाओं में से गुजरते समय रूधिर स्कन्दन नहीं करता है। कुछ रोगों में रूधिर वाहिकाओं के अन्दर ही स्कन्दन कर देता है और उनके मार्ग में रूकावट उत्पन्न कर देता है। इन स्कन्दनों को थ्रांबस (thrombus) कहते हैं।

रूधिर प्रायः रूधिर वाहिकाओं में से बाहर निकल कर ही स्कन्दन करता है। स्कन्दन क्रिया में फाइब्रिनोजन (प्रोटीन), थ्रॉम्बोजन (एक विशेष एन्ज़ाइम) थ्रॉम्बोकाइनेस (रूधिर बिम्बाणुओं में विद्यमान एक एन्ज़ाइम), कैल्सियम लवण और कुछ अन्य पदार्थ भाग लेते हैं। थ्रॉम्बोजन विटामिन K की मदद से यकृत् में पैदा होता है तथा रूधिर जीव द्रव्य में प्रवेश करता है। मानव रूधिर में एक अन्य एन्ज़ाइम होता है जो रूधिर स्कन्दन को रोकता है (प्रतिथ्रॉम्बिन)। यह एन्ज़ाइम यकृत् और फुफ्फुसों में बनता है तथा रूधिर जीव द्रव्य में प्रवेश करता है।

निम्न बातें रूधिर स्कन्दन की रूप-रेखा का वर्णन करेंगी। रूधिर स्राव के समय रूधिर बिम्बाणु वायु के सम्पर्क में आने के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। इसी समय ये थ्रॉम्बोकाइनेस विसर्जित करते हैं। कैल्सियम लवणों एवं कुछ अन्य पदार्थों की विद्यमानता में थ्रॉम्बोकाइनेस अपने निष्क्रिय थ्रॉम्बोजन को सक्रिय थ्रॉम्बोबिन में परिवर्तित कर देता है। फाइब्रोजन, जो जीव द्रव्य में विलीन होता है, थ्राम्बोबिन के प्रभाव से फिब्रीन नामक सघन पदार्थ में परिवर्तित हो जाती है जिसके फलस्वरूप रूधिर का स्कन्दन होता है। स्कन्दन फिब्रीन के परस्पर उलझी हुई तंतुओं तथा रूधिर के बनने वाले अवयवों से बनता है।

जीव से निष्कासित मानव का रूधिर 3-4 मिनट में ही स्कन्दित हो जाता है। ऊष्मा रूधिर स्कन्दन को तीव्र कर देती है तथा ठंड इसे शीघ्रता से मंद कर देती है।

रूधिर का स्कन्दन रोकने के लिये रूधिर में साइट्रिक अम्ल या उस के लवण डाल दिये जाते हैं (साइट्रेटेड रूधिर)। ऑक्सैलिक अम्ल अथवा उसके अम्ल डाल दिये जाने पर ऑक्सेलेट रूधिर बनता है। ये पदार्थ जीव-द्रव्य में से कैल्सियम लवणों को अवक्षेप करते हैं। इस प्रकार का रूधिर काफ़ी समय तक रखा जा सकता है और संचरण के लिये प्रयोग किया जाता है।

हीरूडिन, जलूका की मुख ग्रन्थि द्वारा बनने वाला एक पदार्थ भी रूधिर स्कन्दन को रोकता है।

हीमोफीलिया नामक रोग प्रायः पुरूषों में पाया जाता है। इस रोग की अवस्था में रूधिर का स्कन्दन नहीं होता है और मामूली-सा घाव हो जाने के फलस्वरूप रूधिर-स्राव बहुत अधिक होता है।

रक्ताणु अवसादन परीक्षण

चिकित्सक प्रायः तथाकथित रक्ताणु अवसादन परीक्षण का प्रयोग करते हैं। इस परीक्षण का आधार यह तथ्य है कि यदि रूधिर को किसी बर्तन में रखा जाए तो रक्ताणु, जीव-द्रव्य की तुलना में जिनका विशिष्ट घनत्व अधिक होता है, तल पर बैठ जाते हैं। इसके फलस्वरूप रूधिर के दो स्तर बन जाते हैं। ऊपरी स्तर में स्पष्ट जीव-द्रव्य होता है तथा नीचे के स्तर में रक्ताणु होते हैं। यह परिक्षण निम्न प्रकार किया जाता है। अंगुलि में से थोड़ा-सा रूधिर लिया जाता है और उसे सोडियम साइट्रेट के घोल में मिलाया जाता है तथा इस मिश्रण का उपकरण के विशेष भाग की केशिका नली में चूषण कर दिया जाता है। केशिका नली को उर्ध्वाधिर रूप से केशिका नली स्टैण्ड में खड़ा कर दिया जाता है। रक्ताणु धीरे-धीरे तल पर बैठने लगते हैं। रक्ताणु-रहित रूधिर स्तंभ की ऊँचाई एक घंटे के अन्दर मि० मी० में मापी जाती है। रक्ताणुओं के सामान्य अवसादन की गति 4-10 मि० मी० प्रति घंटा है। अनेक रोगों में रक्ताणु अवसादन की गति बढ़ जाती है क्योंकि रूधिर के भौतिकीय-रासायनिक गुणों में परिवर्तन हो जाते हैं। अधिक रक्ताणु अवसादन गति गत या वर्तमान रोग का सूचक है। गर्भावस्था में भी यह गति बढ़ जाती है।

रूधिर ग्रुप

चिकित्सक प्रायः रूधिर संचरण देते हैं (चोट लगने पर रूधिर की हानि, क्षीण रोगियों में, आदि)। रूधिर संचरण में रूधिर देने वाले व्यक्ति दाता कहलाते हैं। तथा रूधिर संचरण लेने लाले व्यक्ति ग्राही कहलाते हैं। रूधिर संचरण से पहले. आश्लेषण तथा निश्चित अवस्थाओं में रक्ताणु के समूहन में इकट्ठा होने के गुण को जान लेना आवश्यक है। मानवीय रूधिर में रक्ताणुओं का आश्लेषण तीव्र विकृतियाँ पैदा करता है तथा इससे कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है।

विभिन्न लोगों के रूधिर की विभिन्न संरचना होती है जो समूहनिन (जो आश्लेषण करते हैं) तथा समूहजन (जो समूहनिन पैदा करते हैं) पर आधारित होती है। समूहनिन रूधिर जीव द्रव्य में विद्यमान होते हैं तथा समूहजन रक्ताणुओं में विद्यमान होते हैं। समूहनिन दो प्रकार के होते हैं तथा इन्हें ग्रीक अक्षरों α तथा β द्वारा सूचित किया जाता हैं। समूहजनों की भी दो किस्में होती हैं: A तथा B। विभिन्न लोगों के रूधिर में समूहनिन तथा समूहजनों की विभिन्न मात्रा होती हैं।

इसके आधार पर रूधिर के चार ग्रुप पृथक किये गये हैं: प्रथम (I), द्वितीय (II), तृतीय (III) तथा चतुर्थ (IV)। ये ग्रुप निम्न प्रकार व्यक्त किये गये हैं (तालिका 4)।

तालिका 4

रूधिर ग्रुप

ग्रुप	जीवद्रव्य में समूहनिन	रक्ताणुओं में समूहजन
प्रथम ग्रुप (I,o)	α, β	अनुपस्थित
द्वितीय ग्रुप (II, A)	β	A
तृतीय ग्रुप (III, B)	α	B
चतुर्थ ग्रुप (IV, AB)	अनुपस्थित	AB

रक्ताणुओं ,का आश्लेषण केवल उसी स्थिति में होता है जब दो प्रकार के रूधिर मिलाये जाते है, दाता रूधिर का समूहजन A ग्राही रूधिर के समूहनिन α के साथ मिलता है अथवा दाता रूधिर का समूहजन B ग्राही रूधिर के समूहनिन β के साथ मिलता है। परिणामस्वरूप जब रूधिरों का मिश्रण बनता है तो केवल दाता रूधिर के समूहजन और ग्राही रूधिर के समूहनिन को ही ध्यान में रखा जाता है क्योंकि केवल दाता के रक्ताणुओं का ही आश्लेषण होता है।

रूधिर के वे ग्रुप जो मिश्रित होने पर आश्लेषण बनाते हैं असंगत ग्रुप कहलाते हैं, तथा वे ग्रुप जो आश्लेषण नहीं बनाते संगत ग्रुप कहलाते हैं। चित्र 102 में दिये गये आरेख में संगत रूधिर ग्रुप दिखाये गये हैं।

चित्र 102 से स्पष्ट है कि I ग्रुप का रूधिर अन्य किसी भी ग्रुप के रूधिर वाले व्यक्तियों को दिया जा सकता है, जबकि I ग्रुप के रूधिर वाले व्यक्तियों केवल इसी ग्रुप का रूधिर संचरण दिया जा सकता है।

IV ग्रुप के रूधिर वाले व्यक्तियों को किसी भी ग्रुप का रूधिर दिया जा सकता है लेकिन इनका रूधिर केवल इसी ग्रुप के रूधिर वाले व्यक्तियों को दिया जा सकता है। I ग्रुप के रूधिर वाले व्यक्तियों को सार्वभौम दाता और IV ग्रुप के रूधिर वाले व्यक्तियों को सार्वभौम ग्राही कहते हैं।
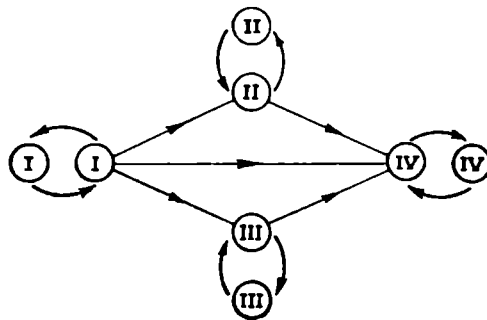
चित्र 102. रूधिर वर्गों की सुसंगति का आरेख। किन वर्गों का किन वर्गों के साथ आधान सम्भव है—यह तीर द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

II और III ग्रुप के रूधिर उसी ग्रुप के या IV ग्रुप के रूधिर वाले व्यक्तियों को दिया जा सकता है तथा II और III ग्रुप के रूधिर वाले व्यक्ति इसी ग्रुप या I ग्रुप का रूधिर ले सकते हैं।

अभी हाल ही में यह सिद्ध हुआ है कि रूधिर में (A और B के अतिरिक्त) अन्य समूहजन भी होते हैं। अधिकांश लोगों के रक्ताणुओं में *Rh* कारक होता है (यह सबसे पहले रीसस बन्दर में पाया गया था)। ऐसे व्यक्तियों को *Rh*-सहित कहते हैं। लोगों की वह अन्य सँख्या जिनके रूधिर में ऐसा कोई समूहजन नहीं होता *Rh*- हानि कहलाती है। कुछ स्थितियों में दाता का रूधिर ग्राही के रूधिर के साथ *Rh*- कारक में असगत होता है (हालांकि दोनों रूधिर एक ही ग्रुप के होते हैं)। इस प्रकार के रूधिर का संचरण बहुत ही आपत्तिजनक होता है क्योंकि इससे संचरित रूधिर में रक्ताणुओं का विनाश हो जाता है। इसी समय रूधिर जीव द्रव्य में हीमोग्लोबिन प्रवेश कर जाता है। इस परिघटना (जीव-द्रव्य में हीमोग्लोबिन का प्रवेश होना) को रूधिरलयन कहते हैं। पूर्णतया रूधिर-लयित रूधिर अपना लाल रंग बनाये रखता है लेकिन पारदर्शी हो जाता है और इसे सरोवरी रूधिर कहते हैं।

संचरण देने से पूर्व रोगी (ग्राही) के रूधिर की जाँच हमेशा आवश्यक है। संचरण के लिये रूधिर का चुनाव रूधिर ग्रुप परीक्षण पर आधारित होता है। इसके अतिरिक्त तथाकथित जैविक परीक्षण भी किया जाता है। इस परीक्षण में रूधिर की थोड़ी-सी मात्रा दी जाती है (प्रत्येक 3 मिनट के अंतराल में 25 मि० ली० की मात्रा में 75 मि० ली०) और रोगी की अवस्था का निरीक्षण किया जाता है। यदि कोई अप्रिय परिघटना देखने में आती है (जैसे, ठंड, द्रुत हृदय तथा और अधिक अप्रिय स्थितियों में वक्ष में संकुचन, निम्न पीठ में दर्द, आदि), तो रूधिर संचरण बंद कर दिया जाता है।

रूधिर संचरण का प्रयोग काफ़ी प्रचलित है तथा यह एक अति महत्त्वपूर्ण चिकित्सीय विधि है।

रक्तोत्पादक अंग

जीव के सम्पूर्ण जीवन काल में रूधिर कोशिकाएँ वृद्ध होकर नष्ट होती रहती हैं तथा नया रूधिर बनता रहता है। नए रूधिर के उत्पादन को रक्तोत्पत्ति कहते हैं। वे अंग जिनमें रूधिर कोशिकाएँ बनती हैं, निम्न हैं: लाल मज्जा, लसीका पर्वसंधि तथा प्लीहा (गर्भ में रूधिर का निर्माण यकृत में भी होता है)।

व्यस्कों में लाल मज्जा छोटी तथा चपटी अस्थियों में स्पंजी पदर्थ के अंतरालों में तथा दीर्घ अस्थियों के अधिप्रवर्ध में स्थित होता है। गर्भ तथा शिशुओं में यह नलिकाकार अस्थियो की नलिकाओं में भी होता है और धीरे-धीरे इनमें इसके स्थान पर पीत मज्जा आ जाता है जो रक्तोत्पत्ति में बिल्कुल भी भाग नहीं लेता है। लाल मज्जा का आधार जालिका ऊतक होता है जिसमें बहुत अधिक रूधिर वाहिकाएँ होती हैं। लाल मज्जा में विशेष कोशिकाएँ होती हैं जिससे रूधिर के निर्मित तत्त्व विकसित होते हैं। ये कोशिकाएँ निरन्तर जनन करती रहती हैं। इनमें से कुछ जटिल प्रक्रियाओं द्वारा रक्ताणुओं एवं कणिकामय श्वेताणुओं में रूपांतरित हो जाती हैं जो रूधिर में प्रवेश कर जाती हैं। मानव शरीर में लाल मज्जा की कुल मात्रा 1.500 सी० सी० होती है।

लसीका पर्वसंधियां वे अंग हैं जिनमें रक्ताणु विकसित होते हैं। इनका रक्षी प्रकार्य भी होता है (दे० पृ० 266)।

प्लीहा डायाफ्राम के एकदम नीचे वाम हाइपोकॉन्ड्रियम में स्थित होता है (चित्र 103)। सामान्यतः प्लीहा स्पृश्य नहीं होती है लेकिन कुछ रोगों में यह बड़ी हो जाती है तथा रिब के नीचे से ऊपर को आ जाती है। इसकी अग्र तथा पश्च सीमाएँ और दो तल स्पष्ट होते हैं। इसका एक तल उत्तल होता है तथा डायाफ्राम की ओर आमुख होता है और दूसरा अवतल होता है एवं आमाशय के फण्डस, वाम गुर्दा और अग्न्याशय की पुच्छ को स्पर्श करता है। अवतल तल में हीलस होता है जिसनें में वाहिकाएँ और तंत्रिकाएँ निकलती हैं। प्लीहा पर्युदर्या द्वारा ढका हुआ होता है: सीरमी आवरण के नीचे संयोजी-ऊतक कैप्स्यूल होता है। संयोजी-ऊतक विभाग—जिन्हें संबंधक कहते हैं—कैप्स्यूल में से अंग में प्रवेश करते हैं। संबंधको के बीच गहरे लाल रंग का तथाकथित प्लीहा मज्जा होता है। मज्जा का आधार रूधिर वाहिकाओं की बड़ी संख्या से परिपूर्ण जालिका ऊतकों से बना हुआ होता है। मज्जे में हल्के रंग के लसीका ऊतकों के उपद्वीप होते हैं जिनमें लसीकाणु विकसित होते हैं। रक्तोत्पत्ति क्रिया में भाग [illegible] के अतिरिक्त प्लीहा के अन्य प्रकार्य भी होते हैं। प्लीहा में वृद्ध रक्ताणु नष्ट हो [illegible] हैं। इसके अतिरिक्त रूधिर की काफ़ी मात्रा प्लीहा में अस्थायी रूप में [illegible]।
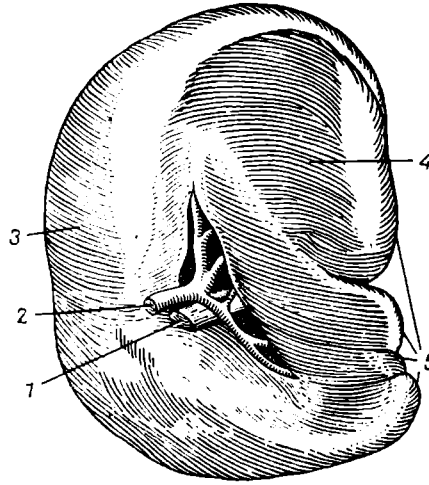
चित्र 103. प्लीहा

1 – प्लीहा शिरा ; 2 – प्लीहा धमनी ; 3 – वाम वृक्क के साथ संपर्क का स्थान ; 4 – आमाशय के साथ संपर्क का स्थान ; 5 – प्लीहा की अग्र सीमा।

सकती है जैसे कि यह यकृत् तथा अवत्वक संवहन तंत्र में हो जाती है। ऐसे अंगों को रूधिर डिपो कहते हैं।

हृदवाहिका तंत्र

सामान्य बातें

जीव में रूधिर निरन्तर प्रवाह करता रहता है। इस प्रवाह को रूधिर परिसंचरण कहते हैं। मानव शरीर के सभी अंग परस्पर रूधिर परिसंचरण के माध्यम द्वारा सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यह उन्हें पोषक पदार्थ और ऑक्सीजन देता है, अपशिष्ट उत्पाद निकालता है तथा तरल नियंत्रण को चालू रखता है तथा जीव के अन्य जैव प्रकार्यों को पूरा करता है। रूधिर परिसंचरण के बंद हो जाने से जीव की मृत्यु हो जाती है।

रूधिर रूधिर-वाहिकाओं में प्रवाह करता है जो विभिन्न व्यास की तन्यक नलिकाएँ होती हैं। सम्पूर्ण शरीर में रूधिर वाहिकाओं का संवृत जाल बिछा हुआ रहता है। हृदय, जो एक खाली पेशी अंग है, लयबद्धता से संकुचित होता रहता है और सम्पूर्ण जीव में रूधिर भेजता है।

रुधिर परिसंचरण के तंत्र की खोज का श्रेय इंग्लिश वैज्ञानिक विलियम हार्वे (1578-1658) को जाता है।

हृदवाहिका तंत्र की क्रिया तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित होती है। हार्मोन तथा अन्य पदार्थ भी हृदय एवं रुधिर वाहिकाओं के कार्य को प्रभावित करते हैं। रुधिर परिसंचरण के नियत्रंण की धारणा पर कार्य मुख्यतः ई० पावलोव तथा अन्य रूसी वैज्ञानिकों ने किया।

रुधिर वाहिकाएं

रुधिर वाहिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं। ये हैं: धमनियाँ, केशिकाएँ तथा शिरे। इनकी संरचना तथा प्रकार्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

धमनियाँ वे वाहिकाएँ हैं जिनके माध्यम से रुधिर हृदय से अंगों तक पहुँचता है। इनकी दीवारें तुलनात्मक रूप से अधिक मोटी होती हैं तथा तीन स्तरों से बनी हुई होती हैं: बाहरी स्तर, मध्यवर्ती स्तर तथा आन्तरिक स्तर (चित्र 104)। बाहरी स्तर या वाह्यकंचुक संयोजी ऊतकों से बना होता है। मध्यवर्ती स्तर या मध्य कंचुक चिकनी पेशी ऊतकों से बना हुआ होता है तथा इसमें तन्य संयोजी ऊतक रेशे
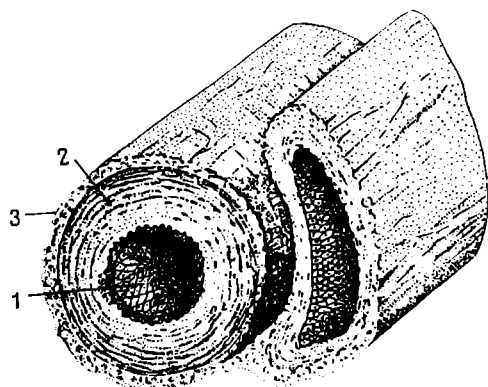
चित्र 104. धमनी की संरचना तथा संलग्न शिरा।
1—कंचुक अंतः स्तर; 2—मध्य कंचुक; 3—वाह्य कंचुक।

होते हैं। इस स्तर के संकुचित होने पर रुधिर वाहिकाओं के ल्यूमन कम हो जाते हैं। आन्तरिक स्तर अथवा कंचुक अन्तःस्तर संयोजी ऊतक से बना हुआ होता है तथा चपटी कोशिकाओं, अंतःस्तर, से रेखित होता है। धमनियों का व्यास भिन्न-भिन्न होता है: हृदय से दूरी जितनी अधिक होगी, उसका व्यास उतना ही कम होगा। प्रत्येक अंग के अन्दर धमनियाँ छोटी-छोटी शाखाओं में बँट जाती हैं। सबसे छोटी

धमनी वाहिकाएँ धमनिकाएँ कहलाती हैं। धमनिकाएँ केशिकाओं में विभाजित हो जाती हैं।

केशिकाएं महीन रुधिर वाहिकाएँ होती हैं जिन्हें केवल सूक्ष्मदर्शी द्वारा ही देखा जा सकता है। केशिकाओं के ल्यूमन भिन्न-भिन्न होते हैं तथा ये औसतन 7.5μ होते हैं। केशिका की लम्बाई 0.3 मि० मी० सें अधिक नहीं होती। किसी भी अंग के प्रति वर्ग मि० मी० ऊतक में सैंकड़ों केशिकाएँ होती हैं। सम्पूर्ण शरीर की केशिकाओं का कुल ल्यूमन महाधमनी की तुलना में 500 गुना अधिक होता है। जब कोई अंग विराम की अवस्था में होता है तो इसकी अधिकतर केशिकाएँ संकुचित हो जाती है तथा इनमें से रुधिर का प्रवाह बिल्कुल नहीं होता। कार्यरत अंग में कार्य में संलग्न केशिकाओं की सँख्या बढ़ जाती है। केशिका की दीवार अन्तः-स्तर कोशिकाओं के एक स्तर से बनी हुई होती है। रुधिर और ऊतकों के बीच पदार्थों का पारस्परिक विनिमय केवल केशिकीय दीवार के माध्यम से ही होता है। अनेक पोषक पदार्थ तथा आक्सीजन, तथा लसीका को बनाने वाले रुधिर जीव द्रव्य रुधिर में सें ऊतकों में प्रवेश करते हैं। कार्बन डाइआक्साइड तथा अन्य अपशिष्ट उत्पाद ऊतकों में से रुधिर में प्रवेश करते हैं। केशिकाओं का अंतःस्तर पदार्थों को रुधिर में से ऊतकों तथा ऊतकों में से रुधिर में प्रवेश करने की क्रिया में सक्रिय रोल अदा करता है। पदार्थों का पारस्परिक विनिमय न केवल केशिकीय दीवारो की अवस्था पर निर्भर करता है बल्कि केशिकाओं के चारों ओर संयोजी ऊतक के मुख्य पदार्थ पर भी निर्भर करता है। जैसे-जैसे यह केशिका में प्रवाह करता है धमनी रुधिर शिरा रुधिर में परिवर्तित हो जाता है जो शिरों में बहता है।

शिरा. ये वे वाहिकाएँ हैं जिनमें रुधिर अंगों से हृदय की ओर प्रवाह करता है। धमनी की भाँति शिरा की दीवार भी तीन स्तरों से बनी हुई होती है (चित्र 104), लेकिन इनमें तन्य और पेशी तंतु कम होते हैं और इसीलिये ये कम लचीले होते है और आसानी से टूट जाते हैं।

धमनी के विपरीत, शिरों में वाल्व होते, हैं (दे० चित्र 116) जो रुधिर के प्रवाह की दिशा में खुलते हैं। इसकी सहायता से शिरों में रुधिर का प्रवाह हृदय की ओर होता है।

सबसे छोटे शिरे को शिरिका कहते हैं। हृदय के समीप स्थित शिरों का व्यास बढ़ जाता है। धमनी की तुलना में शिरों का कुल ल्यूमन अधिक होता है लेकिन केशिकाओं से अपेक्षाकृत कम होता है।

शरीर का प्रत्येक क्षेत्र अथवा अंग प्रायः अनेक वाहिकाओं द्वारा दिये गये रुधिर से परिपूर्ण होता है। इनमें से सबसे बड़ी को मुख्य वाहिका कहते हैं तथा छोटी वाहिकाओं को सहायक वाहिकाएँ कहते हैं। कुछ धमनियाँ परस्पर संबंध संयोजी वाहि-

ाओं के माध्यम द्वारा स्थापित करती हैं जिन्हें **शाखामिलन** कहते हैं, शिरों के बीच भी शाखामिलन होते हैं।

यदि एक वाहिका में रुधिर का प्रवाह बंद हो जाता है (यदि वाहिका ट्यूमर द्वारा कट या दब जाती है), तो सहायक वाहिकाओं एवं शाखामिलन में रुधिर का परिसंचरण बढ़ जाएगा। विद्यमान सहायक वाहिकाओं एवं शाखामिलन के अतिरिक्त नई भी उत्पन्न हो सकती हैं। इस प्रकार रुधिर परिसंचरण पुनः स्थापित हो जाती है।

हृदय

हृदय की संरचना. हृदय एक पेशी शंकु जैसा खोखला अंग होता है जो अग्र फुफ्फुस मध्यावकाश में स्थित होता है (चित्र 105)। हृदय का अधिकांश भाग वक्षीय कोटर
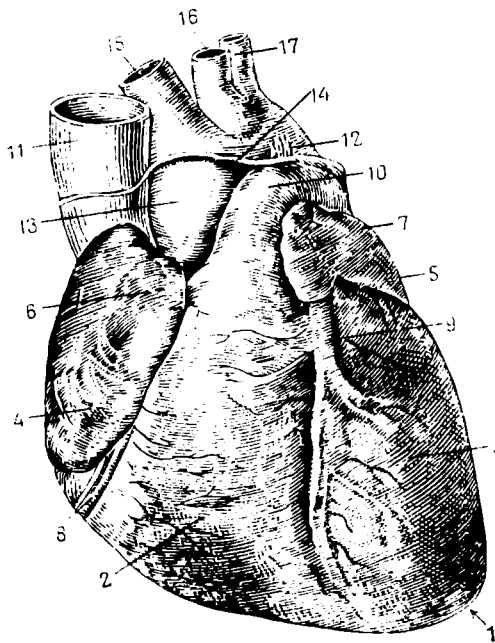
चित्र 105. हृदय (अग्र दृश्य)।

1 – शिर्ष; 2 – दक्षिण निलय; 3 – वाम निलय; 4 – दक्षिण आलिन्द; 5 – वाम आलिन्द; 6 – दक्षिण आलिन्द; 7 – वाम आलिन्द; 8 – किरीटी सल्कस; 9 – अग्र अनुदैर्घ्य सल्कस; 10 – फुफ्फुस कांड; 11 – उर्ध्व महाशिरा; 12 – धमनी स्नायु (बंब बोटेलो वाहिका); 13 – महाधमनी; 14 – वह स्थान जहां हृदयावरण अन्तर्हृद्स्तर बन जाता है; 15 – बाहु-शीर्ष कांड (अनामी धमनी); 16 – वाम सार्व ग्रीवा धमनी; 17 – वाम अधोजत्रुक धमनी।

के वाम ग्रर्ध में स्थित होता है। हृदय का ग्राकार मनुष्य की मुट्ठी के बराबर होता है तथा इसका भार 300 ग्रा० होता है। हृदय के भाग हैं: चौड़ा भाग ग्रथवा ग्राधार, संकुचित भाग ग्रथवा शिखर, तथा ग्रग्र, पश्च ग्रौर निम्न तल। हृदय का ग्राधार ऊपर तथा पीछे की ग्रोर होता है, ग्रौर शिखर नीचे तथा ग्रागे की ग्रोर होता है। ग्रग्र तल ग्ररोस्थि एवं पर्शुक उपास्थियों की ग्रोर होता है। पश्च तल ग्रसिका की ग्रोर होता है। निम्न तल डायाफ़ाम के कंडरीय केन्द्र की ग्रोर होता है। हृदय की दीवार तीन स्तरों से बनी हुई होती हैं: ग्रन्तः ग्रथवा ग्रन्तर्हृद्स्तर, मध्यवर्ती ग्रथवा मध्य-हृद्स्तर तथा बाहरी ग्रथवा ग्रधिहृदस्तर। सम्पूर्ण हृदय हृदयावरण नामक झिल्लीदार थैले में बंद होता है। हृदय के सीरमी स्तर की दो परतें हृदयावरण एवं ग्रधिहृद्स्तर हैं। इनके बीच में एक रेखा-छिद्र होता है—ग्रधिहृद्स्तर कोटर जिसमें सीमी द्रव की थोड़ी-सी माता होती है। मध्यहृद्स्तर—हृदय की दीवार का सबसे दृढ़ स्तर—रेखित पेशी ऊतकों से बना हुग्रा होता है। हृदय की दीवार के पेशी तंतु संबंधको द्वारा परस्पर जुड़े होते हैं। ग्रस्थिपंजर की पेशियों के विपरीत हृदय की पेशियाँ, हालांकि ये भी रेखित होती है, ग्रनैच्छापूर्वक संकुचित हो जाती हैं। ग्रन्तःहृदय एक महीन संयोजी ऊतक होता है जो ग्रन्तः स्तर द्वारा रेखित होता है। यह हृदय पेशी को रेखित करता है ग्रौर हृदय वाल्व बनाता है।

मानव के हृदय में चार कक्ष होते हैं (चित्र 106)। एक ग्रनुदैर्घ्य काट इसे वाम व दक्षिण ग्रर्धों में विभाजित करता है, जिनका परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है।* शिरा रूधिर दक्षिण ग्रर्ध में प्रवाह करता है, हृदय का प्रत्येक ग्रर्ध दो कक्षों से बना होता है, ऊपर वाले को ग्रलिन्द कहते हैं तथा नीचे वाले कक्ष को निलय कहते हैं। इन दोनों के बीच सम्बन्ध ग्रलिन्द-निलय रंध्र द्वारा बनता है। प्रत्येक ग्रलिन्द की दीवार ग्रागे की ग्रोर एक उठाव बनाती है जिसे ग्रालिन्द कहते हैं। हृदय की पेशी परत निलय के ग्रान्तरिक तल पर उठाव बनाती है। ये पैपिली पेशियाँ होती हैं। दक्षिण निलय की दीवार की तुलना में वाम निलय की दीवार काफ़ी मोटी होती है।

हृदय में प्रवेश करने वाली तथा बाहर निकलने वाली वाहिकाएं. दो सबसे बड़े शिरे—उर्ध्व महाशिरा तथा उर्ध्व निम्न शिरा—जो शरीर के सभी भागों (हृदय की दीवारों के ग्रतिरिक्त) से रूधिर इकट्ठा करती है, दक्षिण ग्रलिन्द में लाती है। स्वयं हृदय की सामान्य शिरा वाहिका—किरीटी कोटर—भी हृदय में रिक्त होती है।

चार फुप्फुस शिरे जो फुप्फुस से हृदय तक धमनी रूधिर ले जाते है वाम ग्रलिन्द में ग्राते हैं।

---

*गर्भ हृदय के दो ग्रलिन्दों के बीच एक छिद्र होता है, जिसे हृदय का ग्रंडाकार रंध्र कहते हैं, यह रंध्र जन्म के बाद बन्द हो जाता है।
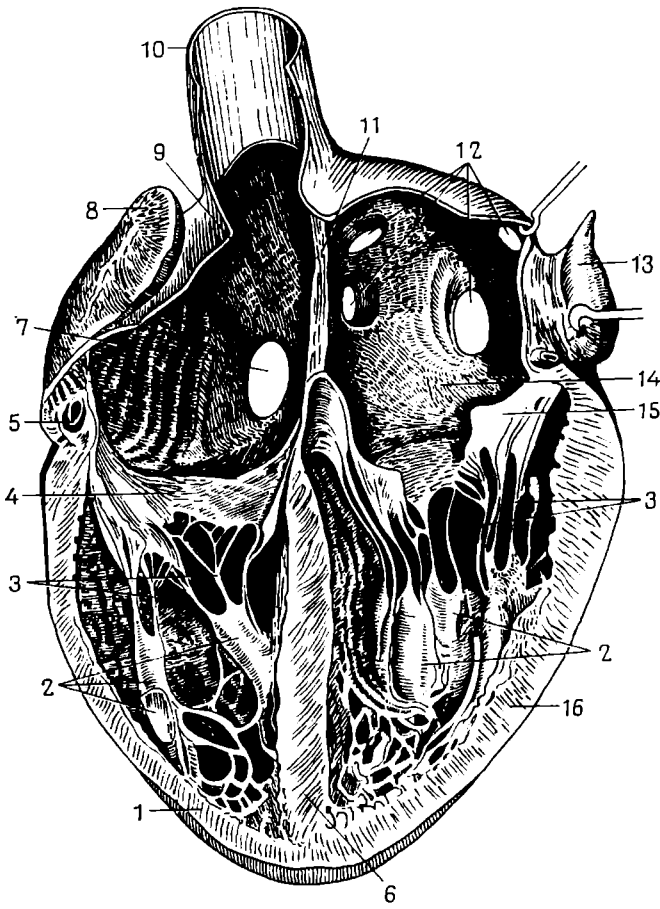
चित्र 106. हृदय (विवृत)

1 – दक्षिण निलय का पेशी ग्रावरण ; 2 – पैपिली पेशी ; 3 – कॉर्डी टेन्डिनी (कंडरा रज्जु) ; 4 – त्रिवलन कपाट ; 5 – दक्षिण किरीटी धमनी (ग्रनुप्रस्थकाट) ; 6 – ग्रन्तरानिलय पट ; 7 – उर्ध्व निम्नशिरा का छिद्र ; 8 – दक्षिण ग्रालिंद ; 9 – दक्षिण ग्रलिन्द ; 10 – उध्र्व महाशिरा ; 11 – ग्रन्तराग्रालिंद पट ; 12 – फुफ्फुस शिरा का छिद्र ; 13 – वाम ग्रालिंद ; 14 – वाम ग्रलिन्द ; 15 – द्वयग्री कपाट ; 16 – वाम निलय का पेशी ग्रावरण।

एक फुफ्फुस कांड (फुफ्फुस धमनी) जिसमें शिरा रूधिर फुफ्फुसों तक जाता है दक्षिण निलय में से निकलता है।

सबसे बड़ी धमनी वाहिका, महाधमनी, जो सामान्य जीव के लिये धमनी रूधिर ले जाती है, वाम निलय में से आती है।

हृदय वाल्व. अलिन्द-निलय रंध्रों तथा उन रंध्रों में, जिनमें से महाधमनी और फुफ्फुस कांड निकलते हैं, अन्तः हृदय की परतें होती हैं जो हृदय वाल्व बनाती हैं। दक्षिण अलिन्द-निलय रंध्र में त्रिवलन वाल्व होता है तथा वाम रंध्र में द्विवलन वाल्व होता है। कण्डरीय रज्जु पपिली पेशियों से इन वाल्वों के वलन तक विस्तरित होता है। फुफ्फुस कांड तथा महाधमनी के रंध्रों में तीन अर्ध-चन्द्र वाल्व होते हैं। त्रिवलन तथा द्विवलन वाल्वों का कार्य रूधिर को निलय में से अलिन्द में वापिस आने से रोकना है। अर्धचन्द्र वाल्व रूधिर को और फुफ्फुस कांड से सदृश निलयों में वापिस नहीं जाने देते। कुछ हृदय रोगों में वाल्व की संरचना परिवर्तित हो जाती है तथा हृदय के कार्य में अवरोध उत्पन्न पैदा करती है (हृदय विकृति)।

हृदय की वाहिकाएं हृदय पेशियाँ सदैव बहुत अधिक श्रम करती हैं। इसीलिये यह विशेषतः आवश्यक है कि इसे निरन्तर ऑक्सीजन तथा पोषक पदार्थ मिलते रहें। हृदय की पेशियों को यह सब विशेष वाहिकाओं में प्रवाह कर रहे रूधिर से मिलता है, न कि हृदय कक्षों से।

हृदय को पहुँचने वाला रूधिर दक्षिण व वाम हृद-धमनी से आता है। ये धमनियाँ महाधमनी के मूल भाग से निकलती हैं तथा हृद-सल्कस में स्थित होती हैं। हृद्-धमनियाँ अन्य अंगों की धमनियों की भाँति छोटी-छोटी शाखाओं में विभाजित हो जाती हैं तत्पश्चात् केशिकाओं में विभाजित हो जाती है। पोषक पदार्थ तथा ऑक्सीजन रूधिर से केशिकाओं की दीवारों के माध्यम से हृदय के ऊतकों में प्रवेश करते हैं तथा अपशिष्ट उत्पाद इसी प्रकार रूधिर में वापिस चले जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप धमनी रूधिर शिरा रूधिर में परिवर्तित हो जाता है। शिरा रूधिर केशिकाओं से हृदय के शिरों में प्रवेश कर जाता है। हृदय के सभी शिरे एक सामान्य शिरा वाहिका में आ मिलतें हैं जिसे किरीटी कोटर कहते हैं और यह दक्षिण अलिन्द में खुलता है। हृदय के रूधिर प्रदाय में अवरोध उत्पन्न हो जाने से इसकी क्रियाविधि में परिवर्तन पैदा होते हैं। कभी-कभी हृद-धमनियों की अन्तरापेक्षीय शाखाओं के ल्यूमन पूर्णतया अधिविष्ट हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप हृदय की पेशी के तदनुरूप भाग की ओर रूधिर के प्रदाय में अवरोध उत्पन्न हो जाता है तथा मध्यहृद्स्तर इन्फार्क्शन (infarction) हो जाता है।

हृदय की सीमाएं. कभी-कभी चिकित्सकों के लिये हृदय की सीमा अग्र वक्ष दीवार पर इसका उठाव निर्धारित करना आवश्यक हो जाता है। हृदय का शिखर पाँचवे अन्तरा शिरीय अवकाश में मध्यअधरकीय रेखा से 8-9 सें० मी० दूर स्थित होता है।

हृदय की ऊपरि सीमा पर्शुका के तीसरे युगल की उपास्थियों की ऊपरी सीमा के साथ-साथ होता है। दक्षिणी सीमा तीसरे से पाँचवे पर्शुका से अधरक (स्टर्नम) की दायीं ओर 1-2 से० मी० तक होती है। वाम सीमा हृदय के शिखर से तीसरे वाम पर्शुका की उपास्थियों की तिरछी रेखा के साथ-साथ होती है।

कुछ रोगों में (उदाहरणतया, हृद्पात में) हृदय बड़ा हो जाता है तथा इसकी सीमाएँ बिखर जाती हैं। हृदय की सीमाएँ निकलने वाली ध्वनियों के आघात तथा मूल्यांकन अथवा एक्स-किरण निरीक्षण द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

हृदय का कार्य

हृदय का कार्य अलिन्द और निलय के लयबद्ध संकुचन तथा विश्रांति से होता है। हृदय के संकुचन को प्रकुंचन कहते हैं तथा विश्रांति को अनुशिथिलन कहते हैं। हृदय के विभिन्न भागों के संकुचन तथा विश्रांति एक निश्चित क्रम में होते हैं। हृदय क्रियाविधि के तीन क्रम होते हैं: क्रम I – दोनों अलिन्दों का एक ही समय में संकुचन तथा अलिन्दों से निलय में रूधिर का गुज़रना जो इस समय शिथिल हो रहे होते हैं।

क्रम II – दोनों निलयों का एक ही समय में संकुचन होना तथा रूधिर महाधमनी एवं फुफ्फुस कांड में प्रवेश करता है और अलिन्द शिथिल होते हैं। क्रम III – निलय शिथिल हो जाते हैं तथा अलिन्द भी शिथिल हो जाते हैं। हृदय की कार्य-विधि की इस अवस्था को सामान्य विराम कहते हैं। सामान्य विराम में रूधिर शिरा वाहिकाओं में से अलिंदों में प्रवेश करता है।

अतः अलिन्दों के प्रकुंचन से निलयों का प्रकुंचन होता है तत्पश्चात् सामान्य विराम की अवस्था आती है (निलयों तथा अलिन्दों का एक ही समय में विराम)। सभी तीनों क्रम हृदय क्रिया का एक ही क्रम बनाते है। निलयों का शिथिलन अर्थात् सामान्य विराम, के बाद अलिन्दों का अगला प्रकुंचन हो जाता है जिसके बाद हृदय क्रियाविधि के सभी क्रम पुनः घटते हैं। अलिन्द प्रकुंचन लगभग 0.1 से० तक होता है, निलय प्रकुंचन 0.3 से. तक होता है तथा सामान्य विराम 0.4 से. तक होता है। अतएव हृदय क्रिया का एक पूर्ण क्रम 0.8 से. तक होता है, इस प्रकार, हृदय के एक मिनट में 75 संकुचन होते हैं। विराम की अवस्था में संकुचन की सँख्या एक मिनट में 60 से 80 तक होती है। हृदय की संकुचन की तीव्रता तथा गति वातावरण की अवस्था के आधार पर निर्भर करती हैं। उदाहरणतया, शारीरिक थकावट हृदय का कार्य बढ़ा देती है। प्रशिक्षण का भी काफ़ी महत्व होता है। शारीरिक प्रशिक्षण प्राप्त किये हुये लोगों में हृदय का कार्य मुख्यतः हृदय संकुचन द्वारा तीव्र हो जाता है तथा हृदय गति के बढ़ जाने से केवल मामूली-सा ही बढ़ता है। जबकि अप्रशिक्षित लोगों में इसके विपरीत होता है, अर्थात् हृदय की गति और अधिक तेज़ हो जाती है।

हृदय की गति उम्र पर भी निर्भर करती है। नवजात शिशु में हृदय एक मिनट में 140 बार संकुचित होता है। प्रायः वृद्ध लोगों में हृदय की गति बढ़ जाती है (प्रति मिनट 90-95 बार तक)।

ऐसे रोगों में जब शरीर का ताप बढ़ जाता है, प्रायः हृदय गति में भी वृद्धि हो जाती है (द्रुत हृदय)। केवल कुछ ही रोगों में हृदय गति कम होती है (हृदमन्दता)। कभी-कभी हृदय संकुचन का नियमित स्वरूप परिवर्तित हो जाता है (लयहीनता)। हृदय के प्रत्येक अर्ध में समान समय के दौरान रूधिर की समान मात्रा प्रवाह करती है। एक संकुचन में एक निलय द्वारा निकाली गई रूधिर की मात्रा स्ट्रोक मात्रा कहलाती है तथा इसका औसत मूल्य 60 मि० ली० होता है। निलय द्वारा एक मिनट में निष्कासित रूधिर की मात्रा हृदय निर्गम कहलाता है। स्ट्रोक मात्रा और प्रति मिनट हृदय के संकुचन की सँख्या का गुणनफल हृदय निर्गम के बराबर होता है।

हृदय पेशी की अवस्था हृदय स्पंद तथा हृदय ध्वनि और विद्युत-हृद-लेख द्वारा ज्ञात की जाती है।

हृदय स्पंद. स्पन्द निलय प्रकुंचन में हृदय का आकार छोटा हो जाता है, इसका शिखर तन्य हो जाता है और स्टर्नम के बायीं ओर पाँचवें अन्तराशिरीय अवकाश में शिखर के उठाव के स्थान पर वक्षीय दीवार पर चोट करता है इस परिघटना को हृदय स्पन्द कहते है। वक्ष पर हाथ रख कर प्रायः हृदय स्पन्द को सुना जा सकता है।

हृदय ध्वनि. हृदय का कार्य ध्वनियाँ उत्पन्न करना है जिन्हें हृदय ध्वनियाँ कहते हैं। इन्हें सुनने के लिये वक्ष पर कान या कोई विशेष उपकरण (स्टेथोस्कोप और फोनेन्डोस्कोप) रखा जाता है। इन ध्वनियों को सुनने की विधि को परिश्रवण कहते हैं।

दो हृदय ध्वनियों में विभेद किया गया है—प्रथम तथा द्वितीय। इनमें से प्रथम निलय प्रकुंचन के आरम्भ में होता है तथा निलयी पेशीन्यास के संकुचन तथा AB वाल्व (अलिन्दनिलय वाल्व) के बन्द हो जाने से निकलती है तथा इसे अनुशिथिलन ध्वनि कहते हैं। प्रथम ध्वनि का तारत्व गहरा होता है तथा यह लम्बी ध्वनि होती है, दूसरी ध्वनि उच्च तारत्व वाली होती है तथा लघु होती है।

कुछ हृदय रोगों में हृदय ध्वनि का स्वरूप बदल जाता है। उदाहरणतया, हृदय पेशी में रोगजनक परिवर्तन होने से ध्वनियों की तीव्रता तथा स्पष्टता कम हो जाती है (वे हल्की हो जाती हैं)। हृदय की विकृतियाँ, जैसे हृदय वाल्व की सामान्य संरचना में परिवर्तन (संकुचित अथवा नष्ट हो जाना, इत्यादि), रंध्रों का संकीर्ण हो जाने के कारण, हृदय की ध्वनि अस्पष्ट हो सकती है तथा ऐसे शोर वाली ध्वनियाँ निकलती हैं जिन्हें गुनगुनाहट ही कहते हैं। हृदय ध्वनियों का स्वरूप हृदय कार्य-विधि की अवस्था को बतलाता है। हृदय का परिश्रवण निरीक्षण करने की एक अतिमहत्वपूर्ण विधि है जिसे चिकित्सक प्रयोग करते हैं।

वैद्युतहृद्लेख. हृदय पेशियों तथा अन्य पेशियों का उत्तेजन तथा परिणामी संकुचन के साथ-साथ एक जैव वैद्युत परिघटना घटती है – जिसे क्रिया विभव कहते हैं। ये विभव शरीर पर चालक होते हैं तथा इन्हें विशेष फिल्म पर विशेष उपकरण द्वारा अंकित किया जा सकता हैं। हृदय के क्रिया विभवों का रिकार्ड एक जटिल वक्र होता है जिसे वैद्युतहृद्लेख कहते हैं (चित्र 107)। स्वस्थ मनुष्य का वैद्युतहृद्लेख पाँच स्थायी तरंगें बनाता है जिन्हें निम्न अक्षरों द्वारा दिखाया जाता है P,Q,R,S तथा T। ये विभिन्न तरंगें हृदय के विभिन्न भागों के संकुचन तथा उत्तेजन से सम्बंधित
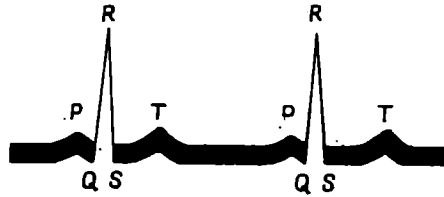
चित्र 107. विद्युत-हृद लेख।

होती हैं। हृदय रोगों की स्थिति में वैद्युतहृद्लेख में परिवर्तन देखने में आते हैं। परिवर्तनों के स्वरूप निश्चित रोग के लाक्षणिक होते हैं। उदाहरणतया, हृदय पेशी को रूधिर प्रदाय में उत्पन्न होने वाले अवरोध के कारण हृदय रोगों का पता वैद्युहृदलेख की सहायता से लगता है। आजकल चिकित्सक वैद्युतहृदलेख का काफ़ी प्रयोग करते हैं। वैद्युतहृदलेख को रिकार्ड करने वाले उपकरण को वैद्युतहृदलेखी कहते हैं।

हृदय स्वचालन. इस पारिभाषिक शब्द का अभिप्राय बाह्य उद्दीपक के बिना लयबद्धता से हृदय के संकुचित होने की विशेषता से है। यह विशेषता पृथक्कृत हृदय पर किये गये प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुई। मेढ़क का हृदय उसके शरीर से अलग किये जाने के बाद कुछ समय तक संकुचित होता रहता है। नियततापी पशुओं के पृथक किये गये हृदय भी स्वतंत्र रूप से स्पंदन करते हैं लेकिन इसके लिये हृद रूधिर वाहिकाओं के तंत्र में एक द्रव ढालने की आवश्यकता होती है जो रूधिर का स्थान ले सके। यह एक विशेष द्रव होता है जिसमें विभिन्न लवण एक नियत सान्द्रता में होते हैं। रूसी वैज्ञानिक अ० कूल्याब्को ने इस विधि का प्रयोग करके एक बच्चे के हृदय को मृत्यु के बाद कई घंटों तक जीवित रखा तथा इसका संकुचन काफ़ी देर तक होता रहा।

वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि हृदय का स्वचालन मुख्यत: इस तथ्य से है कि उत्तेजन स्वयं हृदय में उत्पन्न होता है तथा फिर हृदय पेशी के प्रत्येक भाग तक पहुंच जाता है। हृदय का यह प्रकार्य एक विशेष तथाकथित हृदय के चालन तंत्र (चित्र 108) द्वारा होता है जो तंत्रिका कोशिकाओं तथा विशेष पेशी तंतुओं से बना
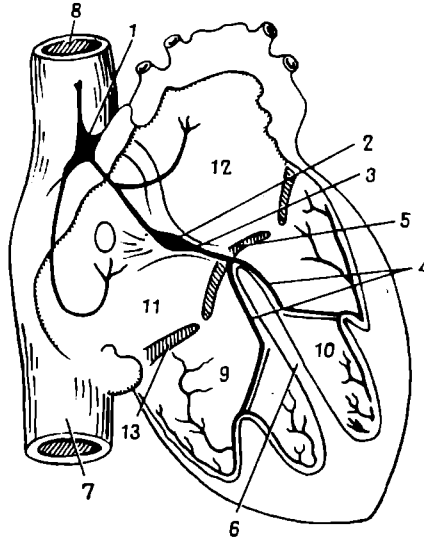
चित्र 108. हृदय का चालन तंत्र

1 – कोटरालिंद पर्व ; 2 – अलिन्द निलय पर्व ; 3 – हिस बंडल ; 4 – हिस बंडल की शाखाएं ; 5 – द्वयग्री कपाट ; 6 – अन्तरानिलय पट ; 7 – उर्ध्व निम्न शिरा ; 8 – उर्ध्व महाशिरा ; 9 – दक्षिण निलय ; 10 – वाम निलय ; 11 – दक्षिण अलिंद ; 12 – वाम अलिन्द ; 13 – त्रिवलन कपाट।

हुआ होता है। इन तंतुओं की संरचना हृदय पेशियों के अन्य तंतुओं की संरचना से पृथक होती है। चालन तंत्र में निम्नलिखित सम्मिलित हैं: अ) उर्ध्व महाशिरा तथा अलिन्द के युग्मन पर स्थित कोटरालिन्द पर्वसंधि ; (कीथ व ब्लैक की पर्व संधि) व) अलिन्द-निलय पर्वसंधि (तवारा पर्वसंधि तथा हिज़ बंडल (Bundle of His)) अलिन्दानिलय पर्वसंधि। हृदय दीवार में दक्षिण अलिन्द तथा निलय के जोड़ पर स्थित होती हैं। हिज़ बंडल अलिन्द-निलय जोड़ पर बनता है तथा अलिन्द-निलय सेप्टम तक विस्तरित होता है जहाँ यह दो शाखाओं में विभाजित हो जाता है जो दक्षिण व वाम निलयों में चली जाती हैं। यह सिद्ध किया जा चुका है कि उत्तेजन कोटरालिंद पर्वसंधि में उत्पन्न होता है तथा वहाँ से चालन तंत्र के अन्य भागों में से गुज़रते हुये हृदय पेशी तक पहुँचना है जिसके फलस्वरूप लयबद्ध संकुचन आरम्भ होता है। चालन तंत्र में रोगजनक परिवर्तनों के कारण हृदय पेशी में उत्तेजन के प्रेषण में रूकावट उत्पन्न हो जाती है, तथा हृदय के विभिन्न भागों में कार्य की लय तथा क्रमबद्धता बदल जाती है। उत्पन्न होने वाली एक स्थिति को हृदय रोध कहते हैं जिसमें अलिन्द की तुलना में निलय धीरे-धीरे संकुचित होता है।

प्रकुंचन (महा) तथा फुफ्फुस (निम्न) परिसंचरण

मानव के शरीर में सभी रूधिर वाहिकाएँ रूधिर परिसंचरण के दो परिपथ बनाती हैं : प्रकुंचन (या महा) परिपथ और फुफ्फुस (या निम्न) परिपथ (प्लेट V)।

प्रकुंचन परिसंचरण महाधमनी से आरम्भ होता है जो वाम निलय से निकलती है तथा सभी अंगों में धमनी रूधिर ले जाती है। महाधमनी अनेक शाखाओं में विभाजित हो जाती है जिन्हें धमनियाँ कहते हैं। अंगों में प्रवेश होकर धमनियाँ और अधिक छोटी शाखाओं में बँट जाती हैं जो फिर केशिकीय जाल बनाती हैं। केशिकाओं से रूधिर, जो अब शिरीय बन गया है, छोटे शिरों में आता है जो बड़े शिरों को बनाते हैं। प्रकुंचन परिसंचरण के सभी शिरों से रूधिर उर्ध्व महा शिरे तथा उर्ध्व निम्न शिरे में इकट्ठा हो जाता है जो दक्षिण अलिन्द में खाली हो जाते हैं।

अतएव प्रकुंचन परिसंचरण वाहिकाओं का एक तंत्र है जिसमें रूधिर वाम निलय से अंगों की तथा अंगों से दक्षिण अलिन्द को आता है।

फुफ्फुस परिसंचरण फुफ्फुस कांड से आरम्भ होता है जो दक्षिण निलय से निकलता है तथा फुफ्फुसों को शिरा रूधिर देता है। धमनी रूधिर फुफ्फुसों से वाम अलिन्द में फुफ्फुस शिरों के माध्यम से जाता है। अन्य शब्दों में, फुफ्फुस परिसंचरण वाहिकाओं का एक तंत्र है जिसमें रूधिर दक्षिण निलय से फुफ्फुसों तक तथा फुफ्फुसों से वाम अलिन्द तक जाता है।

फुफ्फुसी परिसंचरण की वाहिकाएं

फुफ्फुसी महावाहिनी (जिसे पहले फुफ्फुसी धमनी कहते थे) मानवीय रूधिर वाहिकाओं में सबसे अधिक व्यास रखती है। यह दक्षिण निलय से निकल कर चतुर्थ वक्षीय कशेरूक तक जाती है जहाँ यह दक्षिण व वाम फुफ्फुसी धमनियों में बँट जाती है जो क्रमशः फुफ्फुसों में इसके हिलस के माध्यम द्वारा प्रवेश कर जाती हैं।

फुफ्फुस में फुफ्फुसी धमनी छोटी शाखाओं में विभाजित हो जाती है और फिर केशिकाओं के जाल में बँट जाती है जो फुफ्फुसी कूपिका के साथ स्थित होता है। यहाँ पर गैसों का विनिमय होता है—कार्बन डाइआक्साइड रूधिर में से कूपिका में आती है तथा आक्सीजन कूपिका में से रूधिर में जाता है। इसके फलस्वरूप रूधिर शिरा से धमनी रूधिर में बदल जाता है। धमनी रूधिर केशिकाओं से फुफ्फुसी शिरों में प्रवाह करता है।

दो फुफ्फुसी शिरों में से प्रत्येक फुफ्फुस से निकल कर उसके हिलस में से गुज़रते हुये वाम अलिन्द में आ गिरते हैं। धमनी रूधिर फुफ्फुसी शिरों के माध्यम से फुफ्फुसों से हृदय में आता है।
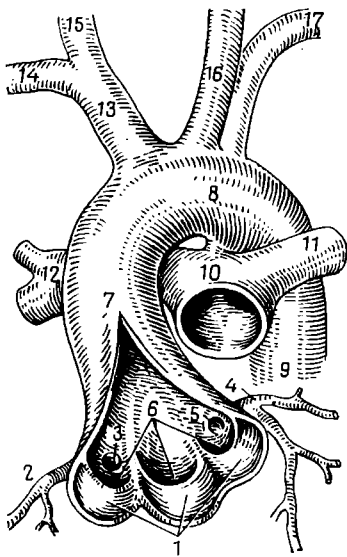
चित्र 109. महाधमनी का आरम्भ तथा फुफ्फुस कांड का भाग

1 – महाधमनी अर्धचन्द्र कपाट ; 2 – दक्षिण हृद्-धमनी ; 3 – दक्षिण हृद्-धमनी का छिद्र ; 4 – वाम हृद्-धमनी ; 5 – वाम हृद्-धमनी का छिद्र ; 6 – अर्धचन्द्र कपाटों और महाधमनी के पक्षों के बीच कोटर (कोष्ठनुमा आयतन) ; 7 – आरोही महाधमनी ; 8 – महा-धमनी की आर्क ; 9 – अवरोही महाधमनी ; 10 – फुफ्फुस कांड (फुफ्फुस धमनी) ; 11 – वाम फुफ्फुस धमनी ; 12 – दक्षिण फुफ्फुस धमनी ; 13 – बाहु-शीर्ष कांड (अनामी धमनी) ; 14 – दक्षिण अधोजत्रुक धमनी ; 15 – वाम सामान्य ग्रीवा धमनी ; 16 वाम अधोजत्रुक धमनी।

प्रकुंचन परिसंचरण की धमनियां

महाधमनी

महाधमनी शरीर की सबसे बड़ी धमनी वाहिका है (चित्र 109)। यह आरोही भाग (आरोही महाधमनी), महाधमनी की आर्क तथा अवरोही भाग (अवरोही महाधमनी) से बनती है। अवरोही महाधमनी अपने क्रम में वक्षीय महाधमनी तथा उदरीय महाधमनी में विभाजित होती है (प्लेट VI)।

वाम निलय से निकल कर आरोही महाधमनी ऊपर की ओर जाती है जबकि यह हृदयावरण में ही रहती है। आरोही महाधमनी का समीपस्थ भाग, महाधमनी बल्ब, अर्धचन्द्र वाल्व के एकदम ऊपर दक्षिण तथा वाम हृदय धमनियों को बनाती हैं जो हृदय को रूधिर देती हैं।

महाधमनी की आर्क आरोही महाधमनी का ही भाग है। यह हृदयावरण के बाहर अग्र फुफ्फुस मध्यावकाश में स्थित होती है तथा वाम श्वसनी के ऊपर आर्क बनाते हुये अवरोही महाधमनी के साथ मिल जाती है। महाधमनी की आर्क तीन बड़ी धमनियों को जन्म देती हैं: अनामी धमनी, वाम मूल ग्रीवा धमनी तथा वाम अधोजत्रुक धमनी।

अनामी धमनी एक छोटी मोटी वाहिका है जो अपने क्रम में दक्षिण मूल ग्रीवा धमनी तथा दक्षिण अधोजत्रुक धमनी में विभाजित हो जाती है (चित्र 109)।

मूल ग्रीवा धमनी ग्रीवा के दोनों ओर ऊपर की तरफ अवटु उपास्थि की उच्च सीमा के स्तर पर चढ़ती है, जहाँ यह दो

शाखाओं में विभाजित हो जाती है: बाह्य ग्रीवा धमनी तथा आन्तरिक ग्रीवा धमनी। रुधिर स्राव रोकने के लिये छठे ग्रैव कशेरूक के अनुप्रस्थ प्रवर्ध पर मूल ग्रीवा धमनी को गुलिका के विपरीत दबाया जाता है।

आन्तरिक ग्रीवा धमनी ग्रीवा में बिना शाखा बनाये ऊपर चढ़ती है, शँखास्थि की ग्रीवा नालिका में से गुज़र कर कपाल कोटर में जाती है और अग्र प्रमस्तिष्क तथा मध्य प्रमस्तिष्क धमनियों में विभाजित हो जाती है जो मस्तिष्क को रूधिर देती हैं। यह नेत्र धमनी में भी विभाजित होती है जो नेत्र रंध्र में से नेत्र कोटर में प्रवेश करती है तथा शाखाओं में विभाजित होती है जो नेत्र गोलक, अश्रु ग्रन्थि, तथा प्रमस्तिष्क भाग में पेशियों तथा त्वचा को रूधिर देती है।

बाह्य ग्रीवा धमनी चिबुकीय शाखा के पीछे कर्णपूर्व ग्रन्थि में से गुज़रकर ऊपर चढ़ती है। अपने मार्ग को तय करते हुये यह अनेक शाखाएँ बनाती है (चित्र 110)। ये हैं: (1) महा अवटु धमनी जो अवटु ग्रन्थि तथा कंठ को रूधिर देती हैं; (2) जिह्वा धमनी जो जिह्वा तथा उपजिह्वा ग्रन्थि को रूधिर देती है; (3) आनन धमनी (बाह्य जंभिका) जो आनन पर जाती है तथा नेत्र के मध्यवर्ती कोने पर आती है और अन्य धमनियों में विभाजित हो जाती है जो अधोजंभ ग्रन्थि, आनन की पेशियों एवं त्वचा, इत्यादि को रूधिर देती हैं, (4) अनुकपाल धमनी, जो अनुकपाल क्षेत्र की त्वचा एवं पेशियों को रूधिर देती है; (5) ग्रसनीय धमनी जो ग्रसनी को रूधिर देती है। ऊपरिलिखित शाखाएँ बनाने के बाद बाह्य ग्रीवा धमनी आन्तरिक जंभिक धमनी और अवास्तविक शंख धमनी में विभाजित हो जाती है। आन्तरिक जंभिक धमनी ऊपरि तथा निचले जबड़ो, दंत, चर्वण की पेशियाँ, नासा कोटर की दीवारें, कठोर व मृदु तालु तथा दृढ़तालुका को रूधिर देती हैं। अवास्तविक शंख धमनी शंख क्षेत्र में अपनी शाखाएँ बनाती हैं।

बाह्य ग्रीवा धमनी की दो शाखाएँ, बाह्य जंभिक तथा अवास्तविक शंख धमनियाँ, आसानी से स्पर्श की जा सकती हैं। बाह्य जंभिक धमनी को चर्वणी पेशी के सामने निचले जबड़े पर दबाया जा सकता है, तथा अवास्तविक शंख धमनी कर्ण पल्लव के सामने शंखास्थि पर दबाया जा सकता है।

अधोजत्रुक धमनी फुफ्फुसों के शिखर के ऊपर दोनों ओर से गुज़रती है। इसकी शाखाएँ निम्न हैं: (1) आन्तरिक स्तन धमनी जो स्तन ग्रन्थि अग्र वक्षीय दीवार तथा हृदयावरण को रूधिर देती है; (2) थायरोग्रैव कांड जो अवटु ग्रन्थि, कंठ तथा ग्रीवा की पेशियों को रूधिर देती है; (3) पर्शु-ग्रैव कांड जो ग्रीवा की पेशियों तथा दो ऊपरि अन्तरा शिरीय पेशियों को रूधिर देती है; (4) अनुप्रस्थ ग्रैवधमनी जो अनुकपाल की पेशियों को रूधिर देती है, तथा (5) कशेरूक धमनी, अधोजत्रुक धमनी की सबसे बड़ी शाखा जो ग्रैव कशेरूक के अनुप्रस्थ प्रवर्ध में कशेरूक-धमनी रंध्रों में से गुज़रती है तथा महारंध्र में से गुज़र कर कपाल कोटर में प्रवेश करती है और कशेरूक रज्जु
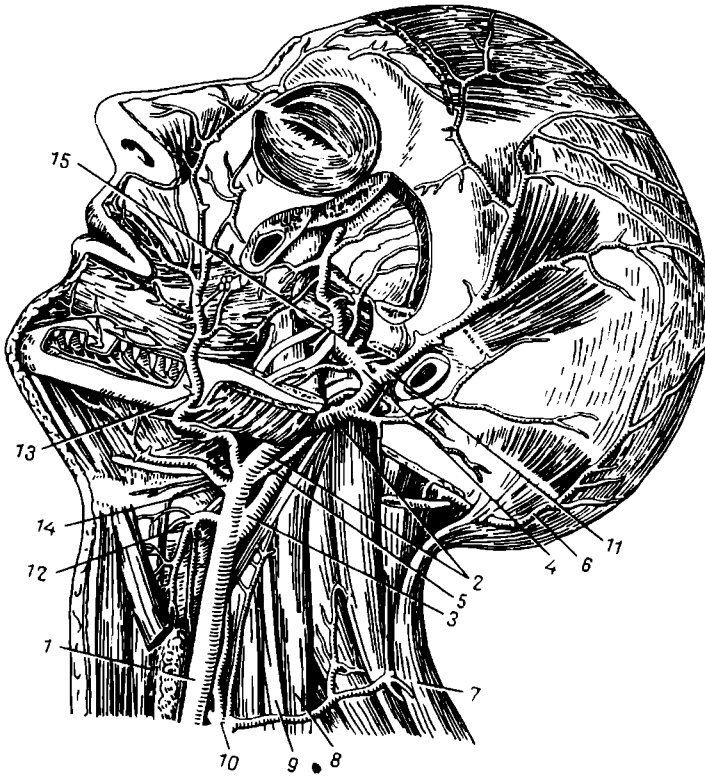
चित्र 110. शीर्ष एवं ग्रीवा की धमनियां

1 – सामान्य ग्रीवा धमनी ; 2 – बाह्य ग्रीवा धमनी ; 3 – आन्तरिक ग्रीवा धमनी ; 4 – जंभिका धमनी ; 5 तथा 6 – अनुकपाल धमनी ; 7 – समलंबिका पेशी ; 8 – मध्यम ग्रीवा पेशी ; 9 – बाहु जालक ; 10 – अवटु ग्रैव कशांड ; 11 – उपरिस्थ शंख धमनी ; 12 – उर्ध्व अवटु धमनी ; 13 – आनन धमनी ; 14 – जिह्वा धमनी ; 15 – डूरा मेटर की ओर जंभिका की शाखा।

अनुमस्तिष्क, तथा प्रमस्तिष्क गोलार्धों को रुधिर देती है। दोनों कशेरुक धमनियाँ मिल जाती हैं और आधारस्थ धमनी बनाती हैं। इस धमनी की शाखाएँ आन्तरिक ग्रीवा धमनी की शाखाओं के साथ मस्तिष्क के आधार पर जुड़ कर विलीम वृत बनाती हैं।

अक्षीय धमनी अक्षीय खात में स्थित होती है और अधोजत्रुक धमनी के साथ जुड़ी हुई होती है। इससे निकलने वाली शाखाएँ अंस मेखला, अंस संधि के कैप्स्यूल पीठ और वक्ष की कुछ निश्चित पेशियों (वृहत् अंसपेशी, लघु अंस पेशी, अग्र ऋकचिनी तथा लैटिसिमस डॉर्साइ) को रुधिर देती हैं। कक्षीय धमनी बाहु धमनी के साथ जुड़ी हुई होती है।

बाहु धमनी (दे० प्लेट VI) बाहु द्विशिरस्क के बीचों-बीच स्थित होती है; इसकी शाखाएँ ऊपरि बाहु (पेशियों त्वचा एवं अस्थियों) को रुधिर देती हैं। बाहु धमनी की सबसे बड़ी शाखा प्रोफुण्डा ब्राकी है जो बाहु त्रिशिरस्क को रुधिर देती है। प्रतिअन्तःप्रकोष्ठिक खात में बाहु धमनी बहिःप्रकोष्ठिक तथा अंतःप्रकोष्ठिक धमनी में विभाजित हो जाती है।

बहिः प्रकोष्ठक और **अंतः प्रकोष्ठिक धमनियां** शाखाएँ बनाती हैं जो अग्रबाहु की पेशियों, त्वचा एवं अस्थियों को रुधिर देती हैं। अग्र बाहु के निम्न तृतीय भाग में बहिः प्रकोष्ठिक धमनी के ऊपर पेशियाँ नहीं चढ़ी होती हैं तथा इसे आसानी से स्पर्श किया जा सकता है। प्रायः स्पंद बहिः प्रकोष्ठिक धमनी से ली जाती है। अग्र बाहु से बहिः प्रकोष्ठिक तथा अन्तः प्रकोष्ठिक धमनियाँ हस्त तक आती हैं जहाँ वे दो धमनीय संखग मोड़ (arches) बनाती हैं: सतही तथा गहरी। ये धमनियाँ अंगुलि एवं करभिका धमनियों में बँट जाती हैं।

वक्षीय महाधमनी और इसकी शाखाएं

वक्षीय महाधमनी कशेरूक स्तम्भ के वक्षीय विभाग के सामने पश्च फुफ्फुस मध्याव-काश में स्थित होती है। यह वक्षीय कोटर (हृदयावरण श्वासनली, श्वसनी, ग्रसिका) की अंतरंग शाखाएँ बनाती हैं तथा वक्षीय कोटर की दीवार की मध्य शाखाएँ बनाती हैं (डायाफ्राम तक जाने वाली 2-3 शाखाएँ और अन्तराशिरीय ध धमनियो के 10 जोड़े)।

डायाफ्राम के कटि-भाग में विशेष रंध्र में से वक्षीय महाधमनी गुज़र कर उदरीय कोटर में प्रवेश करती है जहाँ यह उदरीय महाधमनी बन जाती है।

उदरीय महाधमनी तथा इसकी शाखाएं

उदरीय महाधमनी कशेरूक दंड के कटि भाग के सामने उर्ध्व निम्न शिरे के आगे बायीं ओर स्थित होती है। यह उदरीय कोटर की दीवारों को मध्य शाखाएँ तथा
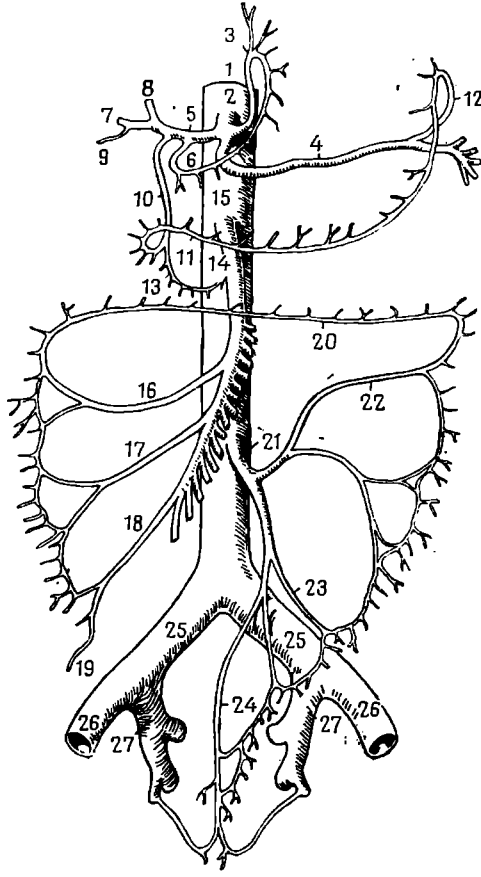
चित्र 111. उदर महाधमनी की शाखाएं (आरेख)

1 – उदर महाधमनी; 2 – उदरगुहा कांड; 3 – वाम जठर धमनी; 4 – प्लीहा धमनी; 5 – यकृत् धमनी; 6, 7, 8, 9, 10, 11, 13 तथा 14 – (यकृत्, पित्ताशय, आमाशय, अग्न्याशय तथा ग्रहणी की ओर) यकृत धमनी की शाखाएं; 12 – आमाशय की ओर प्लीहा धमनी की शाखा; 15 – ऊर्ध्व आंत्रयोजनी धमनी; 16, 17, 18, तथा 19 – (अनुप्रस्थ तथा आरोही वृहतांत्र, अंधनाल और कृमिरूप परिशेषिका की ओर) ऊर्ध्व आंत्रयोजनी धमनी की शाखाएं; 20 – ऊर्ध्व तथा निम्न आंत्रयोजनी धमनियों के बीच शाखामिलन; 21 – निम्न आंत्रयोजनी धमनी; 22, 23, 24 – निम्न आंत्रयोजनी धमनी की शाखा (अवरोही वृहदंत्र परिशेषिका तथा मलाशय की ओर); 25 – सामान्य श्रोणीय धमनी; 26 – बाह्य श्रोणीय धमनी; 27 – आन्तरिक श्रोणीय धमनी।

ıसके अंगों को अंतरंग शाखाएँ देती हैं (चित्र 111)। मध्य शाखाएँ डायाफ़ाम एवं कटि धमनियों के चार जोड़ों की शाखाएँ हैं।

उदरीय महाधमनी की **अंतरंग शाखाएं** युगमी तथा अयुगमी वाहिकाओं में विभाजित होती हैं।

तीन युगमी शाखाएँ होती हैं: (1) **अधिवृक्कीय धमनियां** जो अधिवृक्कीय ग्रन्थि को रूधिर देती हैं; (2) **वृक्कीय धमनियां** जो वृक्क को रूधिर देती हैं; (3) **आन्तरिक पुमणु धमनियां** जो यौन ग्रन्थियों को रूधिर देती हैं (पुरूषों में ये वंक्षण नलिका में से निकल कर वृषण तक पहुँचती हैं, स्त्रियों में ये वास्तविक श्रोणि के कोटर में उतर कर अण्डाशय तक जाती हैं)।

तीन अयुगमी शाखाएँ भी होती हैं: (1) **उदरगुहा धमनी** जो डायाफ़ाम के एकदम नीचे महाधमनी से निकलती है तथा तीन शाखाओं में बँट जाती है – (अ) वाम जठर धमनी, (ब) प्लीहा धमनी, तथा (स) यकृत् धमनी, जो उदरीय कोटर के ऊपरि भाग के अयुगमी अंगों को रूधिर देती हैं (यानी आमाशय, प्लीहा, यकृत्, पित्ताशय, अग्न्याशय तथा ग्रहणी के कुछ भागों को); (2) **महा अन्त्रयोजनी धमनी** जो अन्धनाल और उसके कृमिरूप परिशेषिका, आरोही तथा अनुप्रस्थ बृहदंत्र, ग्रहणी की शाखाएँ और मध्यान्त्र तथा श्रोणिअस्थि को अनेक शाखाएँ (15-20 तक) देती हैं; (3) **निम्न अन्त्रयोजनी धमनी** अवरोही बृहदंत्र, अवग्रहरूपी बृहदंत्र और मलाशय के ऊपरी भाग को शाखाएँ देती है।

इसके बाद उदरीय महाधमनी चतुर्थ कटि कशेरूक के स्तर पर दक्षिण व वाम सामान्य श्रोणिय धमनियों में विभाजित हो जाती है। इनमें से प्रत्येक धमनी अपने क्रम में सेक्रमी-श्रोणी संधि के स्तर पर आन्तरिक व बाह्य श्रोणीय धमनियों में विभाजित हो जाती है।

आन्तरिक श्रोणीय धमनी वास्तविक श्रोणि कोटर से निकलती है जहाँ यह अनेक शाखाओं में बँटती है। ये शाखाएँ वास्तविक श्रोणि की दीवारों एवं अंगों को रूधिर देती हैं: श्रोणि मेखला की नितंबिका तथा अन्य पेशियों, मलाशय के निम्न भागों, मूत्राशय, मूत्रमार्ग, गर्भाशय, योनि, प्रास्टेट ग्रन्थि शिश्न और मूलाधार ग्रन्थि को। आन्तरिक श्रोणीय ग्रन्थि की एक शाखा, श्रोणिरंध्रीय ग्रन्थि ऊरू तक विस्तरित होती है जहाँ यह श्रोणि संधि तथा ऊरू अभिवर्तनियों को रूधिर देती है।

बाह्य श्रोणीय धमनी आन्तरिक उदरीय दीवार में शाखाएँ बनाती है तथा वंक्षण स्नायु के नीचे ऊरू तक विस्तरित होती है। ऊरू तक पहुँच कर इसका नाम ऊरू धमनी हो जाता है।

ऊरू धमनी की शाखाएँ ऊरू (पेशियों, त्वचा एवं अस्थियों) को रूधिर देती हैं। ऊरू धमनी की सबसे बड़ी शाखा गहरी ऊरू धमनी कहलाती है। यह भी अपने क्रम में अनेक शाखाओं में विभाजित हो जाती है जो मुख्यतः ऊरू को रूधिर देती है।
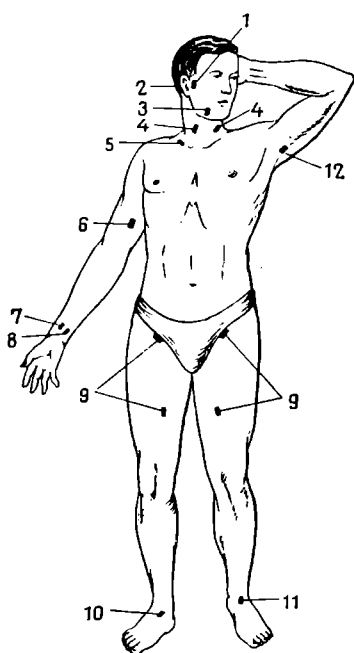
चित्र 112. वे बिन्दु जहां पर धमनियों को दबाया जाये ताकि स्राव रूक जाए।

1 – उपरिस्थ शंख ; 2 – अनुकपाल ; 3 – आनन ; 4–ग्रीवा ; 5–अधोजत्रुक; 6 – बाहु ; 7 – अरीय ; 8 – अंत: प्रकोष्ठिका ; 9 – उरू ; 10,11 – डॉर्सालिस पेडीस ; 12 – काक्षिक।

रूधिर स्राव रोकने के लिये ऊरू धमनी का आरम्भिक भाग जंघास्थि के ऊप दबाना चाहिये।

ऊरू धमनी आगे चल कर जानुपृष्ठीय धमनी के साथ जुड़ जाती है जो जानुष्टष्ठ खात में स्थित होती है।

जानपृष्ठीय धमनी जानु संधि में शाखाएँ बनाती है तथा अग्र एवं पश्च अन्तर्जंघिका धमनियों में विभाजित हो जाती है। ये दोनों धमनियाँ जंघा के क्रमश: पार्श्व में पेशियों के बीच से गुज़रती हैं तथा जंघा (पेशियों, त्वचा और अस्थियों) में रूधिर देती हैं। पश्च अन्तर्जंघिका धमनी अपेक्षाकृत बड़ी वाहिका को जन्म देती है जिसे पाद विवर्तनी धमनी कहते हैं। अग्र अन्तर्जंघिका धमनी पैर के पृष्ठ तक विस्तरित होती है जहाँ इसे डॉर्सालिस पेडिस धमनी कहते हैं। पश्च अन्तर्जंघिका आन्तरिक गुल्फवर्ध के चारों ओर होती है तथा मध्यवर्ती और पार्श्व पादतल धमनियों में विभाजित हो जाती है। डार्सालिस पेडिस तथा पादतल धमनियाँ पैर को रूधिर देती हैं।

मानव शरीर में अधिकांश धमनियाँ पेशियों के बीच स्थित होती हैं। केवल कुछ ही स्थानों में ये सतह पर अस्थियों के समीप होती हैं। इन बिन्दुओं पर स्पंद नोट की जा सकती है तथा दबाने से स्राव रोका जा सकता है (चित्र 112)।

प्रकुंचन परिसंचरण के शिरे

प्रकुंचन परिसंचरण की सभी शिरीय वाहिकाएँ सम्मिलित होकर मानव शरीर के दो सबसे बड़े शिरे बनाती हैं:—उर्ध्व महा शिरा तथा उर्ध्व निम्न शिरा। (दे० प्लेट VII)। इसीलिये इन्हें दो विन्यासों में देखा जाता है: उर्ध्व महा शिरा विन्यास तथा उर्ध्व निम्न शिरा विन्यास निवाहिका शिरा विन्यास उर्ध्व निम्न शिरे से पृथक देखा जाता है। शिरों को सतही तथा गहरे शिरों में विभाजित किया गया है। नियमत:

गहरे शिरे धमनियों के साथ स्थित होते हैं तथा इनको वही नाम दिये जाते हैं जो धमनियों के होते हैं। केवल कुछ शिरे ही धमनियों से अलग स्थित होते हैं या धमनियों के नामों से भिन्न नाम वाले होते हैं। अनेक धमनियाँ एक नहीं अपितु दो समान नाम वाले शिरों के साथ होती हैं।

सतही शिरे त्वचा के नीचे स्थित होते हैं तथा उपचार के समय दवाईयाँ आदि को इनमें प्रवेश कराया जा सकता है।

यह स्मरण रहे कि शिरों में रूधिर के प्रवाह की दिशा धमनियों में प्रवाह के विपरीत होती है यानी शिरों में प्रवाह अंगों से हृदय में जाता है।

चित्र 113. भुजा के उपरिस्थ शिरे

1 – शिरस्थ शिरा ; 2 – अंतर्बाहु शिरा ; 3 – मध्योतर रिशा।

ऊर्ध्व महा शिरा विन्यास

ऊर्ध्व महा शिरा विन्यास अग्र फुफ्फुस मध्यावकाश में स्थित होता है तथा दक्षिण अलिन्द में रिक्त होता है। यह दो अनामी शिरों की संधि द्वारा बनता है (दक्षिण एवं वाम)। अयुगमी शिरा उर्ध्व महा शिरा में रिक्त होता है। प्रत्येक अनामी शिरा अपने क्रम में आन्तरिक युज्ञ शिरे और एक अधोजत्नुक शिरे की संधि द्वारा बनता है।

आन्तरिक युज्ञ शिरा ग्रीवा के प्रत्येक पार्श्व में सामान्य ग्रीवा धमनी के साथ-साथ होता है तथा सिर (मस्तिष्क सहित) आनन और ग्रीवा के क्रमशः अर्ध में रूधिर इकठ्ठा करता है।

अधोजत्रुक शिरा बाहु अंस मेखला तथा ग्रीवा के भाग से रूधिर इकठ्ठा करता है।

बाहु के गहरे शिरे युग्मित होते हैं तथा समान-नामी धमनियों के साथ-साथ स्थित होते हैं। बाहु के तीन सतही शिरों का उल्लेख आवश्यक है: शिरस्थ शिरा, अन्तर्बाहु शिरा तथा मध्य अन्तः प्रकोष्ठिकीय शिरा जो उन्हें जोड़ता है (चित्र 113)। शिरस्थ शिरा का उद्गम हस्त के पृष्ठ पर होता है, अग्र बाहु तथा ऊपरि बाहु के पार्श्व में ऊपर चढ़ता हैं तथा जत्नुक के नीचे कक्षीय शिरे में रिक्त होता है। अन्तर्बाहु शिरा हस्त के पृष्ठ पर उत्पन्न होता है, अग्र बाहु के मध्य में ऊपर चढ़ता है तथा बाहु शिरे में ऊपरी बाहु के आधे भाग तक पहुँच कर रिक्त होता है।

टीके तथा रूधिर संचरण पूर्व-ग्रन्तर्बाहु खात के क्षेत्र में बाहु के सतही शिरों में दिये जाते है।

ग्रधोजत्रुक शिरा ग्रीवा के सबसे बड़े सतही शिरों से रूधिर प्राप्त करता है: ग्रग्र युग्न तथा बाह्य युग्न शिरों से प्राप्त करता है।

ग्रयुग्म शिरा कशेरूक दंड की दायीं ग्रोर पश्च फुफ्फुस मध्यावकाश में स्थित होता है। इसमें ग्रर्धायुग्मी शिरा ग्रा कर मिलता है, जो कशेरूक-दंड के बायीं ग्रोर होती है। ये दोनों शिरे वक्षीय कोटर की दीवारों एवं ग्रंगों से शिरीय रूधिर लेते हैं (प्लेट VII)।

ग्रतएव उध्र्व महाशिरा हृदय को शरीर के ऊपरि भाग से शिरीय रूधिर देती है—यानी सिर, ग्रानन, ग्रीवा ऊपरि ग्रग्रांग वक्षीय कोटर की दीवारों तथा ग्रंगो से हृदय के शिरे स्वयं ही ग्रपवाद होते हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है ये शिरे एक हृदय की सामान्य शिरीय वाहिका बनाते हैं जिसे किरीटी कोटर कहते है जो स्वतंत्र रूप से दक्षिण ग्रलिन्द में रिक्त होता है।

निवाहिका शिरा तंत्र

निवाहिका शिरा लघु ग्रोमेन्टम के दक्षिण भाग में उदरीय कोटर में स्थित होता हैं। यह निम्न ग्रयुग्मित ग्रंगों से शिरीय रूधिर इकठ्ठा करता है: ग्रमाशय, क्षुद्रांत्र, बृहदांत्र (मलाशय के निचले भाग के ग्रतिरिक्त), प्लीहा, ग्रग्न्याशय तथा पित्ताशय (चित्र 114)। निवाहिका शिरा यकृत् में इसके द्वार में से प्रवेश करता है तथा छोटी शाखाग्रों में विभाजित हो जाता है जो यकृत की पालिकाग्रों में केशिकीय जाल बनाती हैं। इसके बाद रूधिर केन्द्रिय यकृतीय शिरों में से गुज़रते हुये उध्र्व निम्न शिरे में जाने वाले 2–3 यकृतीय शिरों में प्रवेश करता है। यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य परिसंचरण में प्रवेश करने से पूर्व उदरीय कोटर के ग्रयुग्मित ग्रंगों में से शिरीय रूधिर यकृत में से गुज़रता है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है यकृत ग्रपना रक्षी प्रकार्य इस प्रकार पूर्ण करता है, ग्रौर उपापचय ग्रादि क्रियाग्रों में भाग लेता है। बृहद्रांत्र से निवाहिका शिरे में ग्राने वाले विषैले पदार्थ ग्राविष हो जाते है तथा क्षुद्रांत्र से निवाहिका शिरे द्वारा लाया गया ग्लूकोस ग्लाईकोजेन में रूपांतरित हो जाता है, इत्यादि।

ऊर्ध्व निम्न शिरा तंत्र

ऊर्ध्व निम्न शिरा महाधमनी की दायीं ग्रोर उदरीय कोटर में स्थित होता है, ग्रौर यह डायाफ्राम के कंडरीय केन्द्र के रंध्र में से गुज़रता है ग्रौर वक्षीय कोटर में प्रवेश करता है तथा दक्षिण ग्रलिन्द में रिक्त हो जाता है। यह दो सामान्य श्रोणीय
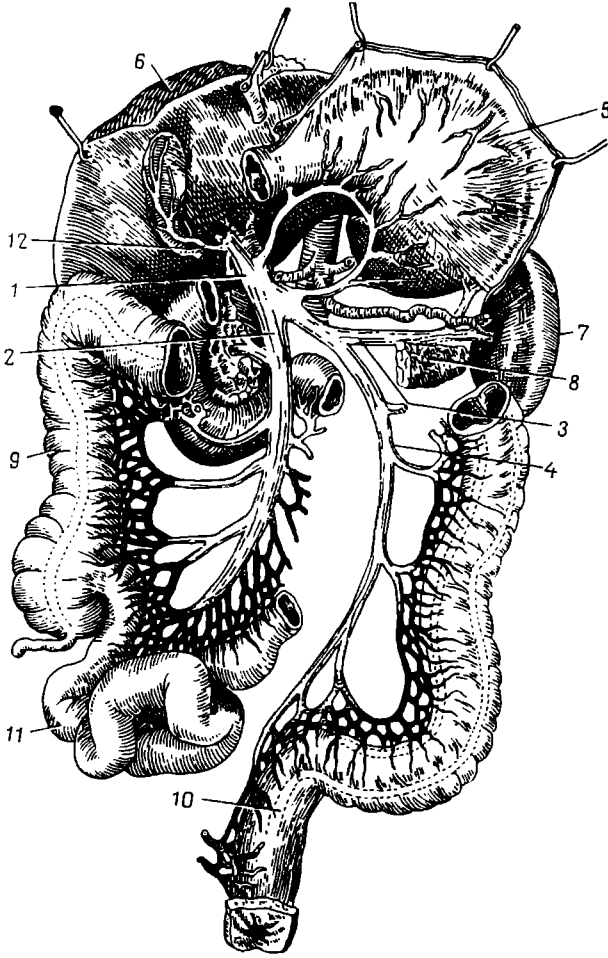
चित्र 114. निवाहिका शिरा तंत्र (अग्र दृश्य)

1 – निवाहिका शिरा; 2 – ऊर्ध्वआंत्रयोजनी शिरा; 3 – प्लीहा शिरा; 4 – निम्न आंत्रयोजनी शिरा; 5 – आमाशय (ऊपर की ओर मुड़ा हुआ); 6 – यकृत्; 7 – प्लीहा; 8 – अग्न्याशय की पुच्छ; 9 – आरोही वृहदंत्र; 10 – मलाशय (ऊपर का भाग); 11 – क्षुदांत्र की लूप; 12 – पित्ताशय की शिरा।

शिरों (दक्षिण तथा वाम) के युग्मन से बनता है। प्रत्येक सामान्य श्रोणीय शिरा अपने क्रम में आन्तरिक तथा बाह्य श्रोणीय शिरों की संधि से बनता है।

प्रत्येक **आन्तरिक श्रोणीय शिरा** दीवारों के अपने अर्ध तथा यथार्थ श्रोणि से रक्त प्राप्त करता है।

बाह्य श्रोणीय शिरा सम्पूर्ण पैर से शिरीय रूधिर ले लेता है। पैर के गहरे शिरे समान नाम वाली धमनियों के साथ-साथ होती है। पाद के सतही शिरों में सेफीना मैग्ना (saphene magna) एवं सेफीना पर्वा (saphene parva) की गिनती होती है। सेफीना मैग्ना पैर के पृष्ठ पर आरम्भ होती है, मध्यांग तथा जंघा के मध्यवर्ती पार्श्व पर आकर अंडाकार खात के क्षेत्र में उर्विका शिरे में रिक्त हो जाती है। साफीना पर्वा मध्यांग के पश्च भाग में स्थित होता है तथा जानुपृष्ठ खात के क्षेत्र में जानुपृष्ठ शिरे के साथ जुड़ जाती है। सेफीना मेग्ना में टीके लगाये जा सकते हैं।

उदरीय कोटर में उध्र्व निम्न शिरा उदरीय महाधमनी की युग्मित शाखाओं के क्रमश: शिरों के साथ (जैसे कटि, आन्तरिक वृषण, वृक्कीय तथा अधिवृक्कीय, इत्यादि) और ऊपरिलिखित यकृती शिरों के साथ जुड़ा होता है।

अतएव उध्र्व निम्न शिरा हृदय को शिरीय रूधिर शरीर के निम्न भागों – निम्न अग्रांगों, यथार्थ श्रोणि की दीवारों एवं अंगों, उदरीय कोटर की दीवारों तथा अंगों – से देता हैं।

गर्भ में रूधिर परिसंचरण

गर्भ अपरा के माध्यम से माता के जीव से पोषक पदार्थ तथा आक्सीजन प्राप्त करता है। अपशिष्ट पदार्थ का निकास भी अपरा के माध्यम से होता है। गर्भ तथा अपरा परस्पर नाभि-रज्जु द्वारा जुड़े होते हैं जिसमें दो नाभि धमनियाँ तथा एक नाभि शिरा होता है। गर्भ से अपरा को रूधिर नाभि धमनियों द्वारा जाता है तथा अपरा से गर्भ को नाभि शिरे द्वारा जाता है।

गर्भ के हृदवाहिका तंत्र की कुछ विशेषताएँ हैं। दक्षिण व वाम अलिन्दों में परस्पर सम्बन्ध उनकी विभाजिका में विद्यमान अंडाकार रंध्र द्वारा होता है। फुफ्फुसी कांड (विभाजनपूर्व) तथाकथित धमनी वाहिनी के माध्यम से महा धमनी की आर्क के साथ सम्बंधित होता है। गर्भ में रूधिर परिसंचरण निम्न प्रकार होता है (चित्र 115)। धमनी रूधिर, जो पोषक पदार्थ और आक्सीजन ले जाता है, नाभि शिरे द्वारा अपरा से गर्भ की ओर प्रवाह करता है। गर्भ के यकृत के समीप नाभि शिरा दो शखाओं में विभाजित हो जाता है जिनमें से एक यकृत की ओर जाती तथा दूसरी, तथाकथित शिरा वाहिनी, उध्र्व निम्न शिरा में रिक्त होती है। अत: उध्र्व निम्न शिरे में रूधिर धमनी रूधिर के साथ मिल जाता है। उध्र्व निम्न शिरे से यह मिश्रित रूधिर दक्षिण अलिन्द में प्रवेश कर जाता है, और फिर अंडाकार रंध्र के माध्यम से वाम
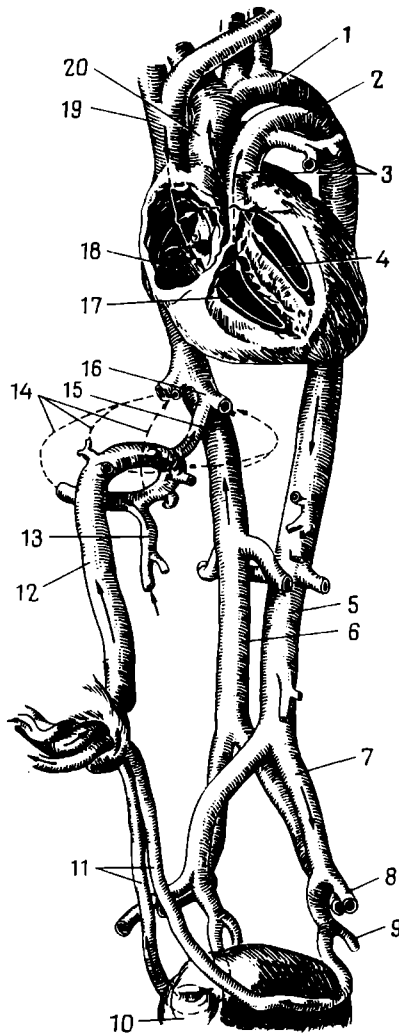
चित्र 115. गर्भ में रूधिर परिसंचरण का आरेख
1 – महाधमनी की आर्क ; 2 – धमनी वाहिनी (बोटॅलो वाहिनी) ; 3 – फुफ्फुस कांड ; 4 – वाम निलय ; 5 – उदर महाधमनी ; 6 – ऊध्र्व निम्न शिरा ; 7 – सामान्य श्रोणीय धमनी ; 8 – बाह्य श्रोणीय धमनी ; 9 – आंतरिक श्रोणीय धमनी ; 10 – आशय ; 11 – नाभि धमनियां ; 12 – नाभि शिरे ; 13 – निवाहिका शिरा ; 14 – यकृत् में निवाहिका शिरे की शाखाएं ; 15 – शिरा वाहिका ; 16 – यकृत् शिरा ; 17 – दक्षिण निलय ; 18 – दक्षिण अलिंद ; 19 – उध्र्व महाशिरा ; 20 – आरोही महाधमनी ; 21 – रूधिर परिसंरचरण की दिशा तीर द्वारा निर्दिष्ट की गयी है ।

अलिन्द में चला जाता है, जहाँ से यह वाम निलय और महाधमनी में जाता है। गर्भ का उर्ध्व महा शिरा, वयस्क के उर्ध्व महा शिरे की भाँति, शिरीय रूधिर ले जाता है जो दक्षिण अलिन्द, दक्षिण निलय तथा फुफ्फुसी काँड में प्रवेश करता है। चूंकि फुफ्फुस कार्य नहीं करते हैं इसीलिये रूधिर की केवल थोड़ी-सी मात्रा ही उनमें फुफ्फुसी कांड से जाती है, जबकि इसकी अधिकांश मात्रा धमनी वाहिनी के माध्यम से महाधमनी की आर्क में चली जाती है। इस प्रकार फुफ्फुसी कांड में से शिरीय रूधिर महाधमनी की आर्क में प्रवाह कर रहे मिश्रित रूधिर में मिल जाता है, जिसके परिणामस्वरूप अवरोही महाधमनी कम आक्सीजन वाला रूधिर प्राप्त करती है। गर्भ के तंत्रबद्ध परिसंचरण की सभी धमनियों में मिश्रित रूधिर होता है, आरोही महाधमनी का रूधिर, महाधमनी की आर्क तथा उनकी शाखाओं में वक्षीय तथा उदरीय महाधमनियों तथा उनकी शाखाओं की तुलना में अधिक आक्सीजन होती है। नाभि धमनियाँ जो गर्भ से अपरा कों रूधिर देती है, आन्तरिक श्रोणीय धमनियों की शाखाएँ होती हैं।

जन्म के बाद नाभि रज्जु बाँध कर काट दिया जाता है तथा अपरा के साथ इसका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। फुफ्फुस श्वसन आरम्भ कर देते हैं। जन्म के एकदम बाद अन्तराअलिन्द विभाजिका में अंडाकार रंध्र बंद हो जाता है, तथा धमनी तथा शिरा वाहिनियाँ लुप्त हो कर स्नायु में रूपांतरित हो जाती हैं। दोनों दैहिक तथा फुफ्फुसी परिपथ समान रूप से कार्य करते हैं।

जन्म के बाद अंडाकार रंध्र का खुले रहना या धमनी वाहिनी की विद्यमानता बने रहना जन्मजात असंगति है।

रूधिर वाहिकाओं में रूधिर परिसंचरण

व रूधिर वाहिकाओं में रूधिर की गति हृदय के लयबद्ध कार्य से होती है। संकुचन के समय हृदय रूधिर को दाब के साथ धमनियों में भेजता है। रूधिर को दी गई ऊर्जा रूधिर वाहिकाओं में रूधिर के गति करने के साथ ही व्यय हो जाती है। इस ऊर्जा का अधिकांश भाग स्वयं रूधिर कणों के बीच तथा वाहिकाओं की दीवारों के बीच घर्षण पर काबू पाने में व्यय हो जाता है। शेष ऊर्जा रूधिर प्रवाह को गति देने में व्यय हो जाती है। परिपथ के आरम्भ में रूधिर दाब अधिकतम होता है तथा धीरे-धीरे कम होता रहता है और परिपथ के अंत पर न्यूनतम हो जाता है। उदाहरणतया, महाधमनी में रूधिर का दाब 150 मि० मी० पारा होता है, मध्यम व्यास वाली धमनियों में यह 120 मि० मी० पारा होता है, तथा धमनिकाओं में यह 40 मि० मी०, केशिकाओं में 20 मि० मी०, शिरों में और भी कम तथा सबसे बड़े शिरों में वायुमंडलीय दाब से भी कम होता है यानी नकारात्मक होता है।

वाहिका तंत्र के विभिन्न भागों में रूधिर दाब में अंतर परिसंचरण के कारण ही होता है। रूधिर अधिक दाब से कम दाब की दिशा में प्रवाह करता है।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि शिरों में रूधिर की गति के हृदय के कार्य के अतिरिक्त अन्य कारण भी होते हैं। इनमें से एक कारण वक्ष का चूषण कार्य है, जो इस तथ्य पर आधारित है कि निश्वसन के समय वक्षीय कोटर में यह दाब वायुमंडलीय दाब से कुछ कम होता है। वक्षीय कोटर में नकारात्मक दाब के कारण दक्षिण अलिन्द में रिक्त होने वाले शिरों में दाब कम हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप रूधिर हृदय में प्रवेश कर जाता है।

शिरों में रूधिर के प्रवाह पर संलग्न पेशियों का भी प्रभाव पड़ता है। शिरों की दीवारे पतली व अधिक तन्य होती हैं, और इसीलिये संकुचित पेशियाँ आसानी से शिरों को दबा सकती हैं और हृदय की दिशा में रूधिर को भेज सकती हैं। शिरीय रूधिर को वाल्व द्वारा वापिस प्रवाहित न होने से रोका जाता है जो केवल रूधिर प्रवाह
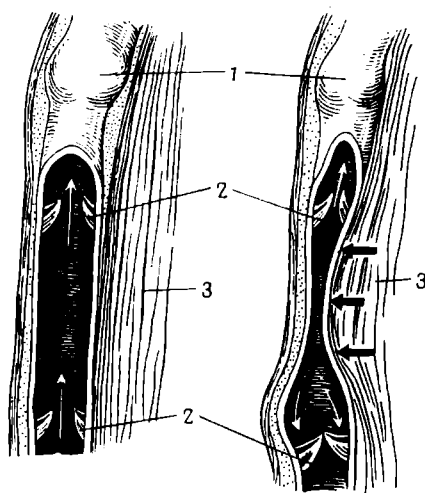
चित्र 116. शिरा कपाट की क्रिया का आरेख

1 – शिरा जिसका निम्न भाग खुला हुआ है; 2 – शिरा कपाट; 3 – पेशी (बायीं ओर – आराम की अवस्था में, दायीं ओर – संकुचित अवस्था में)। काले तीर शिरे पर संकुचित पेशी द्वारा शिरे पर बनने वाले दाब को निर्दिष्ट करते हैं, तथा सफेद तीर शिरे में रूधिर परिसंचरण की दिशा दर्शाते हैं।

की दिशा में ही खुलते हैं (चित्र 116)। वाल्वों की विद्यमानता का निम्न अग्रांगों के शिरों में विशेष महत्व हैं क्योंकि इन शिरो में रूधिर ऊपर की दिशा में प्रवाह करता है।

हृदय से महा धमनी और फुफ्फुसी काँड में रूधिर झोंकों में निकलता है, लेकिन रूधिर वाहिकाओ में इसका प्रवाह निरन्तर होता है।

रूधिर प्रवाह की निरन्तरता इस तथ्य पर आधारित होती है कि धमनी दीवारें तन्य होती हैं: ये आसानी से फैल जाती हैं और फिर अपने सामान्य स्वरूप में आ जाती हैं। जब हृदय से रूधिर प्रेषित होता है तो धमनी दीवारों पर रूधिर दाब बढ़ जाता है तथा वे फैल जाती हैं। निलय अनुशिथिलन के समय हृदय से थोड़ा-सा भी रूधिर वाहिकाओं में प्रवेश नहीं करता तथा उनकी दीवारों पर दाब कम हो जाता है। दीवारों की तन्यता के कारणवश् वाहिकाएँ अपना प्रारंभिक स्वरूप प्राप्त कर लेती हैं और उसी समय रूधिर पर दाब डालती है और उसे आगे प्रेषित करती हैं। अतएव, रूधिर की गति निरन्तर बनी रहती है।

रूधिर प्रवाह की चाल दो प्रकार की होती है; रैखिक तथा आय तनमापी। रैखिक चाल से अभिप्राय है वह चाल जिससे रूधिर रूधिर-प्रणाली में गति करता है। रूधिर प्रवाह की रैखिक चाल परिसंचरण तंत्र के विभिन्न भागों में विभिन्न होती है तथा मुख्यतः वाहिकाओं के ल्यूमेनों के कुल आकार पर आधारित होती है। वाहिका का ल्यूमेन जितना छोटा होगा, रूधिर प्रवाह की चाल उतनी ही अधिक तीव्र होती है तथा विलोमतः। रूधिर प्रवाह की चाल महाधमनी में सबसे तीव्र होती है – लगभग 0.5 मी० प्रति सेकेण्ड। धमनियों में जिनका कुल ल्युमेन महाधमनी के ल्यूमेन से अधिक होता है, रूधिर की चाल धीमी होती है – औसतन 0.25 मी० प्रति सेकेण्ड। चूँकि केशिकाओं का कुल ल्यूमेन अन्य वाहिकाओं के कुल ल्यूमेन से बहुत बड़ा है तो इनमें रूधिर प्रवाह की चाल सबसे धीमी होती है: केवल 0.5 मि० मी० प्रति सेकेण्ड (महाधमनी की तुलना में 1000 गुना कम)। धमनियों की तुलना में शिरों में रूधिर प्रवाह धीमा होता है – लगभग 0.2 मी० प्रति सेकेण्ड।

रूधिर की आयतनी चाल रूधिर की वह मात्रा सूचित करती है जो समय की प्रति इकाई में वाहिका के प्रति इकाई अनुप्रस्थ काट से गुज़रती है। इसका मूल्य महाधमनी, फुफ्फुसी कांड, धमनियों, केशिकाओं तथा शिरों में समान होता है।

रूधिर दाब

रूधिर वाहिकाओं में प्रवाह कर रहा रूधिर उनकी दीवारों पर एक निश्चित दाब डालता है। प्रेक्षण से ज्ञात हुआ है कि सामान्यतः रूधिर दाब स्थायी रहता है, तथा इसमें यदि कोई परिवर्तन होता है तो यह परिवर्तन नगण्य होता है। रूधिर दाब के दो आधारभूत कारण हैं: (1) हृदय में से उसके संकुचन द्वारा रूधिर को निष्कासन करने का बल; तथा (2) रूधिर वाहिकाओं की दीवारों का प्रतिरोध, जिस पर रूधिर को प्रवाह करते समय काबू पाना होता है।

परिपथ के आरम्भ से अंत तक रूधिर जैसे-जैसे गति करता है वैसे-वैसे रूधिर दाब में कमी होने का कारण यह तथ्य है कि हृदय के संकुचन द्वारा रूधिर को दी गई ऊर्जा रूधिर तथा रूधिर वाहिकाओं की दीवारों के बीच घर्षण पर काबू पाने में व्यय

जाती है। रूधिर प्रवाह को सबसे अधिक प्रतिरोध महीन धमनियों एवं केशिकाओं से मिलता है।

प्रत्येक वाहिका में रूधिर दाब हृदय प्रक्रिया की विभिन्न कलाओं के कारण निरन्तर होने वाले परिवर्तनों के साथ सम्बंधित होता है। यह निलय अनुशिथिलन की अपेक्षा निलय प्रकुंचन में अधिक होता है। इसीलिए रूधिर दाब अधिकतम या प्रकुंचन और न्यूनतम या अनुशिथिलन होता है। इसी प्रकार स्पंदी दाब भी मापा जाता है जो अधिकतम तथा न्यूनतम रूधिर दाबों का अन्तर होता है।

चिकित्सक प्रायः रूधिर दाब बाहु धमनी में मापते हैं। वयस्क की धमनी अधिकतम रूधिर दाब 110-125 मि० मी० पारा तथा न्यूनतम दाब 65-80मि० मी० पारा होता है। बच्चों में रूधिर दाब कम होता है: नवजात शिशुओं में – 70/34 मि० मी० पारा, तथा 9-72 वर्ष की आयु वाले बच्चों में – 105/70 मि० मी० पारा। वृद्धों में रूधिर दाब थोड़ा-सा अधिक होता है।

शारीरिक कार्य के समय रूधिर दाब बढ़ जाता है तथा निद्रा में यह कम हो जाता है।

रूधिर परिसंचरण में विकारों के साथ सम्बंधित रोगों में रूधिर दाब परिवर्तित हो जाता है। कुछ स्थितियों में यह बढ़ जाता है – **अति तनाव**, – तथा अन्य स्थितियों में कम हो जाता है – अधः तनाव। अधः तनाव के कारण निम्न हो सकते हैं: हृदय संकुचन की सँख्या एवं तीव्रता में कमी, धमनियों, विशेषकर छोटी धमनियों, का फैलना, अधिक मात्रा में रूधिर की हानि होना।

रूधिर दाब में अधिक कमी हो जाने से जीव में चिंताजनक विकार, और कभी-कभी तो जीवन को खतरा भी, उत्पन्न हो जाते हैं। अतितनाव वाहिका रोगों में निरन्तर उच्च दाब देखा गया है।

रूधिर दाब का मापना. रूधिर दाब को विशेष उपकरणों द्वारा मापा जाता है जिसे स्फिगमोमैनोमीटर और टोनोमीटर कहते हैं। रीवा-शॅक्की स्फिगमोमैनोमीटर (चित्र 117) एक पारा मैनोमीटर, एक खोखला कलाई-बन्ध और एक रबड़ के बल्ब से बना होता है। मैनोमीटर कलाई-बन्ध और रबड़ के बल्ब के साथ रबड़ की नलियों द्वारा सम्बंधित होता है। टोनोमीटर में पारे के स्थान पर धातु का मैनोमीटर होता है। मनुष्य के रूधिर दाब को सबसे परिशुद्धता से मापने की विधि रूसी चिकित्सक कोरोत्कोव की है।

कोरोत्कोव की विधि निम्न प्रकार है: कलाई-बन्ध रोगी के ऊपरि बाहु पर बाँधा जाता है, बाहु धमनी में स्पंद का परिश्रवण करने हेतु प्रति अंतःप्रकोष्ठिक खात में फोनेन्डोस्कोप रख दिया जाता है और रबड़ के बल्ब की सहायता से कलाईबन्ध में वायु प्रेषित की जाती है ताकि वह धमनी को तब तक दबाती रहे जब तक उसमे रूधिर का प्रवाह बन्द न हो जाये। इसके बाद एक विशेष पेच द्वारा धीरे-धीरे वायु
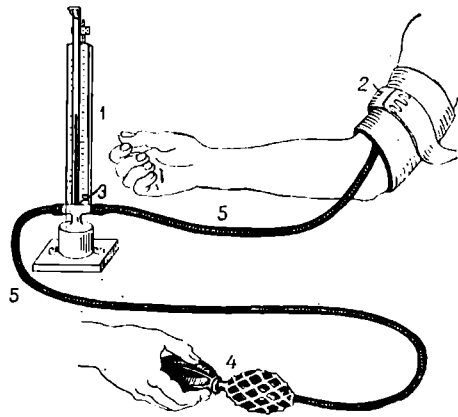
चित्र 117. स्फीग्मोमैनोमीटर, मनुष्य में रूधिर दाब मापने का यंत्र
1 – मरक्यूरी मैनोमीटर; 2 – कफ; 3 – कपाट; 4 – रबड़ का बल्ब; 5 – रबड़ की नली जो मैनोमीटर को कफ तथा बल्ब के साथ जोड़ती है।

निष्कासित की जाती है जब तक कि एक विशिष्ट ध्वनि फोनेन्डोस्कोप में सुनाई न दें। इस समय मैनोमीटर में पारा स्तम्भ की ऊचाई नोट कर ली जाती है। यह बिन्दु अधिकतम दाब सूचित करता है। कलाई-बन्ध से वायु तब तक निष्कासित की जाती है जब तक कि यह विशिष्ट ध्वनि फोनेन्डोस्कोप में सुनाई देती रहती है। इस समय मैनोमीटर में पारा स्तम्भ की ऊचाई पुनः नोट की जाती है। यह ऊँचाई नियत धमनी में न्यूनतम दाब बतलाती है।

स्पंद

धमनी दीवारों की आकृति में आंतरायिक परिवर्तन स्पंद कहलाते हैं। ये हृदय के लयबद्ध संकुचन के परिणाम होते हैं। निलय प्रकुंचन के समय रूधिर महाधमनी में प्रेषित किया जाता है तथा इसकी दीवारें फूल जाती हैं। निलय अनुशिथिलन के समय महाधमनी की तन्य दीवारें अपना सामान्य स्वरूप प्राप्त कर लेती हैं। महाधमनी की दीवारों में अंतरायिक परिवर्तन इसकी शाखाओं की दीवारों को प्रेषित हो जाते हैं।

स्पंद को स्पर्श करने के लिये सतही धमनियों को उनके नीचे स्थित अस्थियों पर दबाया जाता है। स्पंद को प्रायः अक्र बाहु के निम्न भाग में अरीय धमनी में नोट किया जाता है। स्पंद को ज्ञात करने की क्रिया में इसकी लयबद्धता, चाल, तन्यता तथा अन्य गुण नोट किये जाते हैं। स्पंद के गुण हृदय के कार्य तथा वाहिका की दी दीवारों की अवस्था पर निर्भर करते हैं। यहाँ से निष्कर्ष निकलता है कि स्पंद की

स्पंद से हृद कार्य-विधि की अवस्था ज्ञात की जा सकती है। सामान्यतः प्रत्येक रोगी की स्पंद नोट की जाती है।

विराम अवस्था में व्यस्क की स्पंद चाल 60-80 विस्पंद प्रति मिनट होती है। बच्चों में स्पंद चाल अधिक तेज़ होती है। नवजात शिशु में यह 140 विस्पंद प्रति मिनट तथा 5 वर्षीय बच्चे में 100 विस्पंद प्रति मिनट, इत्यादि। स्पंद चाल हृद संकुचन की सॅख्या के बराबर होती है।

हृद्वाहिका कार्य-विधि का नियंत्रण

हृदय तथा रूधिर वाहिकाओं के कार्य पर अंगों के अन्य तंत्रों तथा जीव के बाह्य वातावरण की व्यवहारिक अवस्था प्रभाव डालती है। उदाहरणतया, खाना, शारीरिक कार्य, मानसिक अनुभव, बाह्य वातावरण में परिवर्तन (तापमान, वायुमंडलीय दाब, आदि) तथा कई अन्य बाते हृदवाहिका तंत्र में व्यवहारिक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। हृदय तथा रूधिर वाहिकाओं की कार्य-विधि का नियंत्रण तंत्रिका तंत्र और तरल सिद्धांत द्वारा होता है।

हृदय में बडी सॅख्या में परानुकम्पी (वेगण तंत्रिका से) तथा अनुकम्पी तंत्रिका रेशी होते हैं। ई० पावलोव ने सिद्ध किया कि हृदय को जाने वाली तंत्रिकाएँ धीमा क्षीण, त्वरित तथा तीव्र करने वाली क्रियाएँ करती हैं और हृदय में चालकता तथा उसके उत्तेजन पर प्रभाव डालती है। परानुकम्पी रेशे हृदय पर धीमा तथा क्षीण करने वाला प्रभाव डालते हैं। ये हृद संकुचन की लय को धीमा करते हैं, तथा हृद संकुचन के बल को क्षीण करते हैं, हृदय की उत्तेजनशीलता और हृदय के उत्तेजन की चालकता की गति को धीमा करते हैं। अनुकम्पी रेशी हृदय पर त्वरित तथा तीव्र करने वाला प्रभाव डालते हैं। ये हृदय के संकुचन की लय को त्वरित करते हैं, तथा संकुचन के बल को बढ़ाते हैं (चित्र 118), हृद उत्तेजनशीलता और हृदय में उत्तेजन की
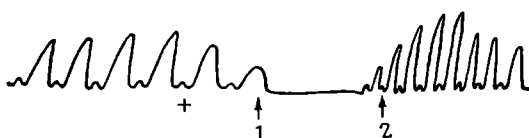
चित्र 118. हृदय के कार्य पर वेगस तथा अनुकम्पी तंत्रिका का प्रभाव
1—वेगस का प्रभाव; 2—अनुकम्पी तंत्रिका का प्रभाव।

चालकता की गति में वृद्धि लाते हैं। तंत्रिका रेशों की विद्यमानता, जो हृदय के कार्य को तीव्र बनाती है, पावलोव द्वारा प्राणियों पर किये गये प्रयोगों के दौरान सिद्ध हुई। उसने इन रेशों का नाम तीव्र रेशा रखा। तीव्र रेशों के प्रभाव में हृदय पेशियों

में उपापचय बढ़ जाता है। ऊतकों पर तंत्रिका तंत्र का ऐसा प्रभाव पोषी प्रभाव कहलाता है।

रूधिर वाहिकाओं की दीवारों में भी तंत्रिकाएँ होती हैं। रूधिर वाहिकाओं की पेशी परतों में प्रेरक तंत्रिका रेशों के अंतिम छोर देखे गये हैं। इनमें से कुछ (अनुकम्पी) रूधिर वाहिकाओं को संकुचित करते हैं तथा इन्हें वाहिकासंकीर्णक कहते हैं। अन्य रूधिर वाहिकाओं को मोड़ते हैं तथा इन्हें वाहिकाविस्फारक कहते हैं।

रूधिर वाहिकाओं की दीवारों में, हृदय की दिवारों की भांति, संवेदी तंत्रिका रेशे अपने अंतिम छोरों, ग्राहियों, के साथ होते हैं जो रूधिर दाब तथा रूधिर की रासायनिक संरचना में परिवर्तनों के साथ प्रतिक्रिया करते हैं।

हृदवाहिका तंत्र की कार्य-विधि का नियंत्रण करने वाले केन्द्र मेडुला आब्लान्गेटा और मेरू रज्जु में स्थित होते हैं। हृदय तथा रूधिर वाहिकाओं के कार्य में परिवर्तन जीव पर प्रभाव डालने वाले अनेक उद्दीपकों* के उत्तर में तंत्रिका तंत्र द्वारा प्रतिवर्त रूप से उत्पन्न होते हैं। ग्राहियों के उद्दीपन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले आवेश संवेदी तंत्रिकाओं के माध्यम द्वारा केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र को प्रेषित होते हैं जहाँ वे हृदवाहिका तंत्र के केन्द्रों को उतेजित करते हैं। हृदय एवं रूधिर वाहिकाओं को केन्द्रों से प्रेरक तंत्रिकाओं के माध्यम द्वारा आवेग प्रेषित किये जाते हैं। इसके फलस्वरूप, आवश्यकतानुसार हृदय का कार्य परिवर्तित हो जाता है, तथा रूधिर वाहिकाएँ या तो मुड़ जाती हैं, या संकुचित हो जाती हैं। उदाहरणतया, शारीरिक कार्य के समय हृद कार्य अधिक तीव्र हो जाता है तथा कार्यरत पेशियों को रूधिर पहुँचाने वाली रूधिर वाहिकाएँ मुड़ जाती हैं। पाचनक्रिया में पाचन ग्रन्थियों को रूधिर का प्रदाय बढ़ जाता है।

यह स्मरण रहे कि स्वस्थ मनुष्य में विभिन्न स्थितियों में रूधिर दाब परिवर्तित हो सकता है, लेकिन ये परिवर्तन अस्थायी होते हैं। रूधिर दाब में कमी या वृद्धि रूधिर वाहिकाओं की दीवारों में विद्यमान ग्राहियों को उद्दीपित करती है। हृदवाहिका तंत्र अपने कार्य में होने वाले परिवर्तन के उत्तर में प्रतिवर्त रूप से प्रभावित होता है, जिसके फलस्वरूप रूधिर दाब सामान्य हो जाता है। विशेष रूप से, यह देखा गया है कि एक संवेदी तंत्रिका महाधमनी की आर्क तक जाती है, इस तंत्रिका का नाम दाबह्रसी तंत्रिका रखा गया है (चित्र 119) क्योंकि इसके उत्तेजित होने से रूधिर दाब में प्रतिवर्त कमी हो जाती है। महाधमनी की आर्क में रूधिर दाब में वृद्धि इस तंत्रिका के सिरों को उद्दीपित करती है। उत्तेजन मेडुला आब्लान्गेटा, हृदवाहिका कार्यविधि के केन्द्रों तक प्रेषित हो जाता है।

---

*जैसे, ऊष्मा, ठंड दर्द, कार्य के समय पेशियों में परिवर्तन, आदि।

इसकी अनुक्रिया में तंत्रिका केन्द्र हृदय और रुधिर वाहिकाओं को आवेग प्रेषित करते हैं।

इन आवेगों के प्रभाव में हृदय का कार्य धीमा हो जाता है, रूधिर वाहिकाओं का विस्फारन हो जाता है; अतएव रूधिर दाब कम हो जाता है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, अंगों के प्रकार्य के नियंत्रण के नियम का नाम पावलोव ने **स्वतः नियंत्रण** रखा।

हृदय तथा रूधिर वाहिकाओं के कार्य का तरल नियंत्रण रूधिर में संचरित हार्मोन, लवणों तथा अन्य पदार्थों के प्रभाव में देखा जा सकता है। उदाहरणतया, ऐड्रिनलीन (हार्मोन) हृद संकुचन में त्वरण तथा तीव्रता और वाहिका ल्यूमेन में संकुचन पैदा करती है (ऐड्रिनलीन) हृदय की वाहिकाओं का विस्फारन करती है। इस प्रकार यह अनुकम्पी तंत्रिका की भांति कार्य करती है। हिस्टैमिन, ऐसिटिलकोलिन तथा अन्य पदार्थ वाहिकासंकीर्णक का कार्य करते हैं। हृदय के कार्य पर तरल प्रभाव तंत्रिका नियंत्रण के साथ काफी सम्बन्ध रखता है।

चित्र 119· अवसादी तंत्रिका का आरेख

1 – महाधमनी की आर्क ; 2 – ग्रीवा धमनियां ; 3 – वेगस तंत्रिका ; 4 – अवसादी तंत्रिकाएं ; 5 – आन्तरिक ग्रीवा धमनी।

उदाहरणतया, यह सिद्ध हो चुका है कि यदि वेगस तथा अनुकम्पी तंत्रिका के रेशों को उत्तेजित कर दिया जाये, तो इन के छोरों में रासायनिक पदार्थों का उत्सर्जन हो जाता है जो वेगस या अनुकम्पी तंत्रिका की भांति कार्य करते हैं।

यदि रूधिर में पोटैशियम व कैल्सियम के लवणों की निश्चित सान्द्रता हो, तो हृदय सामान्य रूप से कार्य करता है।

हृदय पर पोटैशियम का प्रभाव वैसा ही होता है जो वेगस तंत्रिका का होता है, तथा कैल्सियम का प्रभाव अनुकम्पी तंत्रिका की भांति होता है। रूधिर में पोटैशियम एवं कैल्सियम लवणों की सान्द्रता में परिवर्तन होने के फलस्वरूप हृद कार्यविधि में विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

हृदय तथा रूधिर वाहिकाओं के कार्य पर प्रभाव डालने हेतु चिकित्सक अनेक औषधियों का प्रयोग करते हैं।

सामान्य परिवर्तनों के अतिरिक्त, जीव की रूधिर वाहिकाओं के ल्यूमेनों में स्थानीय परिवर्तन भी भाग ले सकते हैं। स्थानीय परिवर्तनों की गर्म पानी की बोतल, सर्षप पलस्तर अदि को प्रयोग करके देखा जा सकता है। स्थानीय तथा सामान्य विस्फारनों या संकीर्णनों – दोनों की प्रकृति प्रतिवर्त होती है।

अंत में यह नोट करना आवश्यक है कि हृदवाहिका तंत्र पर प्रमस्तिष्क वल्कुट प्रभाव डालता है। उदाहरणतया, यह प्रभाव स्वतः ही प्रकट हो जाता है हृद कार्य में मानसिक तनाव, कार्य के आरम्भ होने से पूर्व की स्थिति, अनेक वाक उद्दीपकों के कार्य की अनुक्रिया के कारण परिवर्तन होते हैं।

लसीका तंत्र

वाहिका तंत्र के अतिरिक्त, मानव जीव में लसीका तंत्र भी होता है। इसमें लसीका वाहिकाएँ, लसीका पर्वसंधि (चित्र 120) तथा उनमें प्रवाह करने वाला लसीका सम्मिलित हैं।

लसीका की संरचना रूधिर जीव द्रव्य के समान होती है; इसमें लसीकाणु निलंबित होते हैं (सामान्यतः इसमें अन्य कोशिकाएँ नहीं होती)। लसीका का निर्माण जीव में हमेशा होता रहता है तथा लसीका वाहिकाओं द्वारा शिरों को पहुँचता रहता है। लसीका निर्माण की प्रक्रिया रूधिर तथा ऊतकों के बीच उपापचय विनिमय के साथ सम्बंधित होता है। रूधिर केशिकाओं में जैसे-जैसे रूधिर प्रवाह करता है, पोषक पदार्थों व आक्सीजन सहित जीव-द्रव्य का कुछ भाग वाहिकाओं में से आसपास के ऊतकों में प्रवेश करता है और ऊतक तरल बनता है। ऊतक तरल कोशिकाओं को साफ करता है, तथा तरल और कोशिकाओं के बीच उपापचय विनिमय निरन्तर होता रहता है। पोषक पदार्थ तथा ऑक्सीजन कोशिकाओं में प्रवेश करते हैं, तथा अवशिष्ट पदार्थ तरल में प्रवेश कर जाते हैं। अवशिष्ट पदार्थों के साथ ऊतक तरल का कुछ भाग केशिकाओं की दीवारों के माध्यम से रूधिर में पुनः लौट आता है। उसी समय ऊतक तरल का कुछ भाग रूधिर केशिकाओं के स्थान पर लसीका केशिकाओं में प्रवेश कर जाता है तथा लसीका बनाता है। लसीका के निर्माण व वहिर्वहन की प्रक्रिया अंगों की क्रियाओं की तीव्रता बढ़ने के साथ ही बढ़ जाती है।

अतएव, लसीका तंत्र एक अतिरिक्त वहिर्वाही तंत्र है जो शिरीय तंत्र का संपूरक है। यह जीव में उपापचय तथा तरलों के प्रवाह में काफ़ी महत्व रखता है। लसीका के वहिर्वहन में उत्पन्न हुये विकार ऊतकों में उपापचय विकार तथा शोफ के निर्माण का कारण बनते हैं।

यह भी नोट करना चाहिये कि लसीका तंत्र पोषक पदार्थों के अवशोषण की क्रिया में महत्वपूर्ण रोल अदा करता है।
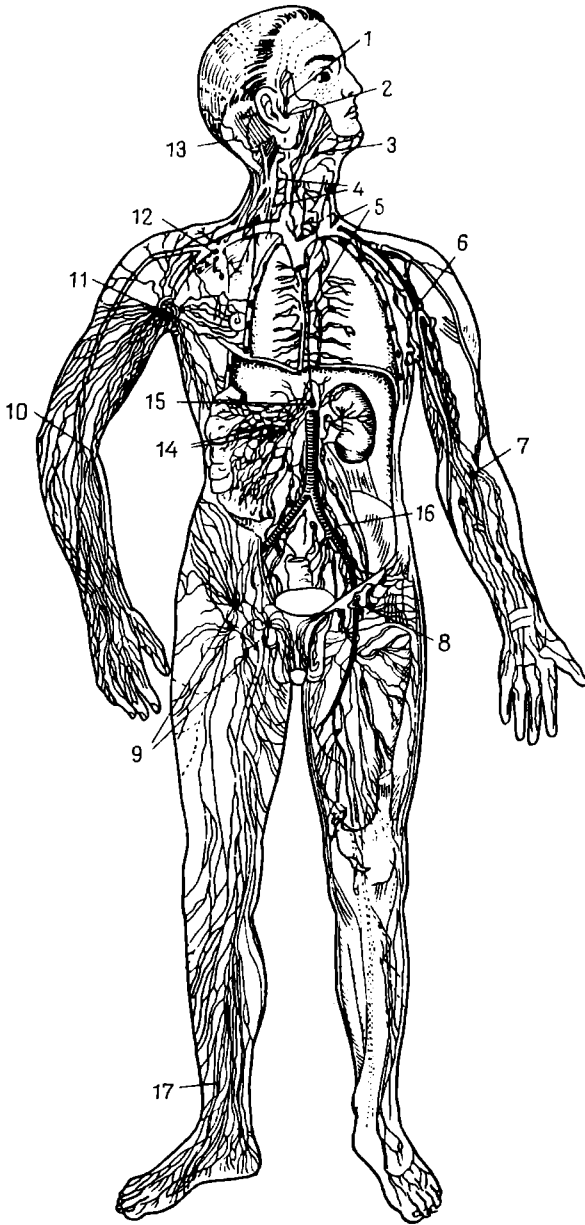
चित्र 120. लसीका तंत्र (आरेख)

1 तथा 2 – अग्र आलिंद लसीका पर्व ; 3 अधोजंभ पर्व ; 4 – ग्रीवा पर्व ; 5 – वक्षीय वाहिका ; 6 तथा 11 – काक्षिक पर्व ; 7 तथा 10 – मध्यवर्ती पर्व ; 8 तथा 9 – वंक्षण पर्व ; 12 – अधोजत्रुक पर्व ; 13 – अनुकपाल पर्व ; 14 – आंत्रयोजनी पर्व ; 15 – वक्षीय वाहिका का आरम्भ ; 16 – श्रोणीय पर्व ; 17 – मध्यांग की उपरिस्थ लसीका वाहिका ।

क्षुद्रांत्र में से बाहर आने वाली लसीका में वसा की कुछ बूँदे होती हैं जिससे इसका रंग दूधिया हो जाता है (अन्य अंगों से बाहर आने वाली लसीका रंगहीन होती है)। इसी लिये क्षुद्रांत्र से आने वाली लसीका वाहिकाओं को लैक्टियल्स वाहिनी कहते हैं (लातिनी में लैक–दूग्ध)।

लगभग सभी अंगों में लसीका वाहिकाओं की बड़ी सँख्या होती है। लसीका वाहिकाओं का तंत्र लसीका केशिकाओं से आरम्भ है जो बड़े व्यास वाली वाहिकाओं के साथ जुड़ी होती हैं। लसीका वाहिकाओं की दीवारें बहुत ही महीन होती हैं तथा सूक्ष्ममापी संरचना में शिरों की दीवारों की भाँति होती हैं। अनेक शिरों की भाँति, लसीका वाहिकाओं में वाल्व होते हैं। अंगों में लसीका वाहिकाएँ प्रायः दो जाल क्रम बनाती हैं: एक सतही तथा एक गहरा। रूधिर के विपरीत, लसीका केवल एक दिशा मे ही प्रवाह करती है– अंगों से बाहर की ओर (अंगों के अन्दर कभी-भी प्रवेश नही करती)–तथा एक बड़ी लसीका वाहिका में रिक्त हो जाती है जो सभी अंगों के लिए सामान्य है। लसीका की गति लसीका वाहिकाओं की दीवारों का संकुचन तथा उन पेशियों का संकुचन है जिनके बीच ये लसीका वाहिकाएँ स्थित होती हैं।

मानव शरीर की सभी लसीका वाहिकाओं से लसीका दो सबसे बड़ी लसीका वाहिकाओं या वाहीनियों में इकट्ठी हो जाती है: वक्षीय वाहिनी तथा दक्षिण लसीका वाहिनी।

वक्षीय वाहिनी उदरीय कोटर में वसालसीका कुंड नामक विस्फारण के साथ आरम्भ होती है तथा फिर डायाफ्राम के महाधमनी रंध्र में से गुज़र कर वक्षीय कोटर में आ जाती है (पश्च फुफ्फुस मध्यावकाश में)। वक्षीय कोटर से यह वाम पार्श्व में ग्रीवा क्षेत्र में विस्तरित होती है तथा कम अधोजत्रुक तथा आन्तरिक युज्ञ शिरों की संधि से बनने वाले वाम शिरीय कोण में रिक्त होती है। वक्षीय वाहिनी में लसीका दोनों निम्न अग्रांगों, वास्तविक श्रोणि के अंगों व दीवारों, वक्ष, सिर, आनन तथा ग्रीवा के वाम अर्धों से आता है (चित्र 121)।

दक्षिण **लसीका वाहिनी** एक छोटी-सी वाहिका है जो ग्रीवा क्षेत्र में दायीं ओर स्थित होती है। यह दक्षिण अधाजत्रुक तथा आन्तरिक युज्ञ शिरों की संधि से बनने वाले दक्षिण शिरीय कोण में रिक्त होती है। इस वाहिनी में लसीका वक्ष के दक्षिण भाग, दक्षिण ऊपरि अग्रांगों, सिर आनन तथा ग्रीवा के दक्षिण अर्धों से इकट्ठी होती है। (चित्र 121)।

यह स्मरण रहे कि लसीका सहित लसीका वाहिकाओं में रोगाणु तथा दुर्दम ट्यूमर के कण हो सकते हैं।

लसीका वाहिकाओं का मार्ग लसीका पर्वसंधियों द्वारा अन्तर्विष्ट होता है।

कुछ लसीका वाहिकाओं द्वारा लसीका पर्वसंधियों तक पहुँचती है (अभिवाही वाहिकाएँ), तथा कुछ अन्य वाहिकाओं द्वारा यह उनमें सें बाहर आती है (अपवाही वाहिकाएँ)।
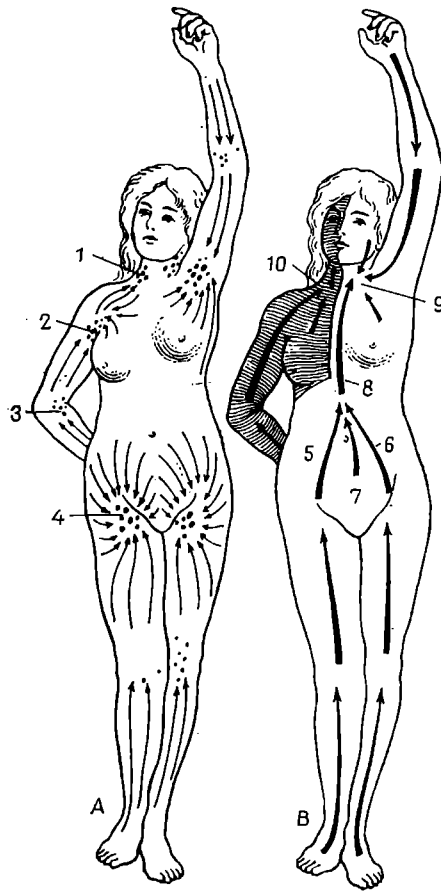
चित्र 121. A – लसीका पर्वों की स्थिति का आरेख। B – आरेख जो उन क्षेत्रों की स्थिति दर्शाता है जहां से लसीका वक्षीय वाहिका में तथा दक्षिण लसीका वाहिका में एकत्रित होता है (अन्तिम क्षेत्र को रेखाओं द्वारा छाया रंजित कर दिया गया है)।

1 – ग्रीवा लसीका पर्व ; 2 – काक्षिक पर्व ; 3 – मध्यवर्ती पर्व ; 4 – वंक्षण पर्व ; 5 – दक्षिण कटि-कांड ; 6 – वाम कटि-कांड ; 7 – आंत्र-कांड ; 8 – वक्षीय वाहिका ; 9 – वक्षीय वाहिका का निकास स्थान ; 10 – दक्षिण लसीका वाहिका का निकास स्थान।
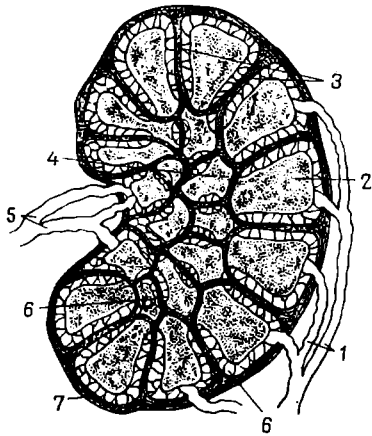
चित्र 122. लसीका पर्वों की संरचना का आरेख।

1 – अभिवाही लसीका वाहिकाएं ; 2 – तथा 3 – पर्व के पदार्थ में ग्रंथि-काएं ; 4 – संबंधक ; 5 – अपवाही वाहिकाएं ; 6 – लसीका कोटर ; 7 – पर्व का कैप्स्यूल।

लसीका पर्वसंधियां लसीका ऊतकों के छोटे-छोटे गोल या लम्बे पिंड होते हैं। प्रत्येक पर्वसंधि में एक संयोजीऊतक कैप्स्यूल होता है जो अन्दर की ओर संबंधक छोड़ता है। (चित्र 122)। लसीका पर्वसंधियों का ढाँचा जालिका ऊतकों से बना होता है। संबंधकों के बीच ग्रंथिकाएँ होती हैं जो लसीकाणु बनाती हैं। अतएव, लसीका पर्वसंधियाँ रक्तोत्पादक अंग हैं। इनका रक्षी प्रकार्य भी होता है। इनमें रोगाणु भी रह सकते है (यदि वे लसीका पर्वसंधियों में प्रवेश कर जाते हैं)। ऐसी स्थितियों में लसीका पर्वसंधियाँ बड़ी हो जाती हैं और अधिक संहत हो जाती है तथा इन्हें स्पर्श किया जा सकता है।

नियमतः लसीका पर्वसंधियाँ ग्रुपों में स्थित हैं। शरीर के प्रत्येक भाग या अंग से लसीका एक निश्चित लसीका पर्वसंधि में जाती है। इन पर्वसंधियो को स्थानीय पर्वसंधि कहते हैं। बाहु की लसीका वाहिकाओं की पर्वसंधियाँ मध्योत्तर तथा कक्षीय पर्वसंधियाँ होती हैं तथा पाँव की वाहिकाओं की पर्वसंधियाँ जानुपृष्ठीय तथा वंक्षण पर्वसंधियाँ होती हैं। ग्रीवा पर अधोजंभ, गहन ग्रैव (आन्तरिक युग्न शिरे के मार्ग के साथ-साथ) तथा अन्य पर्वसंधियाँ होती है। वक्षीय कोटर में अनेक लसीका पर्वसंधियाँ श्वासनली के विभाजन तथा फुफ्फुसों के हीली (hili) पर स्थित होती हैं। उदरीय कोटर में तथा श्रोणीय कोटर में (विशेषतः आन्तयोजनी में) अनेक लसीकापर्वसंधियाँ स्थित होती है।

अध्याय 9

तंत्रिका तंत्र

उत्पत्ति की दीर्घ प्रक्रिया के समय प्राणियों में तंत्रिका तंत्र का विकास हुआ।

प्राणि जीवों की विद्यमानता की अवस्थाओं में निरन्तर परिवर्तनों के फलस्वरूप तंत्रिका तंत्र की संरचना एवं प्रकार्य अधिक जटिल होते जा रहे हैं। जटिल जीव में तंत्रिका तंत्र सभी शरीर प्रक्रियाओं को नियंत्रित करने में और जीव एवं बाह्य वातावरण के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

तंत्रिका तंत्र मानव में विशेषतः विकसित है; मानव में मस्तिष्क होता है जो विवेचन का अंग है। यह विकास मुख्यतः मानव के श्रम के साथ सम्बन्धित है।

फ्रे० एंजिल्स की परिभाषा के अनुसार: "प्रथमतः श्रम, इसके बाद तथा फिर इसके साथ, उच्चारित वाणी—ये दोनों सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्दीपक थे जिनके प्रभाव में वानर का मस्तिष्क धीरे-धीरे मानव के मस्तिष्क में रूपांतरित हुआ जो उसके साथ सम्पूर्ण सादृश्यता रखते हुये इससे अधिक बड़ा और अधिक श्रेष्ठ है।*

तंत्रिका तंत्र का भूमिका

तंत्रिका तंत्र विभिन्न अंगों व सम्पूर्ण जीव की क्रियाओं का नियंत्रण करता है। पेशी संकुचन, ग्रन्थि स्राव, हृदय कार्य, उपापचय तथा जीव में निरन्तर घटने वाली अनेक क्रियाओं का नियंत्रण तंत्रिका तंत्र करता है।

तंत्रिका तंत्र अनेक अंगों तथा तंत्रों का परस्पर सम्बन्ध बनाता है, उनकी सभी क्रियाओं का समन्वय करता है, तथा जीव की सम्पूर्णता बनाये रखता है।

प्रत्येक अंग या अंगों के तंत्र के कार्य पर विभिन्न अवस्थाएँ प्रभाव डाल सकती हैं। एक अंग या अंगों के तंत्र के कार्य में परिवर्तन अन्य अंगों और तंत्रों के कार्य में परिवर्तन लाता है। उदाहरणतया, तीव्र पेशी संकुचन वाले शरीरिक कार्य के समय पेशियों में उपापचय बढ़ जाता है जो अंत में पोषक पदार्थों एवं आक्सीजन की आवश्यकता को बढ़ा देता है। प्रतिवर्त अनुक्रिया हृदय तथा फुफ्फुसों को अधिक

---

*फ्रे० ऐंजिल्स "प्रकृति के द्वन्द्व"।

तीव्रता से कार्य करने पर विवश करती है जिसके परिणामस्वरूप पेशियों की ओर जाने वाला रूधिर प्रवाह बढ़ जाता है। उसी समय ऊष्मा निर्माण एवं ऊष्मा हानि में वृद्धि होती है।, उत्सर्जी अंग अधिक कार्य करते हैं, आदि।

जीव की सम्पूर्णता एवं इसके वाह्य वातावरण पर तंत्रिका तंत्र प्रभाव डालता है। सभी बाह्य उद्दीपक तंत्रिका तंत्र संवेदी अंगों द्वारा ग्रहण करता है। उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया से अनेक अंगों के प्रकार्य परिवर्तित हो जाते है और जीव वातावरण के अनुकूल हो जाता है या पावलोव के शब्दों में, जीव तथा वाह्य वातावरण के बीच संतुलन बन जाता है। यह संतुलन जीव की जैविक क्रियाओं का आधार बनता है। अतः भोजन के खाये जाने के प्रति अनुक्रिया के फलस्वरूप पाचन ग्रन्थियों की क्रिया बढ़ जाती है और ये भोजन की प्रकृति के अनुकूल हो जाती हैं। आसपास की वायु के ताप में वृद्धि हो जाने से त्वचा में रूधिर प्रवाह बढ़ जाता है और अधिक स्वेद आता है जो जीव को अधिक गर्म हो जाने से बचाता है।

यह स्मरण रहे कि जंतुओं के विपरित मानव स्वयं अपने बाह्य वातावरण को काफ़ी परिवर्तित कर सकता है।

मानव का मस्तिष्क विवेचन और वाक का भौतिक आधार है। पावलोव ने सिद्ध किया कि मानव की तथाकथित मनोविज्ञानी कार्यविधि प्रमस्तिष्क वल्कुट में होने वाली शरीर-क्रिया विज्ञानी प्रक्रियाओं पर आधारित होती हैं।

तंत्रिका तंत्र की संरचना के बारे में कुछ सामान्य बातें

तंत्रिका तंत्र में मस्तिष्क, मेरू रज्जु तथा तंत्रिकाएँ आती हैं। मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु तंत्रिका तंत्र का केन्द्रिय भाग बनाते हैं या जैसा कि प्रायः कहा जाता है केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र बनाते हैं। मस्तिष्क कपालीय तंत्रिकाओं के 12 जोड़ों को जन्म देता है, तथा मेरू रज्जु मेरू तंत्रिकाओं के 31 जोड़ों को जन्म देती है। ये तंत्रिकाएँ विभिन्न अंगों तथा ऊतकों में शाखाएँ बनाती हैं। तंत्रिकाएँ तथा इनकी शाखाएँ परिधीय तंत्रिका तंत्र बनाती है। हालांकि तंत्रिका तंत्र केन्द्रिय तथा परिधीय भाग बनाता है, फिर भी ये भाग एक ही तंत्र बनाते हैं।

मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु में तंत्रिका कोशिकाएँ, इनके प्रवर्ध एवं तंत्रिकावंध बड़ी सँख्याओं में विद्यमान होते हैं (दे० तंत्रिका ऊतक)। मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु भूरे तथा श्वेत द्रव्यों से बने होते हैं। भूरा द्रव्य तंत्रिका कोशिकाओं से बना होता है और श्वेत द्रव्य तंत्रिका तंतुओं से बना होता है जो तंत्रिका कोशिकाओं के प्रवर्ध होते हैं। केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के विभिन्न भागों में भूरे तथा श्वेत द्रव्य की स्थिति विभिन्न होती हैं। मेरू रज्जु में भूरा द्रव्य आन्तरिक भाग बनाता है तथा श्वेत द्रव्य बाह्य भाग बनाता है। मस्तिष्क में भूरा द्रव्य कुछ स्थानों में बाह्य भाग बनाता है तथा

... स्थानों में आन्तरिक भाग बनाता है। प्रमस्तिष्क गोलार्धों की सतह पर भूरे द्रव्य की निरन्तर परत प्रमस्तिष्क वल्कुट कहलाती है। मस्तिष्क के विभिन्न भागों में तंत्रिका कोशिकाओं (भूरे द्रव्य) के गुच्छ होते हैं जो श्वेत द्रव्य के अन्दर स्थित होते हैं। ये गुच्छ केन्द्रक कहलाते हैं। तंत्रिका कोशिकाओं के गुच्छ मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु के बाहर भी पाये जाते हैं (उदाहरणतया, अन्तराकशेरूक रंध्रों, गंडिका रंध्रों, इत्यादि में)। ऐसे गुच्छ गुच्छिकाएँ कहलाते हैं।

मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु में रूधिर वाहिकाएँ बड़ी सँख्या में होती हैं। तंत्रिका ऊतक को पोषक पदार्थों व आक्सीजन की निरन्तर आवश्यकता होती है।

मस्तिष्क या मेरू रज्जु के द्रव्य को चोट लगने (अभिघात, अर्बुद, इत्यादि) या रूधिर प्रदाय में अवरोध उत्पन्न हो जाने से जीव के अनेक प्रकार्यों में रूकावट पैदा हो जाती है। इस रूकावट की प्रकृति मस्तिष्क के चोट लगने वाले भाग पर निर्भर करती है।

कुछ स्थितियों में पेशी पक्षाघात होता है, तो अन्य स्थितियों में संवेदनशीलता नष्ट हो जाती है, तथा किन्हीं स्थितियों में वाक अवरोध होता है, तो कुछ चोटों के कारण कई प्रकार्य एक ही साथ प्रभावित होते हैं।

केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के अनेक भाग तंत्रिका तंतुओं के द्वारा परस्पर सम्बंध बनाते हैं जो मस्तिष्क एवं मेरू रज्जु का श्वेत द्रव्य बनाते हैं।

तंत्रिकाएँ तंत्रिका तंतुओं की बंडल होती हैं जिनपर बाह्य संयोजी ऊतक का आवरण होता है। कुछ तंत्रिकाएँ मुख्यत: प्रेरक तंत्रिका तंतुओं से बनी होती हैं तथा इन्हें प्रेरक अथवा अपवाही तंत्रिका कहते हैं। प्रेरक तंत्रिकाओं के तंतु इन तंत्रिकाओं के केन्द्रकों को बनाने वाली तंत्रिका केशिकाओं के प्रवर्ध होते हैं। कुछ केन्द्रक मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु में विद्यमान होते हैं। अन्य तंत्रिकाएँ मुख्यता: संवेदी तंत्रिका तंतुओं से बनी होती हैं और संवेदी अथवा अभिवाही तंत्रिकाएँ कहलाती हैं। संवेदी तंत्रिकाओं के तंतु इन तंत्रिकाओं की गुच्छिकाओं को बनाने वाली तंत्रिका कोशिकाओं के प्रवर्ध होते हैं। ऐसी भी तंत्रिकाएँ होती हैं जिनमें दोनों प्रेरक तथा संवेदी तंत्रिका तंतु होते है। इन्हे मिश्रित तंत्रिकाएँ कहते हैं।

प्रेरक तंत्रिका तंतु अंगों में (जैसे पेशियों में) प्रेरक सिरों के साथ समाप्त होते हैं। संवेदी तंत्रिका तंतु अंगों में (जैसे, त्वचा में) संवेदी सिरों या ग्राहियों में समाप्त होते हैं।

सभी अंगों में तंत्रिकाएँ स्थित हैं, या अन्य शब्दों में सभी अंग तंत्रिकायित होते हैं। केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र सभी अंगों के साथ अपना सम्बन्ध तंत्रिकाओं के माध्यम से बनाता है।

तंत्रिका ऊतक की मुख्य विशेषताएं

उद्दीपन की अनुक्रिया में प्रत्येक जीवित ऊतक में सक्रिय अवस्था – उत्तेजन की अवस्था – में प्रवेश करने की विशेषता होती है। इस विशेषता को **उत्तेजनशीलता** कहते हैं। उत्तेजनशीलता तंत्रिका तंत्र की अन्तर्निहित विशेषता है।

जीवित जीव में तंत्रिका तंत्र का उत्तेजन संवेदी तंत्रिका सिरों (ग्राहियों) के उद्दीपन के फलस्वरूप होता है। जीव अनेक उद्दीपकों श्रवण, चाक्षुष, तापीय, रससंवेदी, आदि के प्रति अनावृत रहता है। ग्राहियों में उत्तेजन इन उद्दीपकों की अनुक्रिया से होता हैं। तंत्रिका ऊतक की विशेषता यह है कि उत्तेजन अपने उद्गम के स्थान पर टिकता नहीं है, बल्कि तंत्रिका तंतुओं के माध्यम से प्रेषित होता है। उत्तेजन को प्रेषित करने की तंत्रिका तंत्र की विशेषता **चालकता** कहलाती है।

तंत्रिका तंतुओं द्वारा उत्तेजन की चालकता के साथ तंत्रिका ऊतक में जीव-वैद्युत परिघटना देखने में आती है जिसे क्रिया विभव कहते हैं। ये क्रिया विभव विशेष अत्यधिक संवेदनशील उपकरणों द्वारा अभिलेखित किये जा सकते हैं।

अवलोकन की अनेक विधियों का प्रयोग करके वैज्ञानिकों ने तंत्रिका उत्तेजन की चालकता के अनेक नियमों को स्पष्ट किया हैं। मेढ़क में उतेजन की चालकता की गति 23-27 मी० प्रति सेकेण्ड होती है। मानव में तंत्रिका उत्तेजन की चालकता की गति 0.5 से 100 मी० प्रति सेकेण्ड तक होती है और तंत्रिका तंतु की मोटाई पर निर्भर करती है।

तंत्रिका में उत्तेजन विविक्त रूप से प्रत्येक तंत्रिका तंतु के माध्यम से स्थान लेता है। उत्तेजन कभी-भी एक तंत्रिका तंतु से अन्य संलग्न तंत्रिका तंतु को प्रेषित नहीं होता । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तेजन या तो तंत्रिका बनाने वाले सभी तंतुओं द्वारा प्रेषित होता है या केवल कुछ ही तंतुओं द्वारा प्रेषित होता है। इससे अलग-अलग पेशी तंतुओं और कुछ पेशियों का संकुचन ही सम्भव होता है, तथा एक निश्चित तंत्रिका द्वारा तंत्रिकायित पेशियों के सम्पूर्ण गुट का संकुचित होना आवश्यक नहीं है।

उत्तेजन की चालकता बनाये रखने के लिये तंत्रिका सम्पूर्ण होनी चाहिये। यदि यह टूट जाती है (जख्म, चोट, आदि से) तो चोट लगे हुये भाग द्वारा उत्तेजन प्रेषित नहीं होता तथा इस तंत्रिका द्वारा तंत्रिकायित अंग भली प्रकार कार्य नहीं करता। प्रेरक तंत्रिकाओं को चोट लगने से इन तंत्रिकाओं द्वारा तंत्रिकायित पेशियों का पक्षाघात हो जाता है। त्वचा को तंत्रिकायित करनेवाली संवेदी तंत्रिकाओं को चोट लगने से त्वचा की संवेदनशीलता में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

कुछ पदार्थों द्वारा तंत्रिका की चालकता अस्थायी रूप से रोकी जा सकती है; चिकित्सक इस विशेषता का प्रयोग करते हैं। यदि संवेदी तंत्रिका या इसके सिरों

। स्थान पर नोवोकेइन का घोल (या अन्य पीड़ाहारी घोल) दिया जाये तो तंत्रिका की चालकता में अस्थायी अवरोध उत्पन्न हो जाएगा जिसके परिणामस्वरूप शरीर का एक निश्चित भाग निश्चेत हो जाएगा।

तंत्रिका के उद्दीपन पर किये गये विशेष प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो गया है कि उत्तेजन तंत्रिका तंतुओं में उद्दीपक के लगाये जाने के स्थान से दोनों दिशाओं में प्रेषित किया जा सकता है। यद्यपि, प्रायः तंत्रिका उत्तेजन एक ही दिशा में प्रेषित होता है। तंत्रिका कोशिकाएँ परस्पर जुड़ी होती हैं और तंत्रिकाकोशिकाओं की श्रृंखला बनाती हैं; एक कोशिका का तंत्रिकाक्ष दूसरी कोशिका के पार्श्वतंतु या पिंड में विस्तरित होता है। वह बिन्दु जिस पर एक तंत्रिकाकोशिका के तंत्रिकाक्ष से दूसरी तंत्रिका-कोशिका के पार्श्वतंतु या पिंड में आवेग प्रेषित होता है सिनेप्स कहलाता है। तंत्रिकाकोशिकाओं की श्रृंखला में तंत्रिका उत्तेजन के प्रेषण की दिशा केवल पार्श्वतंतु-पिंड-तंत्रिकाक्ष ही होती है। इसका कारण है कि सिनेप्सों में चालकता की केवल एक ही दिशा होती है–एक तंत्रिका कोशिका के तंत्रिकाक्ष से अन्य कोशिका के पार्श्वतंतु या पिंड की ओर या तंत्रिका कोशिका के तंत्रिकाक्ष से कार्यकारी अंग की ओर। व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ हुआ कि उत्तेजन (तंत्रिका आवेश) संवेदी तंत्रिकाओं द्वारा परिरेखा से (ग्राहियों से) केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र की ओर प्रेषित होता है, और प्रेरक तंत्रिकाओं द्वारा तंत्रिका केन्द्रों से परिरेखा यानी अंगों (पेशियों, ग्रन्थियों, आदि) की ओर प्रेषित होता है।

उत्तेजन की चालकता की गति तंत्रिका तंतुओं की अपेक्षा सिनेप्सों में कम होती है तथा इनमें तंत्रिका उत्तेजन रूक भी सकता है।

प्रतिवर्त तथा प्रतिवर्त आर्क

तंत्रिका तंत्र की क्रिया की प्रतिवर्त प्रकृति होती है। उद्दीपक की अनुक्रिया से केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र द्वारा जीव की प्रतिक्रिया **प्रतिवर्त** कहलाती है। अनेक उद्दीपक, जिनकी ओर से जीव सदैव अनावृत रहता है, ग्राहियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। जीव इन उद्दीपकों के प्रति एक निश्चित अनुक्रिया करता है। उदाहरणतया, चतुःसंपुटी उरोस्थि (पटेला के नीचे) के कण्डरा पर हल्की चोट करने से यह पेशी संकुचित हो जाती है तथा पैर ऊपर की ओर झटके से उठता है। यदि नेत्रों पर तीव्र प्रकाश पड़ता हैं तो पुतलियाँ संकुचित हो जाती है। रससंवेदी पैपिला के उद्दीपन के फलस्वरूप लाला स्रावित होता है। जीव की ये सभी अनुक्रियाएँ तंत्रिका तंत्र द्वारा होती हैं। ग्राहियो में उत्पन्न होने वाला उत्तेजन संवेदी तंत्रिकाओं के माध्यम से केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र तक प्रेषित हो जाता है, तथा यहाँ से प्रेरक तंत्रिकाओं द्वारा विभिन्न अंगों को पहुँच जाता है। अंग एक निश्चित अनुक्रिया करते हैं (पेशी संकुचन, ग्रन्थि स्रावण, आदि)।

प्रतिवर्त के समय तंत्रिका उत्तेजन के प्रेषण का मार्ग **प्रतिवर्त आर्क** कहलाता है। प्रतिवर्त आर्क निम्न भागों से बनी हुई होती है: ग्राहियों, संवेदी तंत्रिका तंतु (संवेदी तंत्रिकाएँ), निश्चित प्रतिवर्त का केन्द्र जो मस्तिष्क या मेरू रज्जु में तंत्रिका कोशिकाओं का गुच्छ होता है, प्रेरक तंत्रिका तंतु (प्रेरक तंत्रिका), और कार्यकारी अंग (चित्र 123)। किसी भी प्रतिवर्त का प्रारम्भिक क्षण उद्दीपित ग्राहियों में
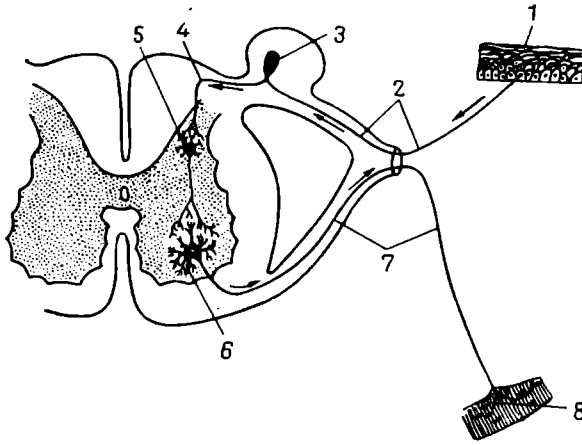
चित्र 123. प्रतिवर्त आर्क का आरेख

1 – त्वचा में ग्राही (संवेदी तंत्रिका तंतु का अंतिम छोर); 2 – संवेदी तंतु – संवेदी तंत्रिका कोशिका का परिधीय प्रक्रम; 0 – संवेदी कोशिका (तंत्रिका गुच्छिका में); 4 – संवेदी कोशिका का केन्द्रिय प्रक्रम; 5 – अंतरासंचारी तंत्रिका कोशिका (मेरू रज्जु में); 6 – प्रेरक तंत्रिका कोशिका (मेरू रज्जु में); 7 – प्रेरक तंत्रिका तंतु; 8 – पेशी में तंत्रिका का अंतिम छोर।

उत्तेजन का प्रगट होना है। सामान्यतः, प्रत्येक ग्राही निश्चित उद्दीपन अनुभव करता है; नेत्र का दृष्टिपटल चाक्षुष उद्दीपन अनुभव करता है, और कर्ण श्रावण उद्दीपन अनुभव करता है; जिह्वा का पैपिला रससंवेदी उद्दीपक अनुभव करता है, आदि।

परिवर्त आर्क के सभी भागों की सम्पूर्णता प्रतिवर्त की अनिवार्य शर्त्त है। यदि कभी इनमें से कोई एक भी लुप्त हो जाये (चोट लगने या अन्य किसी कारण से) तो नियत प्रतिवर्त नष्ट हो जाएगा।

प्रायः प्रतिवर्तों का अध्ययन तथाकथित मेरू मेढ़कों पर प्रयोगशालाओं में प्रयोगों द्वारा किया जाता है। ऐसे मेढ़कों में मस्तिष्क को या तो निकाल दिया जाता है या नष्ट कर दिया जाता है, लेकिन शरीर के अन्य भाग मेरू रज्जु व इससे निकलने

वाली तंत्रिकाएँ, अखंड रखी जाती है। मेरू मेढ़क काफ़ी समय तक जीवित रह सकता है और इसके मेरू प्रतिवर्तों का अध्ययन किया जा सकता है। उदाहरणतया, यदि त्वचा को उद्दीपित किया जाये (चिकोटी काटकर, अम्ल द्वारा, इत्यादि) तो ऐसा मेढ़क अपने पैरों द्वारा गति करके अनुक्रिया करता है। यदि पैरों की पेशियों को तंत्रिकायित करने वाली संवेदी त्वचा की तंत्रिकाएँ या प्रेरक तंत्रिकाएँ काटी जाएँ तो त्वचा के उद्दीपन के अनुक्रिया से कोई प्रतिवर्त नहीं होता। यदि मेरू रज्जु (प्रतिवर्त केन्द्रों) को नष्ट कर दिया जाये व तंत्रिकाओं को अखंड रखा जाये तो भी प्रतिवर्त नष्ट हो जाते हैं।

केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र की उतेजनशीलता में परिवर्तन

केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र की उत्तेजनशीलता यानी इसकी सक्रिय होने की योग्यता, विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न होती है।

मस्तिष्क व मेरू रज्जु की सामान्य क्रिया की एक आवश्यकता है—तंत्रिका कोशिकाओं को पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन का प्रदाय। अन्य अंगों की कोशिकाओं की तुलना में मस्तिष्क व मेरू रज्जु की कोशिकाएँ कहीं अधिक ऑक्सीजन उपभोग करती हैं। ऑक्सीजन की मात्रा अपर्याप्त होने से तंत्रिका कोशिकाओं की उत्तेजनशीलता कम हो जाती है तथा इनके नष्ट होने की भी सम्भावना होती है। यह भी स्पष्ट है कि मस्तिष्क में रूधिर प्रवाह में परिवर्तन मस्तिष्क के कार्य में अवरोध पैदा करते हैं क्योंकि ये ऑक्सीजन व पोषक पदार्थों के सामान्य प्रदाय में रूकावट डालते हैं।

तंत्रिका कोशिकाओं की उत्तेजनशीलता पर निश्चित आविष तथा औषधिय पदार्थ प्रभाव डालते हैं। स्ट्रिक्नीन तंत्रिका तंत्र की उत्तेजनशीलता को अत्यधिक बढ़ा देती है। प्राणि को स्ट्रिक्नीन देने के बाद उसका हल्का-सा उद्दीपन मिर्गी का कारण बनता है।

निश्चेतन प्रेरित करने के लिये चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले पदार्थ केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र की उत्तेजनशीलता को एकदम कम कर देते हैं।

केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के विभिन्न भागों की उत्तेजनशीलता में परिवर्तन परिवर्तित प्रतिवर्त प्रक्रियाओं में बाहरी रूप से प्रकट करते हैं। यदि केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र की उत्तेजनशीलता बढ़ जाती है तो क्षीण उद्दीपक से भी जीव में तीव्र अनुक्रिया होती है। यदि केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र की उत्तेजनशीलता कम हो जाती है तो एक सामान्य या तीव्र उद्दीपक भी प्रतिवर्त अनुक्रिया प्रेरित नहीं कर सकता।

18—0830

केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र में अवरोध

केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र न केवल उत्तेजन द्वारा बल्कि अवरोध द्वारा भी अनुक्रिया करता है। क्षीण हो रहे या अवसान हो रहे प्रतिवर्त अनुक्रिया में अवरोध बाहरी रूप से प्रकट होता है। केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र की अवस्था और उद्दीपन की प्रकृति पर निर्भर करते हुये मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु को प्रेषित किये गये तंत्रिका आवेग कुछ स्थितियों में प्रतिवर्त उत्पन्न करते हैं तथा अन्य स्थितियों में अवरोध की परिघटना को सर्वप्रथम सेचेनोव ने सन् 1862 में सिद्ध किया। उसने मेढ़क में कशेरूकी चेतक को साधारण लवण के क्रिस्टल द्वारा उद्दीपित किया जिसके फलस्वरूप मेरू रज्जु के प्रतिवर्तों में अवरोध उत्पन्न हो गया।

उत्तेजन तथा अवरोध परस्पर सम्बंधित होते हैं और आपस में मिलकर तंत्रिका प्रक्रिया का एक प्रवर्ध बनाते हैं। यह एकता उदाहरणतया चलना, दौड़ना, आदि जैसे जटिल कार्यों के समन्वय में व्यक्त होते हैं। ऐसी गतियों में तंत्रिका केन्द्रों में उत्तेजन व अवरोध बारी-बारी से आते हैं जो फ्लेक्सर तथा प्रसारिणी पेशियों का नियंत्रण करते हैं।

फ्लेक्सर को संकुचित करने वाली फ्लेक्सर पेशी के केन्द्र के उत्तेजन के बाद अवरोध उत्पन्न होता है और फ्लेक्सर विश्रांत हो जाता है। इसी समय प्रसारिणी पेशियों के केन्द्र के अवरोध के बाद, जो प्रसारिणी को विश्रांत करता है, उत्तेजन होता है तथा प्रसारिणी संकुचित हो जाती है। इसके बाद पुनः फ्लेक्सरों के केन्द्र का उत्तेजन होता है और प्रसारिणी के केन्द्र का अवरोध होता है, इत्यादि।

मेरू रज्जु

मेरू रज्जु की संरचना

मेरू रज्जु (medulla spinalis) कशेरूक नाल में स्थित होती है। यह रज्जु आगे तथा पीछे से कुछ-कुछ चपटी होती है (चित्र 124)। इसका ऊपर का भाग महा रंध्र में से गुजरता है और मेडुला आब्लांगेटा (मस्तिष्क के भाग) के साथ जुड़ा होता है, जबकि इसका निचला भाग द्वितीय कटि कशेरूक की उर्ध्व सीमा के स्तर पर समाप्त होता है। मेरू रज्जु का निम्न सिरा शंकु की आकृति का होता है तथा कोनस मेडुलारिस (conus medullaris) कहलाता है। मेरू रज्जु के केन्द्र में एक नाल होती है जो वस्तुतः एक संकीर्ण रेखा-छिद्र होता है। मेरू रज्जु के अग्र तथा पश्च सतहों पर अनुदैर्घ्य अवकाश होते हैं जो इसे अपूर्णतः सममितीय अर्धों में विभाजित कर देते हैं।
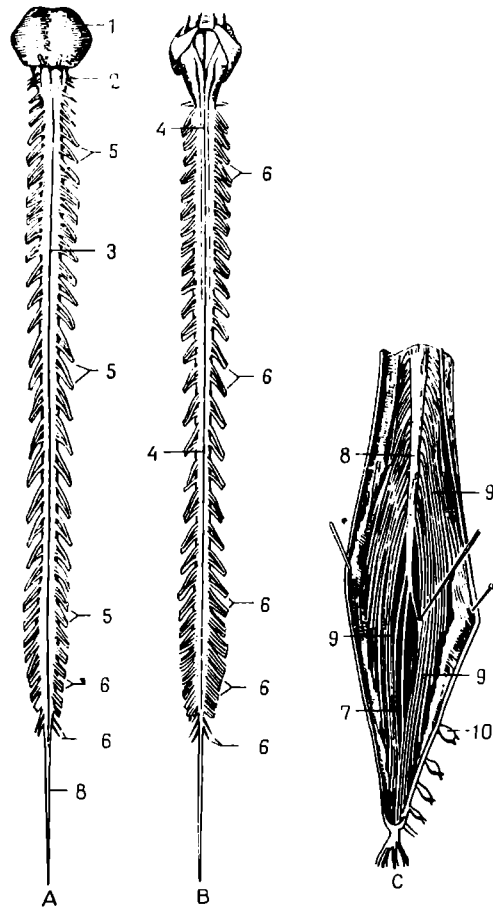
चित्र 124. मेरू रज्जु

A – अग्र दृश्य ; B – पश्च दृश्य ; C – अंतिम भाग

1 – पोन्स वैरोलाई ; 2 – मेडुला आॅब्लांगेटा ; 3 – अग्र विदर ; 4 – पश्च विदर ; 5 – मेरू तंत्रिका के अग्र मूल ; 6 – मेरू तंत्रिका के पश्च मूल ; 7 – अंत्य सूत्र ; 8 – कोनस मेडुलारिस ; 9 – तंत्रिका मूल जो मेरू रज्जु पुच्छ बनाते हैं ; 10 – मेरू गुच्छिका ।

मेरू रज्जु श्वेत तथा भूरे द्रव्यों से बनी होती है। भूरा **द्रव्य** रज्जु के केन्द्र में होता है तथा **श्वेत द्रव्य** उसके बाहर होता है। मेरू रज्जु के **अनुप्रस्थ** काट को देखने से ज्ञात होता है कि भूरा द्रव्य एक तितली जैसा है तथा इसके दो अग्र प्रक्षेपण–अधर शृंग–और दो पश्च प्रक्षेपण–पृष्ठ शृंग–होते हैं। अधर शृंग पृष्ठ शृंग की अपेक्षा अधिक चौड़े होते हैं (चित्र 125)। मेरू नाल के चारों ओर स्थित भूरा द्रव्य धूसर अंधायिनी कहलाता है।
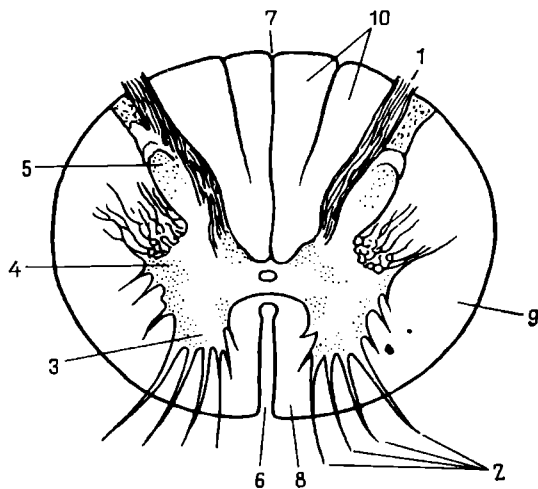
चित्र 125. मेरू रज्जु की अनुप्रस्थ काट

1–पश्च मूल; 2–अग्र मूल; 3–अधर सींग; 4–पार्श्व सींग; 5–पृष्ठ सींग; 6–अग्र विदर; 7–पश्च विदर; 8–अधर बीजांड-वृंत; 9–पार्श्व बीजांड-वृंत; 10–पृष्ठ बीजांड-वृंत।

अधर शृंगों में प्रेरक तंत्रिका कोशिकाएँ होती हैं तथा पृष्ठ शृंगों में अंतरासंचारी कोशिकाएँ होती हैं जो अन्य तंत्रिका कोशिकाओं में, जैसे संवेदी तथा प्रेरक तंत्रिका कोशिकाओं के बीच, संचार स्थापित करती हैं। संवेदी तंत्रिका कोशिकाएँ मेरू रज्जु में स्थित नहीं होती हैं बल्कि ये संवेदी तंत्रिकाओं के साथ-साथ अंतराकशेरूकी रंध्रों में स्थित होती हैं जहाँ ये मेरू गुच्छिकाएँ बनाती हैं।

वक्षीय विभाजन और मेरू रज्जु के कटि विभाजन के ऊपरी भाग के साथ-साथ अधर तथा पृष्ठ शृंगों के अतिरिक्त पार्श्विक शृंग भी होते हैं जो अनुकम्पी तंत्रिका कोशिकाओं से बने होते हैं।

अधर शृंगों की कोशिकाएँ प्रवर्ध (तंत्रिकाक्ष) बनाती हैं। ये प्रवर्ध बंडल बनाते हैं जिन्हें अग्र मूल कहते हैं (चित्र 125) जो अंतराकशेरूकी रंध्रों में विस्तरित होते हैं।

तंत्रिका तंतुओं के बंडल, जिन्हें पश्च मूल* कहते हैं, मेरू रज्जु के पश्च शृंगों में विस्तरित होते हैं। ये मूल मेरू गुच्छिकाओं की कोशिकाओं के प्रवर्धों से बनते हैं।

अग्र मूल प्रेरक होते हैं तथा पश्च तंत्रिका मूल संवेदी होते हैं। प्रत्येक अंतराकशेरूकी रंध्र में प्रेरक व संवेदी मूल आपस में मिलकर मेरू तंत्रिका बनाते हैं। मेरू तंत्रिकाओं के 31 युगल होते हैं। मेरू तंत्रिका के एक युगल के तदनुरूप मेरू रज्जु का भाग खंड कहलाता है। कुल 31 खंड होते हैं: आठ ग्रैव, बारह वक्षीय, पाँच कटि, पाँच सेक्रमी तथा एक अनुत्रिक।

मेरू रज्जु का श्वेत द्रव्य अपने प्रत्येक अर्ध में तीन भागों (रज्जुभों) में विभाजित होता है: अधर, पार्श्व तथा पृष्ठ रज्जुभ। रज्जुभों में तंत्रिका तंतु होते हैं जो मेरू रज्जु के विभिन्न भागों को परस्पर तथा मेरू रज्जु को मस्तिष्क के साथ जोड़ते हैं। मेरू रज्जु व मस्तिष्क को जोड़ने वाले तंतु बंडलों में बँधें होते हैं तथा इन्हें तंत्रिका पथ कहते हैं। कुछ पथ आरोही (संवेदी) होते हैं तथा कुछ अवरोही (प्रेरक) होते हैं।

कशेरूकी नाल में मेरू रज्जु के अंतिम छोर के नीचे तथाकथित मेरू रज्जु पुच्छ होती है जो निम्न मेरू तंत्रिकाओं (कटि, सेक्रमी तथा अनुत्रिक) के मूलों से बनी होती है।

मेरू रज्जु तथा मेरू रज्जु पुच्छ पर विशेष झिल्लियाँ चढ़ी हुई होती हैं (चित्र 132)।

मेरू रज्जु के प्रकार्य

मेरू रज्जु के मुख्य प्रकार्य हैं: (1) उत्तेजन (संवेदी आवेगों) का चालन, तथा (2) प्रतिवर्त प्रक्रिया।

उत्तेजन के चालन का प्रकार्य निम्न प्रकार से होता है: मस्तिष्क के विभिन्न भागों के साथ मेरू रज्जु तंत्रिका तंतुओं, इसके तंत्रिका पथ, के माध्यम से सम्बंध बनाता है और अंगों (पेशियों, त्वचा, रूधिर वाहिकाओं, आदि) के साथ मेरू तंत्रिकाओं के द्वारा संबंध स्थापित करता है। जैसा कि पहले नोट किया गया है, मेरू रज्जु में दो प्रकार के तंत्रिका पथ होते हैं—आरोही (संवेदी) तथा अवरोही (प्रेरक)। मेरू तंत्रिकाओं में दो प्रकार के तंत्रिका तंतु होते हैं—संवेदी तथा प्रेरक।

मेरू तंत्रिका के संवेदी तंतुओं के माध्यम से परिधी यानी अंगों (त्वचा, पेशियों, आदि) से मेरू रज्जु को प्रेषित तंत्रिका आवेगों का चालन मस्तिष्क की आरोही

---

*लैटिन में मूल के लिये Radix शब्द है; तंत्रिका मूल के फूलने को Radiculities कहते हैं।

तंत्रिका पथों के माध्यम से होता है। इन आवेगों (उत्तेजनों) को मस्तिष्क के विभिन्न भाग अनुभव करते हैं। उदाहरणतया, त्वचा के ग्राहियों में उत्पन्न होने वाला उत्तेजन उद्दीपन के बाद प्रमस्तिष्क वल्कुट को प्रेषित हो जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप, वल्कुट में अनेक संवेदन, जैसे गर्मी, ठंड, दर्द, इत्यादि उत्पन्न होते हैं।

मेरू रज्जु को मस्तिष्क से तंत्रिका आवेग अवरोही पथों के माध्यम से प्रेषित हो जाते हैं और फिर मेरू तंत्रिका के प्रेरक तंतुओं के माध्यम से परिधि यानी अंगों को प्रेषित हो जाते हैं। ये आवेग (उत्तेजन) अनेक अंगों की अवस्था में परिवर्तन लाते हैं; उदाहरणतया, ये अस्थि पंजर पेशियों को संकुचित करते हैं, मूत्र व मल को स्वेच्छा से रोक लेते हैं, इत्यादि।

मेरू रज्जु की **प्रतिवर्त प्रक्रिया** निम्न है। मेरू रज्जु में अनेक प्रकार्यों के प्रतिवर्त केन्द्र होते हैं जैसे पेशी प्रक्रिया के केन्द्र। मेरू रज्जु का प्रत्येक खंड पेशियों के निश्चित समूहों के साथ सम्बंधित होता है। मेरू रज्जु के ग्रैव खंडों में डायाफ्राम, ग्रैव पेशियों, अंस मेखला तथा ऊपरी अग्रांगों की प्रतिवर्त प्रक्रिया के केन्द्र होते हैं। वक्षीय खंडों में कांड पेशियों के केन्द्र होते हैं, और कटि तथा सेक्रमी खंडों में श्रोणि पेशियों एवं निम्न अग्रांगों की पेशियों के केन्द्र होते हैं। रोगियों का निरीक्षण करते समय चिकित्सक प्रायः तथाकथित कण्डरा प्रतिवर्त (पटेला प्रतिवर्त, ऐकिलीज़ कण्डरा प्रतिवर्त, आदि) का अध्ययन करते हैं। इन प्रतिवर्तों की प्रतिवर्त आर्क मेरू रज्जु में युग्मित हो जाती हैं। मेरू रज्जु में कुछ अन्य प्रतिवर्तों के केन्द्र भी स्थित होते है: स्वेदन तथा वाहिका-प्रेरक केन्द्र वक्षीय और कटि भागों में होते हैं, और मूत्र, मल उत्सर्जन की प्रक्रिया तथा जननांगों की प्रक्रिया के केन्द्र सेक्रमी विभागों में होते हैं।

आइये पटेला प्रतिवर्त के उदाहरण की मदद से मेरू रज्जु की प्रतिवर्त प्रक्रिया का अध्ययन करें। चतुःशिरस्क ऊरू कण्डरा के ग्राहियों के उद्दीपन से (जैसे, हथौड़ी से एक हल्की-सी चोट करने पर) उत्तेजन उत्पन्न होता है जो संवेदी तंत्रिका तंतुओं के माध्यम से मेरू रज्जु को प्रेषित होते हैं। मेरू रज्जु में संवेदी तंत्रिका कोशिकाओं से आने वाले तंत्रिका आवेग प्रेरक तंत्रिका कोशिकाओं को प्रेषित हो जाते हैं। यह उत्तेजन फिर प्रेरक तंत्रिका तंतुओं के माध्यम से चतुःशिरस्क ऊरू पेशी को प्रेषित होता है जो संकुचित हो जाती है। इस संकुचन के फलस्वरूप पैर जानु संधि पर सीधा हो जाता है।

पेशी तान की प्रकृति भी प्रतिवर्त होती है। यह भली प्रकार ज्ञात ही है कि सभी पेशियाँ सदैव तानन (तान) की स्थिति में रहते हैं। पेशियों, कण्डराओं, स्नायुओं तथा संधि कैप्स्यूलों में संवेदी तंत्रिका सिरे होते हैं जिन्हे स्वातंरग्राही कहते हैं। पेशियों, संधियों तथा स्नायुओं की स्थिति में परिवर्तन होने पर ये ग्राही उद्दीप्त होते हैं। उत्तेजन संवेदी तंत्रिकाओं के माध्यम से मेरू रज्जु को प्रेषित होता है और

फिर प्रेरक तंत्रिकाओं द्वारा पेशियों को प्रेषित होता है। इसके परिणामस्वरूप पेशियाँ निरन्तर तानन (तान) की स्थिति में रहती हैं।

मेरू रज्जु को चोट लगने पर (अर्बुद, जख्म, आदि से) इसके प्रकार्य में विभिन्न परिवर्तन होते हैं। यदि शरीर के विभिन्न भागों में तंत्रिका पथों को चोट लग जाये तो उनकी संवेदनशीलता नष्ट हो जाती है, स्वैच्छिक पेशी संकुचन क्षीण हो जाता है (अंगघात), तथा अन्य परिघटनाएँ घटती हैं। मेरू रज्जु के केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर प्रतिवर्तों की हानि होती है।

यह स्मरण रहे कि मेरू रज्जु के कार्य मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित होते हैं।

मस्तिष्क

मस्तिष्क (लैटिन – cerebrum ग्रीक – encephalon *) कपाल कोटर में स्थित होता है। वयस्क में इसका औसत भार 1.280 से 1.380 कि० ग्रा० होता है, तथा नवजात शिशु में इसका भार 370-400 ग्रा० तक होता है। 1 वर्ष की आयु के शिशु में इसका दुगुना हो जाता है और उसकी आयु 4 या 5 वर्ष की होने
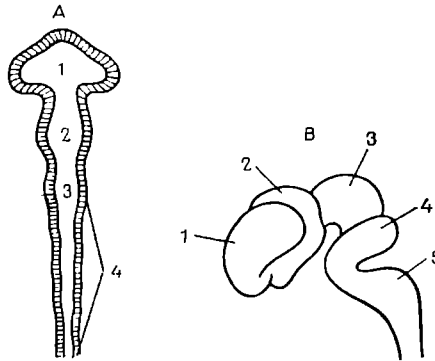
चित्र 126. मस्तिष्क का विकास (आरेख)

A – तंत्रिका नलिका का अनुदैर्घ्य काट : यहां तीन मस्तिष्क पुटिकाएं (1, 2 व 3) स्पष्ट है; 4 – तंत्रिका नलिका का वह भाग जो मेरू रज्जु के साथ संबंधित है; B – गर्भमस्तिष्क का पार्श्व दृश्य – पाँच मस्तिष्क पुटिकाएं; 1 – प्रथम पुटिका – अंत मस्तिष्क; 2 – द्वितीय पुटिका – मध्यवर्ती मस्तिष्क; 3 – तृतीय पुटिका – मध्य मस्तिष्क; 4 – चतुर्थ पुटिका – पश्च मस्तिष्क; 5 – पंचम पुटिका – मेडुला आ-ब्लांगेटा।

---

* मस्तिष्क के शोथ को encephalitis कहते हैं।

पर इसका भार तिगुना हो जाता है। इसके पश्चात 20 वर्ष की आयु तक मस्तिष्क का भार धीरे-धीरे बढ़ता रहता है।

मस्तिष्क की संरचना काफ़ी जटिल होती है। इसके विकास के बारे में उपलब्ध ज्ञान इसकी संरचना को समझने में मदद करता है। मस्तिष्क का विकास तथाकथित तंत्रिका नलिका के अग्र या वल्कुटी भाग से होता है। तंत्रिका नलिका मनुष्य के प्रारम्भिक भ्रूण काल में बाह्यचर्म तंत्रिका प्लेट से पृथक हो जाती है। विकास के दौरान तंत्रिक नलिका का यह भाग दो संकुचन द्वारा तीन विस्फारणों में विभाजित हो जाता है—अग्र, मध्यवर्ती तथा पश्च प्राथमिक मस्तिष्क आशय (चित्र 126)। बाद में प्रत्येक अग्र व पश्च आशय दो आशयों में विभाजित हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप पाँच सहायक मस्तिष्क आशय बन जाते हैं। प्रत्येक मस्तिष्क आशय मस्तिष्क का निश्चित भाग बनाता है। यह नोट करना चाहिये कि मस्तिष्क के सभी भाग
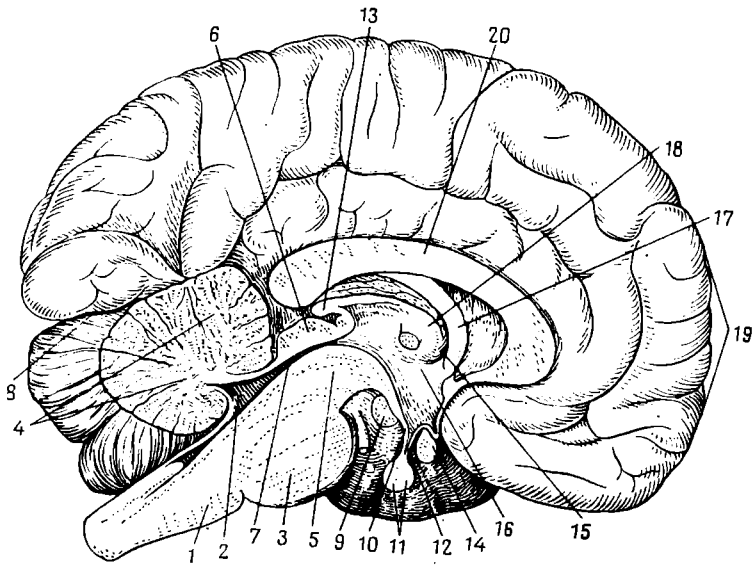
चित्र 127. मस्तिष्क का सैजिटीय भाग

1—मेडुला आब्लांगेटा; 2—चतुर्थ निलय; 3—पोन्स वैरोलाई; 4—अनुमस्तिष्क; 5—प्रमस्तिष्क वृन्तक; 6—पिंड चतुष्टि; 7—प्रमस्तिष्क जलवाही सेतु; 8—अनुप्रस्थ प्रमस्तिष्क विदर (प्रमस्तिष्क गोलार्धो तथा अनुमस्तिष्क के बीच); 9—मैमोलेरी बॉडी; 10—ट्यूबर साइनेरियम; 11—अधः स्फीतिका; 12—कीपक; 13—पिनियल ग्रंथि; 14—चाक्षुष व्यत्यासिका; 15—अन्तरानिलय रंध्र (तृतीय तथा पार्श्व निलयों के बीच); 16—हाइपोथैलेमिक सल्कस; 17—चापिका प्रमस्तिष्क; 18—थैलेमस; 19—प्रमस्तिष्क गोरार्ध; 20—महासंयोजक पिंड।
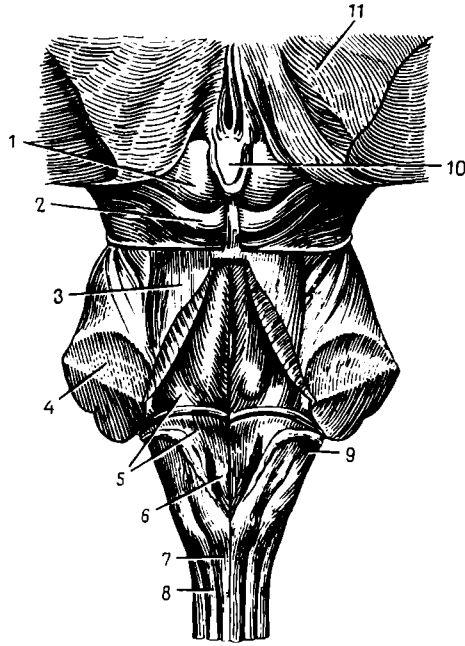
चित्र 128. मस्तिष्क स्तंभ का पश्च दृश्य (अनुमस्तिष्क को पृथक कर दिया गया है)

1 – ऊर्ध्व वप्र ; 2 – निम्न वप्र ; 3 – निम्न वप्र के साथ अनुमस्तिष्क वृन्तक ; 4 – पोन्स के साथ अनुमस्तिष्क वृन्तक ; 5 – चतुष्कोणी खात ; 6 – कपाल तंत्रिका के बारहवें युगल के केन्द्रक का स्थान ; 7 – तनु पूलिका ; 8 – फानाकार पूलिका ; 9 – मेडुला ऑब्लांगेटा के साथ अनुमस्तिष्क वृंतक ; 10 – पीनियल ग्रन्थि ; 11 – थैलेमस ।

समान रूप से विकसित नहीं होते : कुछ भाग अन्य भागों की तुलना में अधिक तेजी से विकसित होते हैं तथा अधिक बड़े हो जाते हैं।

चूंकि मस्तिष्क पाँच मस्तिष्क आशयों से बनता है तो मस्तिष्क के पाँच भाग होते हैं : (1) प्रमस्तिष्क गोलार्ध ; (2) मध्यमस्तिष्क जो चेतक, जानुनत पिंडों तथा अधोचेतक से बना होता है ; (3) मध्यवर्ती मस्तिष्क जो पिंड चतुष्टि व प्रमस्तिष्क वृंतक से बनता है ; (4) पश्च मस्तिष्क जो अनुमस्तिष्क तथा पोन्स से बनता है ; और (5) मेडुला आब्लांगेटा (दे० चित्र 127)। मस्तिष्क के अंतिम तीन भाग (अनुमस्तिष्क के अतिरिक्त) एक सामान्य नाम से जाने जाते हैं : मस्तिष्क स्तम्भ (चित्र 128)।

मस्तिष्क के अन्दर चार पारस्परिक सम्बंधित कोटर होते हैं जिन्हें निलय कहते हैं: दो पार्श्व निलय प्रमस्तिष्क गोलार्ध में स्थित होते हैं, तीसरा निलय मध्यमस्तिष्क में स्थित होता है, तथा चौथा निलय पश्च मस्तिष्क तथा मेडुला आब्लांगेटा का सामान्य कोटर है। निलयों में प्रमस्तिष्क-मेरू द्रव होता है।

मस्तिष्क के विभिन्न भागों का विकास असमान रूप से होता है तथा उनके प्रकार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। मानव मस्तिष्क में प्रमस्तिष्क गोलार्ध केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के अन्य भागों पर नियंत्रण रखते हैं। मस्तिष्क के कुल भार का 80 प्रतिशत भार इनका ही होता है। विकास की दीर्घ प्रक्रिया के परिणामस्वरूप मानवीय प्रमस्तिष्क गोलार्ध और प्रमस्तिष्क वल्कुट की संरचना काफ़ी जटिल हो गई है।

मेडुला आब्लांगेटा तथा पोन्स वेरोली

मेडुला आब्लांगेटा कपाल कोटर के आड़े भाग में स्थित होता है; इसके नीचे मेरू रज्जु तथा ऊपर पोन्स वेरोली (चित्र 129) होता है। मेडुला आब्लांगेटा की अग्र सतह के साथ-साथ एक विदर होता है जिसके प्रत्येक पृष्ठ पर दो उठाव होते हैं – एक पिरैमिड तथा एक ऑलिव। पश्च सतह पर एक रंध्र तथा दो पश्च रज्जुभ होते हैं जो मेरू रज्जु के समान रज्जुभों के आगे के भाग ही होते हैं। प्रत्येक पश्च रज्जुभ में दो बंडल – पूलिकाएँ होती हैं: तनु पूलिका और फनाकार पूलिका।

मेडुला आब्लांगेटा भूरे तथा श्वेत द्रव्य से बना होता है। भूरा द्रव्य श्वेत द्रव्य के अन्दर केन्द्रों के पृथक गुच्छ बनाता है।

पोन्स वेरोली एक थक्का है जो मेडुला आब्लांगेटा के ऊपर स्थित होता है (चित्र 129)। पोन्स के ऊपर प्रमस्तिष्क वृतंक होते हैं। पोन्स के पार्श्व भाग संकुचित होते हैं तथा मध्यवर्ती प्रमस्तिष्क वृतंक कहलाते हैं; ये पोन्स को अनुमस्तिष्क के साथ जोड़ते हैं। मेडुला आब्लांगेटा की भांति पोन्स भूरे तथा श्वेत द्रव्य से बना होता है। भूरा द्रव्य श्वेत द्रव्य के अन्दर कोशिकाओं के गुच्छ बनाता है जिन्हें केन्द्रक कहते हैं। मेडुला आब्लांगेटा और पोन्स के अधिकतर केन्द्रक कपाल तंत्रिकाओं के केन्द्रक होते हैं। इन केन्द्रकों की कोशिकाओं के प्रवर्ध मस्तिष्क से निकलते हैं तथा कपाल तंत्रिकाएँ बनाते हैं। मेडुला आब्लांगेटा व पोन्स के श्वेत द्रव्य में मेरू रज्जु में स्थित तंत्रिका पथों के तंत्रिका तंतु विद्यमान होते हैं। इसमें वे तंतु भी होते हैं जो कपाल तंत्रिकाओं के केन्द्रकों को मस्तिष्क के अन्य भागों एवं मेरू रज्जु के साथ जोड़ते हैं। मेडुला आब्लांगेटा तथा पोन्स की पश्च सतह तथाकथित चतुष्कोणीय खात बनाती है जो चतुर्थ निलय का आधार है।

चतुर्थ निलय (दे० चित्र 127) एक छोटा कोटर है जिसकी दो दीवारें, जिसे आधार कहते हैं, तथा एक छत होती है। चतुष्कोणीय खात के क्षेत्र में स्थित मेडुला
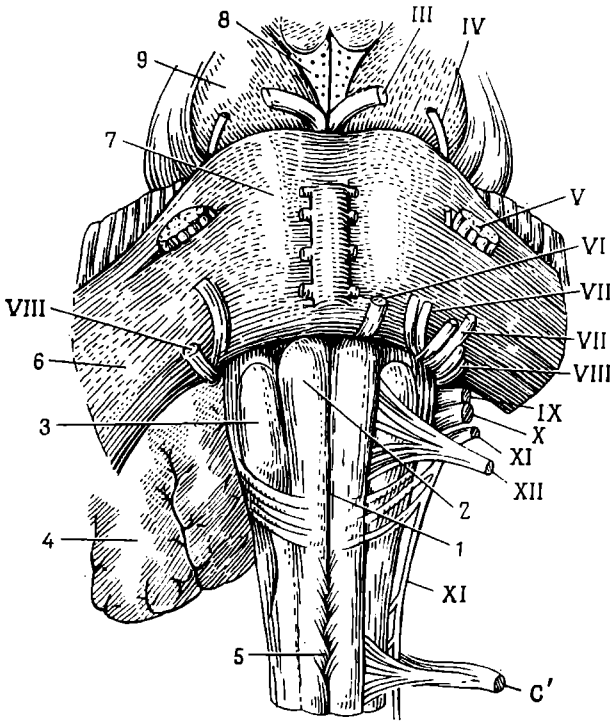
चित्र 129. मस्तिष्क स्तम्भ का अग्र भाग

1 – मेडुला ऑब्लांगेटा का अग्र मध्य विदर; 2 – मेडुला ऑब्लांगेटा का पिरैमिड; 3 – ओलिव; 4 – अनुमस्तिष्क; 5 – पिरैमिडो का व्यत्यसन तथा वह बिंदु जहां मेडुला ऑब्लांगेटा मेरू रज्जु के साथ मिल जाती है। 6 – मध्यवर्ती अनुमस्तिष्क वृंतक; 7 – पोन्स वेरोली; 8 – अन्तावृंतक खात; 9 – प्रमस्तिष्क वृंतक; III,IV,V,VI,VII,VIII,IX,X,XI, तथा XII – कपाल तंत्रिका के तदनुरूपी युगल; VII – मध्यवर्ती तंत्रिका; C – प्रथम मेरू तंत्रिका।

पदार्थ में पोन्स तथा मेडुला आब्लांगेटा का केन्द्रक होता है। छत को अनुमस्तिष्क के साथ संलग्न मेडुला पदार्थ की महीन प्लेटें बनाती हैं। चतुर्थ निलय का सम्बंध मेरू रज्जु की नलिका, तीसरे निलय और अवजालतानिका अवकाश के साथ होता है।

मेडुला आब्लांगेटा और पोन्स के प्रकार्य. मेरू रज्जु की भांति, मेडुला आब्लांगेटा तथा पोन्स के दो प्रकार्य होते हैं: एक है प्रतिवर्त प्रकार्य; तथा दूसरा है तंत्रिका आवेगों का चालन।

प्रतिवर्त प्रकार्य का कारण है इन संरचनाओं में कपाल तंत्रिकाओं के केन्द्रकों तथा विभिन्न प्रतिवर्तों के केन्द्रों की विद्यमानता। कपाल तंत्रिकाओं के आठ युगलों के केन्द्रक, पाँचवें से बारहवें तक, चतुष्कोणीय खात में स्थित होते हैं।

मेडुला आब्लांगेटा में जीवन के लिये महत्वपूर्ण केन्द्र होते हैं जिनमें ऊपर बताये गये हृद कार्य-विधि तथा श्वसन के केन्द्र भी सम्मिलित हैं। प्रत्येक केन्द्र तंत्रिका कोशिकाओं का गुच्छ है जो नियत अंग के कार्य का नियंत्रण करती हैं। केन्द्र के उद्दीपित होने पर तंत्रिका आवेग प्रेरक तंत्रिकाओं द्वारा अंग को प्रेषित हो जाते हैं जो या तो इसे कार्य करने के लिये उत्तेजित करता है या इसके कार्य में अवरोध उत्पन्न करता है। उदाहरणतया, हृद कार्य-विधि का केन्द्र जो मेडुला आब्लांगेटा में स्थित होता है हृदय को वेगस तंत्रिका द्वारा आवेग प्रेषित करता है तथा हृदय पर अवरोधी प्रभाव डालता है। अनुकम्पी तंत्रिकाओं के माध्यम से हृदय को प्रेषित आवेग इसकी कार्य-विधि को तीव्र बनाते हैं।

मेडुला आब्लांगेटा में वाहिकाप्रेरक केन्द्र होता है जो उद्दीपित होने पर रूधिर वाहिकाओं के ल्यूमेन में परिवर्तन उत्पन्न करता है। यह केन्द्र मेरू रज्जु के वाहिका-प्रेरक केन्द्रों के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है जो रूधिर वाहिकाओं का संकुचन करते हैं। मेडुला आब्लांगेटा में अनेक पाचन प्रतिवर्तों के केन्द्र (लाला-स्रावण, जठर तथा अग्न्याशयी रस का स्रवण, निगरण, इत्यादि) तथा रक्षी प्रतिवर्तों के केन्द्र (खाँसना, वमन आदि) भी स्थित होते हैं। ये केन्द्र क्रमशः अंगों के साथ कपाल तंत्रिकाओं के माध्यम से सम्बन्ध बनाते हैं।

मेडुला आब्लांगेटा केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र का जीवन के लिये महत्वपूर्ण भाग है। मेडुला आब्लांगेटा में उत्पन्न होने वाले विकारों के कारणवश् श्वसन और हृद अवरोध से मृत्यु भी हो सकती है।

यह बात नोट करनी चाहिए कि पोन्स तथा मेडुला आब्लांगेटा के माध्यम से होने वाले प्रतिवर्त मेरू रज्जु के द्वारा घटने वाले प्रतिवर्तों की तुलना में अधिक जटिल होते हैं। मेडुला आब्लांगेटा तथा पोन्स प्रत्यक्ष रूप से एवं मेरू रज्जु के केन्द्रों के माध्यम से जीव के अनेक प्रकार्यों का नियंत्रण करते हैं। मेडुला आब्लांगेटा के केन्द्रों के प्रकार्य वमन केन्द्र के प्रकार्य के मदद से सिद्ध किया जा सकता है। वमन केन्द्र में उत्तेजन पाचन पथ या तानिका में स्थित ग्राहियों के उद्दीपन के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। यह उत्तेजन मेडुला आब्लांगेटा से (वैगस तंत्रिका द्वारा) सीधे पाचन पथ की पेशियों एवं मेरू रज्जु के केन्द्रों को प्रेषित होता है जो उदरीय दीवार तथा डायाफ्राम की रेखित पेशियों और आंत्र आमाशय व ग्रसिका की चिकनी पेशियों के प्रकार्य का नियंत्रण करते हैं। इन केन्द्रों में उत्पन्न होने वाले उत्तेजन वमन की प्रक्रिया में भाग लेने वाली विभिन्न पेशियों के कार्य (संकुचन व शिथिलन) का समन्वयन करते हैं। सर्वप्रथम आंत्र की प्रतिक्रमाकुंचक गति होती है, फिर आमाशय

को जठरनिर्गम अवरोधिनी शिथिल होती है, ताकि आंत्र में स्थित पदार्थ आमाशय में आ जायें। इसके पश्चात् डायाफ्राम व उदरीय पेशियों का तीव्र संकुचन होता है (इस समय ग्रसिका की पेशियाँ शिथिल होती हैं), जिसके परिणामस्वरूप आमाशय दब जाता है और इसमें विद्यमान पदार्थ ग्रसिका व मुख के माध्यम से बाहर आ जाते हैं।

मेडुला आब्लांगेटा तथा पोन्स वेरोली का **चालन प्रकार्य** आरोही व अवरोही तंत्रिका पथों द्वारा सम्भव होता है। मेरू रज्जु से मस्तिष्क को तथा मस्तिष्क से मेरू रज्जु को आवेग इन पथों के तंत्रिका तंतुओं के माध्यम से प्रेषित होते हैं।

मेडुला आब्लांगेटा तथा पोन्स के प्रकार्यों पर प्रमस्तिष्क वल्कुट तथा मस्तिष्क के अन्य भाग प्रभाव डालते हैं।

मध्यवर्ती मस्तिष्क

मध्यवर्ती मस्तिष्क पोन्स के आगे स्थित होता है (चित्र 130)। इसमें दो प्रमस्तिष्क वृतंक तथा एक पिंडचतुष्टि होता है। मध्यवर्ती प्रमस्तिष्क का कोटर एक संकीर्ण गड्ढ़ा होता है तथा इसे प्रमस्तिष्क जलवाही सेतु कहते हैं। यह तीसरे व चौथे निलयों को जोड़ता है। प्रमस्तिष्क वृतंक भूरे तथा श्वेत द्रव्यों से बने होते हैं। भूरा द्रव्य अन्दर होता है तथा केन्द्रकों से बनता है। इनमें सबसे बड़ा श्याम पदार्थ तथा लाल पदार्थ होते हैं (चित्र 130)। लाल केन्द्रक युग्मी होता है। प्रमस्तिष्क वृतकों में कपाल तंत्रिकाओं के तीसरे व चौथे युगलों के केन्द्रक होते हैं। लाल केन्द्रक अवरोधी पथ बनाते हैं जो उसे मेरू रज्जु के अग्र शृंगों के साथ जोड़ते हैं।
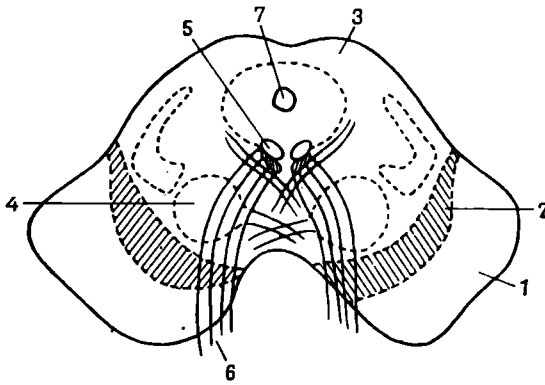
चित्र 130. मध्य मस्तिष्क का अनुप्रस्थ काट (आरेख)
1 – प्रमस्तिष्क वृतक; 2 – सबस्टैन्शिया नीगेरा; 3 – पिंड चतुष्टि; 4 – लाल केन्द्रक; 5 – कपाल तंत्रिका के तृतीय युगल का केन्द्रक; 6 – तृतीय कपाल तंत्रिका; 7 – प्रमस्तिष्क जलवाही सेतु।

प्रमस्तिष्क वृंतक का श्वेत द्रव्य आरोही (संवेदी) तथा अवरोही (प्रेरक) पथों के तंत्रिका तंतुओं से बना होता है।

पिंड चतुष्टि चार उठाव, या वप्र होते हैं—दो ऊर्ध्व तथा दो निम्न। वप्रों में तंत्रिका कोशिकाओं के गुच्छ—केन्द्रक होते हैं। चाक्षुष पथ के कुछ तंतु ऊर्ध्व वप्र तक विस्तरित होते हैं तथा श्रवण पथ के कुछ तंतु निम्न वप्र तक विस्तरित होते हैं। पिंड चतुष्टि के कुछ केन्द्रक मेरू रज्जु के अधर शृंगों के लिये तंत्रिका तंतु बनाते हैं।

मध्यवर्ती मस्तिष्क के प्रकार्य. मध्यवर्ती मस्तिष्क के विभिन्न प्रकार्य होते हैं। पिंड चतुष्टि के केन्द्रक तथाकथित अभिविन्यास प्रतिवर्तों के केन्द्र होते हैं यानी आकस्मिक चाक्षुष तथा ध्वनि उद्दीपकों के प्रतिवर्त में ये शरीर की जटिल गतियों का नियंत्रण करते हैं।

कनीनिका प्रतिवर्त की आर्क (तीव्र प्रकाश के प्रतिवर्त में कनीनिका का संकुचन) मध्यवर्ती मस्तिष्क में बंद होती है। प्रमस्तिष्क वृंतकों के केन्द्रक पेशी तान के नियंत्रण व विस्तारण में भाग लेते हैं। ये पेशियों के विभिन्न समूहों, जैसे फ्लेक्सर और प्रसारिणी, के तान की डिग्री का नियंत्रण करते हैं। पशुओं पर किये गये प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि मध्यवर्ती मस्तिष्क तथा केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के नीचे स्थित कुछ भागों को बिना छुए प्रमस्तिष्क गोलार्धों को निकालने से पशु की खड़े होने व अपनी स्थिति बनाये रखने की योग्यता कायम रहती है। मध्यवर्ती मस्तिष्क में विकारग्रस्त रोगी (अर्बुद, रक्तस्रावण, इत्यादि) पेशी तान में अनेक परिवर्तन पैदा करते हैं, विशेषत: प्रमस्तिष्करहित कड़ेपन की परिघटना व्यक्त करते हैं, जिसमें ग्रीवा, कांड व स्नायुओं की प्रसारिणियों की तान में एकदम तीव्रता आ जाती है। यह परिघटना मध्यवर्ती मस्तिष्क के केन्द्रकों के नियंत्रण प्रभावों में उत्पन्न होने वाले अवरोधों तथा पेशियों की जालिकामय संरचना के साथ सम्बंधित होती है। तंत्रिका आवेग मेरू रज्जु के माध्यम से मध्यवर्ती मस्तिष्क से पेशियों को प्रेषित होते हैं। अनुमस्तिष्क, प्रमस्तिष्क गोलार्धों के केन्द्रकों तथा प्रमस्तिष्क वल्कुट से आने वाले आवेग अपने क्रम में प्रमस्तिष्क वृंतकों के केन्द्रकों को प्रेषित हो जाते हैं। ये आवेग मध्यवर्ती मस्तिष्क के केन्द्रकों की क्रियाविधि पर नियंत्रक प्रभाव डालते हैं।

जालिकामय संरचनाएं

मस्तिष्क के आधार में तथाकथित जालिकामय संरचनाएँ होती हैं। यह संरचना तंत्रिका कोशिकाओं एवं केन्द्रकों की बड़ी सँख्या से बनी होती है जो रज्जु के स्वरूप में व्यवस्थित होते हैं और तंत्रिका तंतुओं के जाल द्वारा परस्पर सम्बंधित रहते हैं। जालिकामय संरचना केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के अन्य भागों (प्रमस्तिष्क वल्कुट, मेरू

रज्जु, अनुमस्तिष्क, इत्यादि) के साथ आरोही और अवरोही पथों के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करती है। जालिकामय संरचना की बनावट और प्रकार्य के अध्ययन पर अब काफी ध्यान दिया जा रहा है। यह सिद्ध हो चुका है कि यह संरचना जीव के विभिन्न प्रकार्यों पर प्रभाव डालती है। यह प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता है, बल्कि मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु के अन्य भागों द्वारा होता है और परिणामस्वरूप उनकी प्रकार्य अवस्था में परिवर्तन हो जाते हैं। उदाहरणतया, जालिकामय संरचना से प्रमस्तिष्क वल्कुट तक पहुँचने वाले आवेग वल्कुट की क्रिया में तीव्रता ला देते हैं। निद्रा एवं जागने की स्थितियाँ भी काफ़ी हद तक जालिकामय संरचना पर निर्भर करती हैं। जालिकामय संरचना मेरू रज्जु की प्रतिवर्त क्रिया पर प्रभाव डालती है।

अनेक औषधि पदार्थ (ऐमिनेजीन, ल्युमिनेन, इत्यादि) स्पष्टतः जालिकामय संरचना के माध्यम से प्रभाव डालते हैं।

जालिकामय संरचना में रोगग्रस्त प्रक्रियाएँ जीव में होने वाले अनेक विकारों का कारण हो सकती हैं (रोगग्रस्थ निद्रा, दु:साध्य अनिद्रा, आदि)।

मध्यमस्तिष्क

मध्यमस्तिष्क प्रमस्तिष्क वृंतकों के आगे स्थित होता है (दे० चित्र 127)। इसमें दो चेतक, अधश्चेतक, जानुनत पिंडों के दो युग्म (पार्श्व तथा मध्यस्थ), अध:स्फीतिका और अधिप्रवर्ध होते हैं।

चेतक मध्यमस्तिष्क की सबसे बड़ी संरचनाएँ होती हैं। ये मुख्यतः तंत्रिका कोशिकाओं से बनती हैं जो केन्द्रक बनाती हैं।

अधश्चेतक चेतक के नीचे स्थित होता है। इस क्षेत्र की सबसे बड़ी संरचनाएँ ट्यूबर साइनेरियम तथा स्तनाकार पिंड होते हैं। इनमें तंत्रिका कोशिकाओं के गुच्छ – केन्द्रक स्थित होते हैं। ट्यूबर साइनेरियम का निम्न भाग अधः स्फीतिका के साथ जुड़ा रहता है।

जानुनत पिंड चेतक के पीछे स्थित होते हैं और इनमें तंत्रिका कोशिकाएँ स्थित होती हैं।

दो चेतकों के बीच एक रेखा-छिद्र कोटर होता है – तृतीय निलय – जो प्रमस्तिष्क गोलार्धों के निलयों के साथ दो अंतरानिलय रंध्रों द्वारा और चतुर्थ निलय के साथ प्रमस्तिष्क जल-वाहिका द्वारा जुड़ा होता है।

मध्यमस्तिष्क के प्रकार्य. चेतक माध्यमिक (उपवल्कुटीय) संवेदी केन्द्र होते हैं। वे सभी तंत्रिका पथ जिनके माध्यम से मानवीय शरीर के सभी ग्राहियों से उत्तेजन प्रेषित होते हैं, चेतक तक विस्तरित होते हैं। चेतक प्रमस्तिष्क वल्कुट के अनेक भागों के साथ तंत्रिका तंतुओं द्वारा सम्बन्ध बनाये रखते हैं। प्रमस्तिष्क वल्कुट को

चालित तंत्रिका आवेग पहले चेतक को प्रेषित होते हैं यानी उपवल्कुटीय संवेदी केन्द्रों को प्रेषित होते हैं।

चेतक का सम्बन्ध ग्लोबी पैल्लिडा के साथ भी होता है। ये संरचनाएँ चेतक के पार्श्व में स्थित होती और ये उपवल्कुटीय प्रेरक केन्द्र होते हैं। चेतक को हानि पहुँचने पर संवेदनशीलता में काफ़ी विकार उत्पन्न हो जाते हैं (संवेदनशीलता के किसी निश्चित स्वरूप में कमी हो जाना या उसकी पूर्णतया अविद्यमानता, तथा कभी-कभी स्वतःस्फूर्त "चेतक दर्द")।

अधश्चेतक में कापिक केन्द्र होते हैं जो उपापचय, ऊष्मा उत्पादन एवं ऊष्मा हानि, धमनी दाब, हृद क्रिया-विधि तथा अन्य कायिक प्रकार्यों का नियंत्रण करते हैं। अधश्चेतक अधःस्फीतिका के माध्यम से अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की क्रिया पर नियंत्रण प्रभाव डालता है। अधश्चेतक की हानि हो जाने के कारणवश, तापनियमन, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा और जल व लवण उपापचयों, अनेक अन्तःस्रावी विकारों और अन्य परिवर्तनों पर प्रभाव पड़ता है।

पार्श्व जानुनत पिंड माध्यमिक (उपवल्कुटीय) चाक्षुष केन्द्र होते हैं; मध्यवर्ती जानुनत पिंड श्रवण केन्द्र होते हैं। चाक्षुष तथा श्रवण संवेदी अंगों से प्रमस्तिष्क वल्कुट को प्रेषित आवेग जानुनत पिंडों के माध्यम से गुज़रते हैं जिसके कारण जानुनत पिंडों को चोट लगने से दृश्यता और श्रवण में विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

अनुमस्तिष्क

अनुमस्तिष्क मेडुला आब्लांगेटा और पोन्स के पीछे स्थित होता है (दे० चित्र 127)। इसकी दो पालियाँ और एक मध्य भाग होता है जिसे वर्मिस कहते हैं। यह भूरे तथा श्वेत द्रव्यों से बना होता है। भूरा द्रव्य निरंतर बाह्य परत—अनुमस्तिष्क का वल्कुट—बनाता है। वल्कुट के नीचे श्वेत द्रव्य होता है जिसमें अनुमस्तिष्क के केन्द्रक स्थित होते हैं (चित्र 131)। इनमें सबसे बड़ा केन्द्रक दन्तुर केन्द्रक होता है।

अनुमस्तिष्क मस्तिष्क के अन्य भागों के साथ तंत्रिका तंतुओं के माध्यम से सम्बन्ध बनाता है जो बेलन जैसे थक्के बनाता है। इन थक्कों के तीन युगल होते हैं (अनुमस्तिष्क वृंतक): ऊर्ध्व, जो अनुमस्तिष्क को मध्यवर्ती मस्तिष्क के साथ जोड़ता है, मध्यवर्ती जो अनुमस्तिष्क को पोन्स के साथ जोड़ता है, और निम्न जो अनुमस्तिष्क को मेडुला आब्लांगेटा के साथ जोड़ता है (दे० चित्र 128)।

अनुमस्तिष्क के प्रकार्य. अनुमस्तिष्क का प्रकार्य गतियों का समन्वयन करना, उन्हें स्पष्ट बनाना व अवरोधरहित बनाना है। यह अवकाश में शरीर का संतुलन कायम रखने में महत्वपूर्ण रोल अदा करता है और पेशियों की तान पर प्रभाव
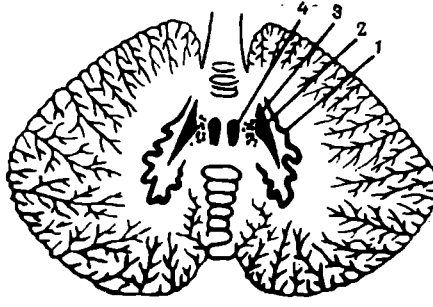
चित्र 131. अनुमस्तिष्क का क्षैतिज भाग (आरेख)
1 – श्वदंती केन्द्रक ; 2,3 तथा 4 – अन्य अनुमस्तिष्क केन्द्रक।
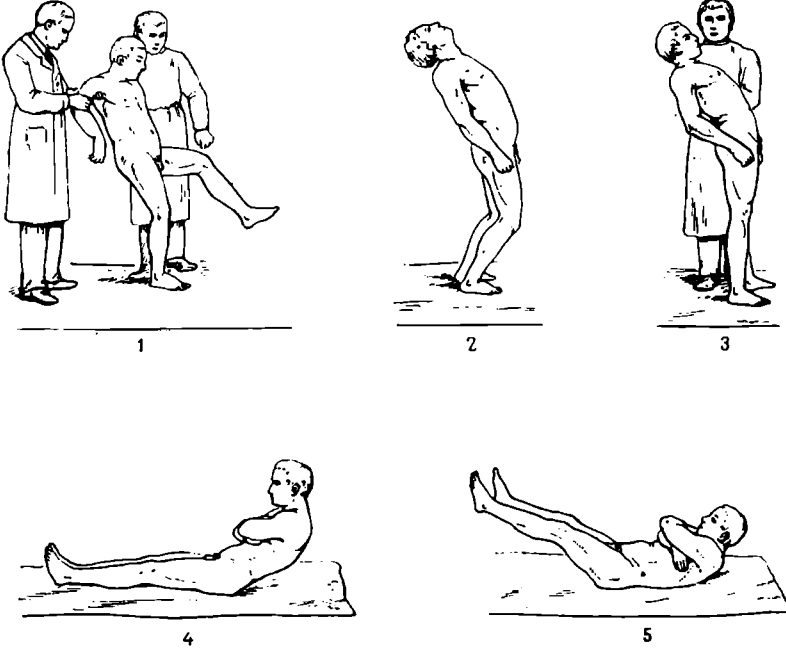
चित्र 132. अनुमस्तिष्क विक्षत द्वारा उत्पन्न प्रेरक विकार
1 – अनुमस्तिष्क दिकार वाले रोगी की चाल ; 2 – शरीर का सामान्य पीछे की ओर झुकाव ; 3 – अनुमस्तिष्क के रोगी के शरीर का पीछे की ओर झुकाव (रोगी जानु संधि में अपना पाव संगतिपूर्णतः नहीं मोड़ता है) ; 4 – सामान्य बैठना ; 5 – अनुमस्तिष्क विक्षत में बैठना।

19 0838

डालता है। अनुमस्तिष्क को हानि पहुँचने पर चाल में अवरोध उत्पन्न होते हैं (चित्र 138); गति असमन्वयित और प्रसर्पी हो जाती है (गतिविभ्रम), "अनुमस्तिष्क" कंप प्रगट हो जाता है, वाक पर भी प्रभाव पड़ता है और तीव्र स्थितियों में रोगी चलने में असमर्थ हो जाते हैं।

अनुमस्तिष्क की गतिविधियाँ प्रतिवर्त होती हैं। अनुमस्तिष्क पेशियों से आवेग आरोही (मेरूप्रमस्तिष्क) पथों के द्वारा प्राप्त करता है, तथा पेशियों को आवेग अवरोही पथों (मुख्यतः प्रमस्तिष्क वृंतकों के लाल केन्द्रों) के द्वारा प्रेषित करता है। अनुमस्तिष्क न केवल गतियों के समन्वयन का नियंत्रण करता है, बल्कि जीव के कायिक प्रकार्यों पर भी प्रभाव डालता है। उदाहरणतया, ल० आर्बेली की प्रयोग-शाला में पशुओं पर किये गये प्रयोगों में अनुमस्तिष्क के उद्दीपन से वैसे ही परिवर्तन हुये जो कायिक तंत्र के अनुकम्पी भाग के प्रभाव से होते हैं, यानी रूधिर दाब में वृद्धि, हृद कार्यविधि में परिवर्तन, कनीनिका का विस्फारण, इत्यादि। अनुमस्तिष्क की कार्य-विधि पर प्रमस्तिष्क वल्कुट भी प्रभाव डालता है।

प्रमस्तिष्क गोलार्ध

प्रमस्तिष्क गोलार्धों की सँख्या दो है—दक्षिण तथा वाम। भूरे ग्रे और श्वेत द्रव्यों से बने होते हैं। भूरा द्रव्य बाह्य परत बनाता है, जिसे प्रमस्तिष्क वल्कुट कहते हैं।
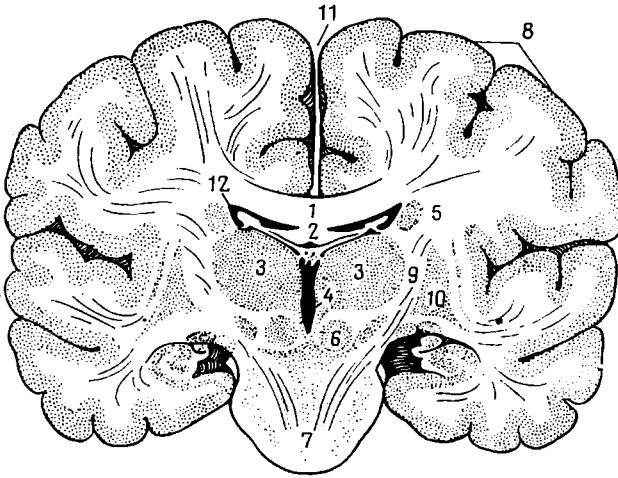
चित्र 133. मस्तिष्क का अग्र भाग

1—महासंयोजक पिंड; 2—प्रमस्तिष्क चापिका; 3—थैलेमस; 4—तृतीय निलय; 5—पुच्छ केन्द्रक; 6—लाल केन्द्रक; 7—पोन्स वैराइली; 8—प्रमस्तिष्क वल्कुट; 9—आन्तरिक कैप्स्यूल; 10—मसूराकार केन्द्रक; 11—प्रमस्तिष्क का अनुदैर्घ्य विदर (अन्तरागोलार्धाय विदर); 12—पार्श्व निलय।
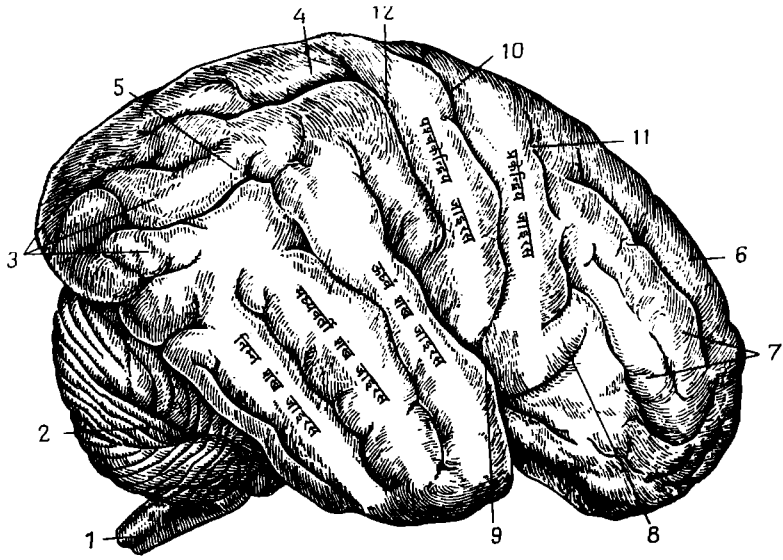
चित्र 134. प्रमस्तिष्क गोलार्धों के जाइरस एवं सल्कस
1 – मेरू रज्जु ; 2 – अनुमस्तिष्क ; 3 – अनुकपाल पालि में जाइरस ; 4 – ऊर्ध्व भित्तीय पालि ; 5 – निम्न भित्तीय पालि ; 6 – ऊर्ध्व अग्र जाइरस ; 7 – मध्यवर्ती अग्र जाइरस ; 8 – निम्न अग्र जाइरस ; 9 – पार्श्व प्रमस्तिष्क विदर ; 10 – केन्द्रिय सल्कस ; 11 – प्रकेन्द्रिय विदर ; 12 – पश्च केन्द्रिय सल्कस।

इसके अन्दर श्वेत द्रव्य होता है, जिसमें तंत्रिका कोशिकाओं के अनेक गुच्छ होते हैं जो प्रमस्तिष्क गोलार्धों के केन्द्रक बनाते हैं (मस्तिष्क के आधार के केन्द्रक या उपवल्कुटीय गुच्छ)। सबसे बड़े केन्द्रक पुच्छीय केन्द्रक तथा मसूराकार केन्द्रक होते हैं (चित्र 133) जो आपस में मिलकर तथाकथित रेखित पिंड बनाते हैं। मसूराकार केन्द्रक श्वेत द्रव्य की परत द्वारा दो भागों में विभाजित हो जाता है: गुठली और ग्लोबॅस पैलिडॅस। प्रत्येक गोलार्ध अग्र, भित्तीय, शंख और अनुकपाल पालियों तथा एक पालिका जिसे इंसुला कहते हैं में विभाजित होता है। गोलार्धों की सतह पर विदर या सल्कस होते हैं और उनके बीच सवंलन या जाइरस नामक उठाव होते हैं (चित्र 134)। अग्र तथा भित्तीय के बीच के विदर को केन्द्रिय सल्कस, और भित्तीय एवं अनुकपाल पालियों के बीच के विदर को भित्तीय अनुकपाल सल्कस कहते

हैं। अग्र तथा भित्तीय पालियों से शंख पालि पार्श्विक प्रमस्तिष्क विदर द्वारा पृथक होती है जिसमें इंसुला स्थित होता है। अग्र पालि में एक केन्द्रपूर्व विदर तथा दो अग्र विदर होते हैं जिन्हें ऊर्ध्व तथा निम्न सल्कस कहते हैं। आरोही अग्र जाइरस केन्द्रिय और पूर्वकेन्द्रिय सल्कस के बीच स्थित होता हैं। अग्र सल्कस निम्न, मध्यवर्ती और ऊर्ध्व अग्र जाइरसों को पृथक करते हैं।

भित्तीय पालि में केन्द्रपश्च और अंतराभित्तीय सल्कस, आरोही भित्तीय जाइरस और उर्ध्व तथा निम्न भित्तीय पालिकाएँ स्थित होती हैं।

शंख पालि में चार विदर ऊर्ध्व, मध्यवर्ती, निम्न शंख, तर्कुरूपी और हिपोकैंम्पल जाइरसों को पृथक करते हैं।

अनुकपाल पालि में जिह्वा जाइरस, एक फाना और अन्य जाइरस व विदर होते हैं।

दोनों गोलार्ध महासंयोजक पिंड द्वारा जुड़े होते हैं जो तंत्रिका तंतुओं से बना होता है।

गोलार्धों एवं मस्तिष्क आधार की निम्न सतह मस्तिष्क का आधार कहलाती है।

प्रत्येक गोलार्ध में **पार्श्विक निलय** होता है। पार्श्विक निलय एक अनियमित आकृति वाला कोटर होता है जो चार भागों से बनता है: केन्द्रिय भाग (भित्तीय पालि में), अग्र फाना (अग्र पालि में), निम्न फाना (शंख पालि में) और पश्च फाना (अनुकपाल पालि में)। पार्श्विक निलयों की दीवारें गोलार्धों के पदार्थ से बनी हुई होती है। पार्श्विक निलयों में, अन्य प्रमस्तिष्क निलयों की भांति, प्रमस्तिष्कमेरू द्रव होता है। प्रत्येक पार्श्विक निलय तृतीय निलय के साथ सम्बंधित होता है।

प्रमस्तिष्क गोलार्धों के केन्द्रक उपवल्कुटीय प्रेरक केन्द्र होते हैं। प्रमस्तिष्क वृंतकों और मस्तिष्क के कुछ अन्य भागों के केन्द्रकों के साथ मिलकर ये तथाकथित बाह्य-पिरैमिडी तंत्र बनाते हैं। यह तंत्र गतियों को स्वचालित बनाता है यानी दौड़ते, चलते समय एक निश्चित संयोग तथा क्रम में पेशियों का संकुचित होना। बाह्य-पिरैमिडी तंत्र में विक्षतों के कारणवश् अनेक अनैच्छिक अनिवार्य गतियाँ घटती हैं या, इसके विपरीत, गति दृढ़ तथा कम हो जाती है। जैसा ऊपर नोट किया गया है कि गोलार्धों, विशेषत: ग्लोबस पैलिडॅस, के केन्द्रक उपवल्कुटीय संवेदी केन्द्रों—चेतकों—के साथ जुड़े होते हैं। चेतक की कोशिकाओं से आवेग ग्लोबस पैलिडस की कोशिकाओं को और फिर मस्तिष्क आधार एवं मेरू रज्जु को प्रेषित हो जाते हैं।

प्रमस्तिष्क गोलार्धों का श्वेत द्रव्य तंत्रिका तंतुओं से बना होता है जो केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के विभिन्न भागों को जोड़ता है। कुछ तंतु दो गोलार्धों के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं तथा कुछ एक ही गोलार्ध के अनेक भागों को जोड़ते हैं, तथा

कुछ तंतु प्रमस्तिष्क वल्कुट एवं केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के निम्नस्थित भागों को जोड़ते हैं। प्रमस्तिष्क वल्कुट एवं केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र के अन्य भागों के बीच सम्बन्ध बनाने वाले तंत्रिका तंतु प्रक्षेप तंतु कहलाते हैं। ये आन्तरिक कैप्स्यूल नामक श्वेत द्रव्य की परत बनाते हैं जो पुच्छीय केन्द्रक तथा एक ओर चेतक व दूसरी ओर मसूराकार केन्द्रक के बीच स्थित होती है (दे० चित्र 133)। आन्तरिक कैप्स्यूल के तंतु पथों का भाग बनाते हैं जो गोलार्धों से प्रमस्तिष्क वृंतक तक और फिर पोन्स, मेडुला आब्लांगेटा व मेरू रज्जु तक विस्तरित होता है। आवेग प्रमस्तिष्क वल्कुट को कुछ पथों के माध्यम से (आरोही पथ) तथ वल्कुट से अन्य पथों के माध्यम से (अवरोही पथों के माध्यम से) प्रेषित होते हैं।

प्रमस्तिष्क वल्कुट 2-4 मि० मी० मोटी भूरे द्रव्य की परत होती है। इसका कुल समतलीय क्षेत्रफल, सल्कस तथा जाइरस को मिलाकर, 2200 वर्ग सें० मी० होता है। वल्कुट की जटिल ऊतकीय संरचना होती है। सूक्ष्मदर्शी की मदद से तंत्रिका कोशिकाओं एवं तंत्रिका तंतुओं की अनेक परतें देखी जा सकती हैं (चित्र 135)। कोशिकाओं की आकृति, आकार तथा क्रम भिन्न-भिन्न होते हैं। वल्कुट में लगभग 1400000000 तंत्रिका कोशिकाएँ होती हैं। रूसी वैज्ञानिक व० बेट्स (1874) ने सर्वप्रथम प्रमस्तिष्क वल्कुट की जटिल संरचना पर ध्यान दिया। उसने सिद्ध किया कि प्रमस्तिष्क वल्कुट का प्रत्येक भाग अपनी संरचना के आधार पर अन्य भागों से पृथक होता है, तथा वल्कुट में तंत्रिका कोशिकाओं के कुछ स्वरूपों का वर्णन किया।

भिन्न-भिन्न पशुओं में प्रमस्तिष्क वल्कुट भिन्न-भिन्न होता है। विकास की क्रिया में तंत्रिका तंत्र के अन्य भागों की तुलना में यह बाद में प्रगट हुआ। पहले यह सरीसृपों में प्रगट हुआ और धीरे-धीरे कशेरूक की प्रत्येक परवर्ती कक्षा में अधिक जटिल होता गया। उच्चतर स्तनधारी प्राणियों में वल्कुट की संरकना सर्वाधिक जटिल होती है। मानव में प्रमस्तिष्क गोलार्ध तथा वल्कुट विशेष रूप से अत्यधिक विकसित हैं। प्रमस्तिष्क वल्कुट विकसित होने के साथ-साथ तंत्रिका तंत्र के उच्चतम भाग के रूप में इसका महत्व बढ़ गया जो जीव के प्रकार्य का नियंत्रण करता है और जीव को बाह्य वातावरण के साथ सम्बन्धित करता है।

प्रमस्तिष्क वल्कुट के विभिन्न क्षेत्रों का महत्व. आई० पावलोव ने प्रमस्तिष्क वल्कुट को विश्लेषकों का जटिल तंत्र माना जिसमें उद्दीपकों का विश्लेषण और संश्लेषण होता है। वल्कुट के सभी क्षेत्र परस्पर सम्बंधित होते हैं तथा प्रत्येक की क्रिया-विधि संपूर्ण वल्कुट की अवस्था पर निर्भर करती है। यद्यपि, विभिन्न क्षेत्रों के प्रकार्य तथा संरचनाएँ विभिन्न होती हैं। पावलोव ने वल्कुट में "ग्राही क्षेत्रों" की विद्यमानता को स्वीकार किया जो मुख्य बाह्य ग्राहियों के लिये विशेष क्षेत्र हैं। उसने इन क्षेत्रों का नाम विश्लेषक (या विश्लेषकों के प्रमस्तिष्क सिरे) रखा,
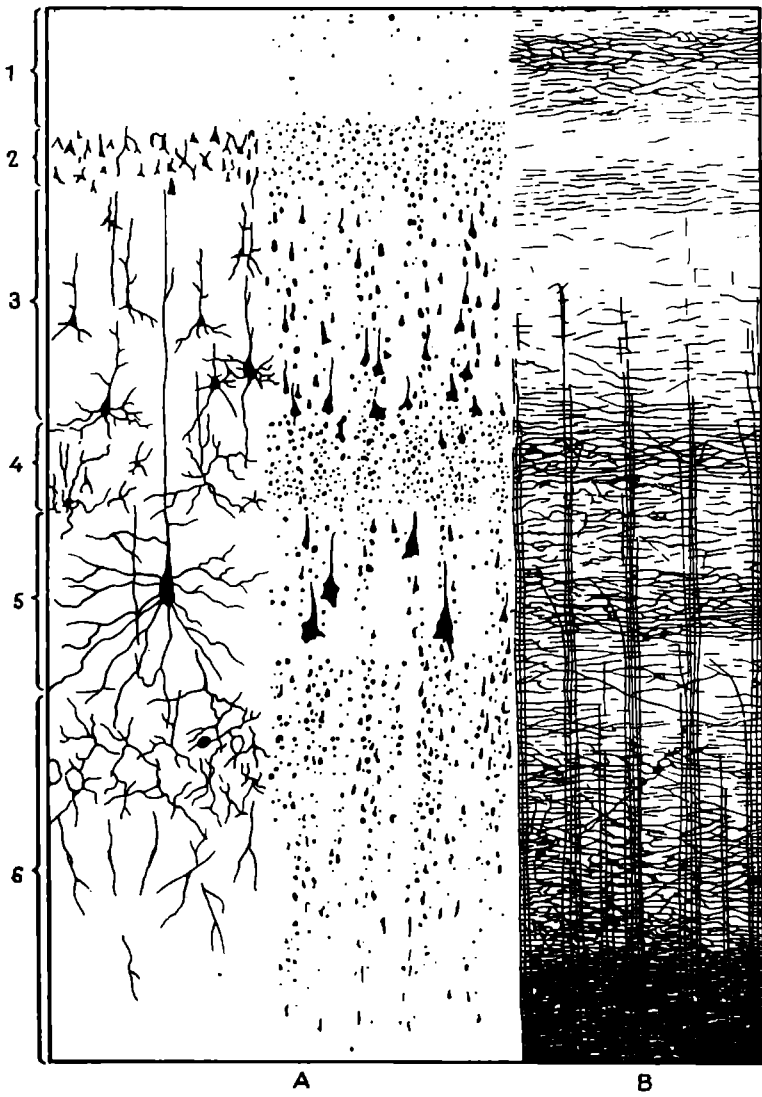
चित्र 135. प्रमस्तिष्क वल्कुट की संरचना

A – वल्कुट में तंत्रिका कोशिकाओं की व्यवस्था। संख्याएं 1, 2, 3, 4, 5 तथा 6 कोशिकाओं के छः स्तरों को निर्दिष्ट करती हैं। B – वल्कुट में तंत्रिका तंतुओं की व्यवस्था।

अर्थात दृश्य विश्लेषक, श्रवण विश्लेषक, प्रेरक विश्लेषक, इत्यादि। प्रमस्तिष्क वल्कुट में प्रत्येक विश्लेषक एक केन्द्रिय भाग या केन्द्रक, जिसमें उच्चतम विश्लेषण या संश्लेषण स्थान लेता है, और एक परिधीय भाग से बना होता है जिसमें सरलतर विश्लेषण एवं संश्लेषण स्थान लेते हैं। वल्कुट में प्रत्येक विश्लेषक का क्षेत्र स्पष्टतः वर्णित नहीं होता और प्रतीत होता है कि वह अन्य क्षेत्रों पर प्रतिरोपित है। यह प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है जिनमें प्राणियों के प्रमस्तिष्क गोलार्धों के अनेक भागों को निकाल दिया गया था। उदाहरणतया, यदि श्रवण विश्लेषक के केन्द्रिय भाग सहित शंख पालि को निकाल दिया जाए तो कुत्ता जटिल ध्वनियों में विभेद नहीं कर पायेगा ; परन्तु सरल ध्वनियों में विभेद करने की योग्यता को कायम रखेगा। वस्तुतः श्रवण विश्लेषक की कुछ कोशिकाएँ गोलार्धों के अन्य भागों में स्थित होती हैं।

नीचे मुख्य विश्लेषकों की स्थिति का अध्ययन किया गया है (दे० चित्र 134)।

1. **प्रेरक विश्लेषक** मुख्यतः आरोही अग्र जाइरस (अग्र पालि) में स्थित होता है। यहाँ स्वांतरग्राही उद्दीपक अनुभव होते हैं, उनका विश्लेषण होता है तथा अस्थायी सम्बन्ध, (प्रतिवर्त पेशी गतियाँ) बनते हैं। जाइरस के ऊर्ध्व भाग में तंत्रिका कोशिकाओं के समूह होते हैं जो व्यावहारिक रूप से निम्न अग्रांगों की पेशियों के साथ जुड़े होते हैं। जाइरस के निम्न भाग में सिर की पेशियों के साथ सम्बंन्धित तंत्रिका कोशिकाएँ होती हैं, और मध्यवर्ती भागों में पेशियों के अन्य समूहों के साथ सम्बन्धित तंत्रिका कोशिकाएँ होती हैं।

2. **त्वचीय संवेदनशीलता** (दर्द, ताप, आदि) **का विश्लेषक** आरोही भित्तीय जाइरस (भित्तीय पालि) में स्थित होता है।

3. **घ्राण विश्लेषक** हिपोकैम्पल जाइरस (शंख पालि) के आन्तरिक भाग में स्थित होता है। ऐसा विश्वास है कि स्वाद विश्लेषक भी यहीं स्थित है।

4. **श्रवण विश्लेषक** ऊर्ध्व शंख जाइरस में स्थित होता है।

5. **दृश्य विश्लेषक** अनुकपाल पालि में स्थित होता है।

वाक् प्रकार्य केवल मानव में ही होता हैं ; इसमें सम्पूर्ण वल्कुट का भाग लेना आवश्यक है, लेकिन यह केवल कुछ क्षेत्रों के साथ ही सम्बन्धित होता है। इन क्षेत्रों में निम्न अग्र जाइरस का पश्च भाग सम्मिलित है जिसमें प्रेरक वाक् विश्लेषक स्थित होता है (दक्षिण हस्त लोगों में यह वाम पक्ष में होता है, और वाम हस्त लोगों में यह दक्षिण पक्ष में होता है)। इस विश्लेषक में विक्षतों के कारणवश् वाक् में अवरोध उत्पन्न हो जाते हैं। विश्लेषकों वाले अन्य प्रमस्तिष्क क्षेत्रों में चोट लगने से क्रमशः प्रकार्यों में अवरोध उत्पन्न हो जाते हैं।

यह स्मरण रहे कि सोचना प्रमस्तिष्क वल्कुट के पृथक क्षेत्रों के कार्य के साथ ही नहीं, बल्कि इसकी संपूर्ण प्रक्रिया के साथ संबंधित है।

प्रमस्तिष्क वल्कुट तंत्रिका तंत्र के अन्य भागों के साथ तंत्रिका पथों के माध्यम से सम्बन्ध स्थापित करता है। तंत्रिका आवेग प्रमस्तिष्क वल्कुट को संवेदी या आरोही पथों के द्वारा जाते हैं और वल्कुट से आवेग प्रेरक या अवरोही पथों द्वारा प्रेषित होते हैं। चित्र 136 में सर्वाधिक महत्वपूर्ण संवेदी तथा प्रेरक पथ दिखाये गये हैं।

दर्द और तापीय संवेदनशीलता पथ (दे० अध्याय 70 "संवेदी अंग")। संवेदी
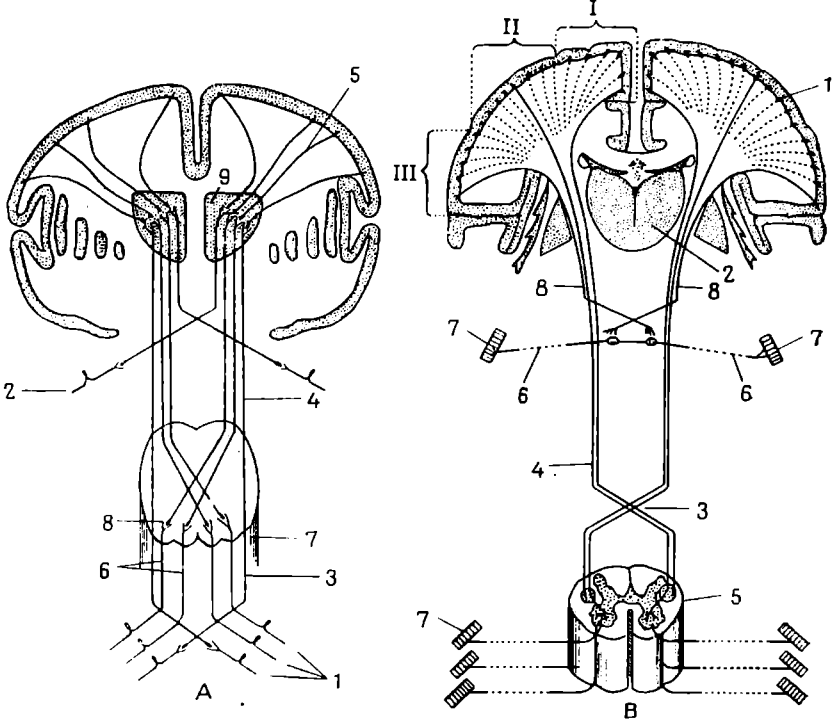
चित्र 136. चालन पथ (तंत्रिका क्षेत्र)

A – संवेदी क्षेत्र ; 1 – मेरू तंत्रिकाओं के संवेदी तंतु ; 2 – कपाल तंत्रिकाओं के संवेदी तंतु ; 3, 4, 5 – मेरू थैलेमिक क्षेत्र (वेदना एवं ताप संवेदनशीलता का चालन पथ) ; 6 – तनु पूलिका एवं फानाकार पूलिका (पेशियों एवं संधियों की संवेदनशीलता के चालन पथ) ; 7 – मेडुला आब्लांगेटा ; 8 – तनु पूलिका एवं फानाकार पूलिका के केन्द्रक ; 9 – थैलेमस ; B – प्रेरक क्षेत्र ; I, II तथा III – वल्कुट का प्रेरक क्षेत्र ; 1 – प्रमस्तिष्क वल्कुट ; 2 – थैलेमस ; 3 – पिरैमिडी क्षेत्र का व्यत्यसन ; 4 – पिरैमिडी क्षेत्र ; 5 – मेरू रज्जु का भाग ; 6 – प्रेरक कपाल तंत्रिका ; 7 – पेशियां ; 8 – वल्कवासी केन्द्रक क्षेत्र।

तंतु, जिनके माध्यम से आवेग त्वचा के दर्द एवं तापीय ग्राहियों से प्रेषित होते हैं, मेरू रज्जु में पृष्ठ श्रृंगी की कोशिकाओं के साथ सम्बन्ध बनाते हैं। पृष्ठ श्रृंगी की कोशिकाओं के प्रवर्ध एक बंडल बनाते हैं जिसे **मेरू – चेतक पथ** कहते हैं। मेरू रज्जु में इस पथ के तंतु विपरीत भाग में पार कर जाते हैं, पार्श्विक रज्जुकों में से गुज़र कर मेडुला आब्लांगेटा, पोन्स वैरोली और प्रमस्तिष्क वृंतकों में प्रवेश कर के चेतक कोशिकाओं तक पहुँचते हैं। चेतक कोशिकाओं के प्रवर्ध आरोही भित्तीय जाइरस के क्षेत्र में (त्वचीय संवेदनशीलता विश्लेषक का क्षेत्र) आंतरिक कैप्स्यूल में वल्कुट तक विस्तरित होते हैं। चूंकि मेरूचेतक पथ के तंतु मेरू रज्जु में विपरीत भाग में प्रवेश कर जाते है, तो शरीर के दक्षिण अर्ध की त्वचा से आने वाले तंत्रिका आवेग वाम प्रमस्तिष्क गोलार्ध के वल्कुट को प्रेषित होते हैं, तथा शरीर के वाम अर्ध की त्वचा से आने वाले आवेग दक्षिण प्रमस्तिष्क गोलार्ध के वल्कुट को प्रेषित होते हैं।

संगीत-संधि संवेदिनशीलता पथ. पेशियों, संधियों तथा स्नायुओं में स्थित ग्राहियों से आवेग प्रेषित करने वाले संवेदी तंत्रिका तंतु मेरू तंत्रिकाओं के साथ मेरू रज्जु में प्रवेश करते हैं। ये तंतु मेरू रज्जु में समाप्त नहीं होते हैं, बल्कि पृष्ठ रज्जुकों के साथ-साथ तनु एवं फानाकार पूलिकाओं में मेडुला आब्लांगेटा में प्रवेश करते हैं जहाँ वे विशेष केन्द्रकों की कोशिकाओं के सम्पर्क में आते हैं। इन केन्द्रकों की कोशिकाएँ तंत्रिका तंतु उत्पन्न करती हैं जो मेडुला आब्लांगेटा में विपरीत भाग में चले जाते हैं और पोन्स वैरोली एवं प्रमस्तिष्क वृंतकों के माध्यम से चेतक तक पहुँच जाते हैं। चेतक कोशिकाओं के प्रवर्ध अपने क्रम में आन्तरिक कैप्स्यूल को पार करके प्रमस्तिष्क वल्कुट (प्रेरक विश्लेषक के क्षेत्र में) में आ जाते हैं।

कई पेशी-संधि संवेदनशील पथ अनुमस्तिष्क तक विस्तरित होते हैं (मेरूअनु-मस्तिष्क पथ)।

प्रेरक पथ. सबसे महत्वपूर्ण पथों में से एक पथ जिसके माध्यम से आवेग प्रमस्तिष्क वल्कुट से प्रेषित होते हैं **पिरैमिडी** या **वल्कुटी-मेरू पथ** कहलाता है। यह पथ प्रमस्तिष्क गोलार्धों के अग्र आरोही जाइरस की पिरैमिडी कोशिकाओं से उत्पन्न होता है। वल्कुट-मेरू के तंतु आन्तरिक कैप्स्यूल को पार करके प्रमस्तिष्क वृंतकों, पोन्स वैरोली और मेडुला आब्लांगेटा के पिरैमिडों में आते हैं। मेडुला आब्लांगेटा के निम्न भाग में इस पथ के अधिकांश तंतु क्रॉसित हो जाते हैं, अर्थात् एक भाग से दूसरे भाग में पार कर जाते हैं व मेरू रज्जु के पार्श्विक रज्जुकों में आ जाते हैं तथा शेष तंतु इसके अधर रज्जुकों के साथ-साथ उतर जाते हैं। मेरू रज्जु में वल्कुटी-मेरू पथ के तंतु अधर श्रृंगी की कोशिकाओं तक विस्तरित होते हैं। अधर श्रृंगी की कोशिकाओं से तंत्रिका आवेग मेरू तंत्रिकाओं के प्रेरक तंतुओं के माध्यम से पेशियों को प्रेषित हो जाते हैं।

चूंकि वल्कुटी-मेरू पथ के तंतु विपरीत भाग में ग्रा जाते हैं, इस पथ के द्वारा तंत्रिका ग्रावेग दक्षिण गोलार्ध के वल्कुट से शरीर के वाम ग्रर्ध की पेशियों को प्रेषित होते हैं तथा वाम गोलार्ध के वल्कुट से शरीर के दक्षिण ग्रर्ध की पेशियों को प्रेषित होते हैं।

वल्कुटी-बल्ब या वल्कुटी-केन्द्रक पथ, जिसके तंतु कपाल तंत्रिकाग्रों के प्रेरक केन्द्रक तक विस्तरित होते हैं, प्रमस्तिष्क गोलार्धों के ग्रग्र ग्रारोही जाइरस के निम्न भाग पर ग्रारम्भ होते हैं। इन केन्द्रकों की कोशिकाग्रों से ग्रावेग कपाल तंत्रिकाग्रों के प्रेरक तंतुग्रों के माध्यम से क्रमश: पेशियों को प्रेषित होते हैं।

उच्चतर तंत्रिका कार्य-विधि

पावलोव ने प्रमस्तिष्क वल्कुट के प्रकार्य को उच्चतर तंत्रिका क्रिया कहा। संलग्न उपवल्कुटीय गुच्छिका (संलग्न उपवल्कुट) के साथ इसका गहरा सम्बन्ध है। तंत्रिका तंत्र के ग्रन्य भागों की भांति, वल्कुट का प्रकार्य प्रतिवर्ती होता है। यह सेचेनोव ने 1863 में प्रकाशित ग्रपनी पुस्तक 'मस्तिष्क के प्रतिवर्त' में कहा था। यद्यपि, प्रमस्तिष्क वल्कुट में होने वाली क्रियाग्रों का वस्तुगत ग्रध्ययन केवल तभी सम्भव हो सका जब पावलोव ने प्रतिबंधित प्रतिवर्तों की खोज की तथा यह सिद्ध किया कि ये प्राणियों में उच्चतर तंत्रिका क्रिया-विधि का ग्राधार बनाते हैं।

ग्रननुबंधित प्रतिवर्त ग्रन्तर्जात प्रतिवर्त होते हैं जो ग्रानुवंशिकता द्वारा प्रेषित होते हैं। जटिल ग्रन्तर्जात प्रतिवर्तों को **वृति** भी कहते हैं। ग्रननुबंधित प्रतिवर्तों में कनीनिका, चूषण, निगलना, कण्डरा प्रतिवर्त तथा कई ग्रन्य प्रतिवर्त सम्मिलित है। ग्रननुबंधित प्रतिवर्तों की प्रतिवर्त ग्रार्क स्थायी होती है यानी इनके ग्राहीं, संवेदी तंत्रिकाएँ, केन्द्रक ग्रौर प्रेरक तंत्रिकाएँ निश्चित होते हैं। ग्रननुबंधित प्रतिवर्त निश्चित उद्दीपक की ग्रनुक्रिया से उत्पन्न होते हैं; ग्रननुबंधित लाला प्रतिवर्त केवल स्वाद पैंपिला पर भोजन की ग्रनुक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है (दे० चित्र 137)। परिणामी उत्तेजन संवेदी (रससंवेदी) तंत्रिकाग्रों के द्वारा लाला केन्द्रक को प्रेषित हो जाता है जो मेडुला ग्राब्लांगेटा में स्थित होता है। तंत्रिका ग्रावेग मेडुला ग्राब्लांगेटा से प्रेरक (स्रवण) तंत्रिकाग्रों के द्वारा लाला ग्रन्थियों को प्रेषित हो जाते हैं। विभिन्न ग्रननुबंधित प्रतिवर्तों के केन्द्रक मेरू रज्जु तथा मस्तिष्क के विभिन्न भागों में स्थित होते हैं। ग्रननुबंधित प्रतिवर्तों द्वारा ग्रनेक ग्रंगों एवं तंत्रों का कार्य निरंतर नियंत्रित ग्रौर समन्वयित होता रहता है तथा जीव की विद्यमानता भी कायम रहती है। ग्रननुबंधित प्रतिवर्त जीव को वातावरण में होने वाले केवल उन निश्चित परिवर्तनों के प्रति ही ग्रनुकूल बना सकते हैं जो प्राणि की नियत जाति पर कई पीढ़ियों से घटते चले ग्रा रहे हैं।
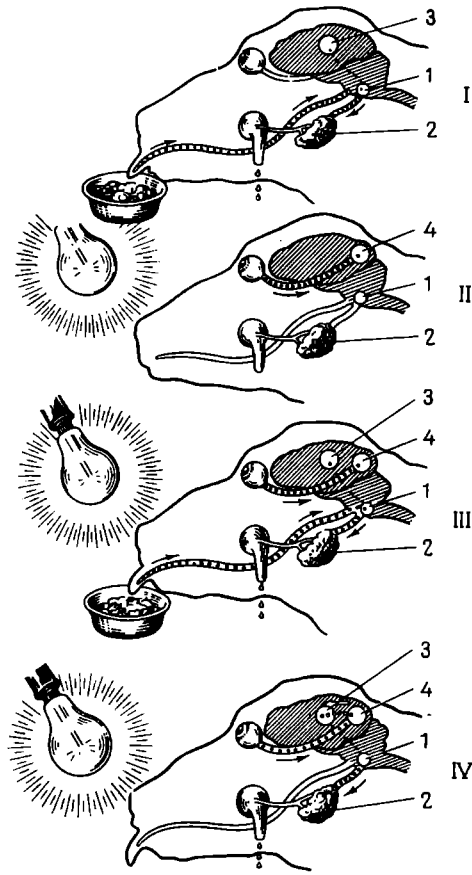
चित्र 137. प्रतिबन्धित प्रतिवर्त के बनने का आरेख
I – अप्रतिबंधित लाला प्रतिवर्त ; II – प्रतिबंधित उद्दीपक का प्रभाव (विद्युत लैम्प से प्रकाश) तथा वल्कुट के दृश्य क्षेत्र में उत्तेजन के फोकस का प्रकट होना ; III – अप्रतिबंधित उद्दीपक द्वारा प्रतिबंधित उद्दीपक का प्रबलीकरण ; वल्कुट में एक ही समय में दो उत्तेजनों का फोकस होता है : एक दृश्य क्षेत्र में तथा दूसरा खाद्य क्षेत्र में। IV – प्रतिबंधित प्रतिवर्त का बनना ; वल्कुट में दृश्य तथा खाद्य क्षेत्रों में परिणामी अस्थायी सम्बन्ध तीर द्वारा निर्दिष्ट किया गया है ; 1 – मेडुला आब्लांगेटा में लाला केन्द्र ; 2 – लाला-ग्रन्थि ; 3 – खाद्य क्षेत्र में उत्तेजन का फोकस ; 4 – दृश्य क्षेत्र में उत्तेजन का फोकस।

अनुबंधित प्रतिवर्त बनाये जाते हैं; ये मानव या पशु के जीवन काल में उत्पन्न होते हैं। ये एकदम व्यक्तिगत होते हैं और अस्थायी होते हैं, यानी ये लुप्त भी हो सकते हैं और प्रगट भी हो सकते हैं। अनुबंधित प्रतिवर्त किसी भी उद्दीपक—अनुबंधित उद्दीपक या संकेत—की अनुक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरणतया, यदि अननुबंधित भोजन-प्रतिवर्त स्वाद पैपिला पर भोजन की अनुक्रिया के परिणामस्वरूप होता है, तो अनुबंधित भोजन प्रतिवर्त भोजन के दृश्य तथा गन्ध द्वारा (बिना खाये) और भोजन के समय पहले से सम्बंधित किसी भी उद्दीपक की अनुक्रिया द्वारा उत्पन्न हो सकता हैं। अनुबंधित प्रतिवर्तों की प्रतिवर्त आर्क प्रमस्तिष्क वल्कुट में बंद हो जाती हैं और ये अस्थायी होती हैं।

अनुबंधित प्रतिवर्त प्राणि जीव और उसके वातावरण के बीच अस्थायी सम्बन्ध हैं। इन प्रतिवर्तों की मदद से जीव स्वयं को वातावरण की सदैव परिवर्तित हो रही स्थितियों के अनुकूल ढाल लेता है और "...कुल जीव एवं बाह्य तथा आन्तरिक वातावरण के बीच जटिल सम्बन्ध तथा जीव एवं उसके वातावरण के बीच स्पष्ट साम्यन सुरक्षित बना रहता है" (बीकोव)। सजीव जीव में अनुबंधित और अननुबंधित प्रतिवर्तों के बीच प्रकार्य सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं।

अनुबंधित प्रतिवर्त नियत अवस्थाओं में उत्पन्न होते हैं और अननुबंधित प्रतिवर्तों पर आधारित होते हैं। इसीलिये अनुबंधित उद्दीपक की क्रिया समय में अननुबंधित उद्दीपक की क्रिया के संपाती होनी चाहिये। अन्य शब्दों में, यह आवश्यक है कि अनुबंधित उद्दीपक को अननुबंधित उद्दीपक सुदृढ़ करे। उदाहरणतया, भोजन के दृश्य तथा गन्ध से उत्पन्न होने वाला लाला-स्रावण का अनुबंधित प्रतिवर्त भोजन के खाये जाने के संपाती इन उद्दीपकों का परिणाम है। यह भी आवश्यक है कि अनुबंधित उद्दीपक की क्रिया अननुबंधित उद्दीपक की क्रिया से थोड़ी-सी पहले आरम्भ होनी चाहियें। मान लें कि किसी प्राणि में दृश्य उद्दीपक द्वारा अनुबंधित लाला प्रतिवर्त उत्पन्न करता है। वैद्युत बल्ब का प्रकाश अनुबंधित उद्दीपक के रूप में प्रयुक्त किया गया है (दे० चित्र 137)। यहाँ अननुबंधित उद्दीपक भोजन है जिससे सदैव लाला स्रावण होता है। वैद्युत प्रकाश प्राणि को भोजन देने से कुछ सेकेण्ड पूर्व चालू किया जाता है और यह तब तक चालू रहता है जब तक प्राणि को भोजन दिया जाता है। यदि यह विधि कई बार दोहराई जाये, तो अनुबंधित लाला प्रतिवर्त स्थापित हो जाता है तथा लाला का स्रावण बिना भोजन खाये प्रकाश के चालु करते ही आरम्भ हो जाएगा। इस उदाहरण में प्रकाश अनुबंधितभोजन उद्दीपक है—जो भोजन द्वारा होने वाले उद्दीपन का सूचक है।

पावलोव के अनुसार पहले से विद्यमान अनुबंधित प्रतिवर्त नए अनुबंधित प्रतिवर्तों की स्थापना का आधार बन सकते हैं। ऐसे अनुबंधित प्रतिवर्तों को द्वितीय कोटि के प्रतिवर्त कहते हैं। द्वितीय कोटि के प्रतिवर्तों के आधार पर तृतीय कोटि के प्रतिवर्त

भी बन सकते हैं। सामान्यतः, अनुबंधित प्रतिवर्त न केवल पृथक उद्दीपकों की अनुक्रिया के फलस्वरूप बनते हैं, बल्कि जीव पर एक ही समय में क्रिया कर रहे उद्दीपकों के समूह की अनुक्रिया के परिणामस्वरूप भी बन सकते हैं।

अनुबंधित प्रतिवर्तों के बनने का नियम मूलतः निम्न प्रकार है: अनुबंधित उद्दीपक प्रमस्तिष्क वल्कुट में उत्तेजन का फोकस उत्पन्न करता है। अननुबंधित उद्दीपक की अग्रिम क्रिया के साथ उत्तेजन का द्वितीय फोकस प्रगट होता है (पावलोव के अनुसार, वल्कुट में अननुबंधित प्रतिवर्तों के केन्द्रों का प्रतिनिधित्व होता है)। उत्तेजन के इन दो फोकसों के बीच एक "अस्थायी सम्बन्ध" बन जाता है। जब अनुबंधित एवं अननुबंधित उद्दीपक अनेक बार प्रक्रिया कर चुके होते हैं, तो अस्थायी सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप, केवल अनुबंधित उद्दीपक की प्रक्रिया ही (अननुबंधित उद्दीपक की तदनन्तर प्रक्रिया के बिना) उत्तेजन के दो फोकसों के प्रगट होने का कारण बनती है और एक प्रतिवर्त अनुक्रिया करती है जो अननुबंधित प्रतिवर्त के सदृश होती है। अनुबंधित प्रतिवर्त की प्रतिवर्त आर्क में निम्न भाग होते हैं: ग्राही जो अनुबंधित उद्दीपकों को अनुभव करते हैं, संवेदी तंत्रिका, वल्कुट का क्षेत्र जहाँ अनुबंधित उद्दीपक अनुभव किये जाते हैं, वल्कुट का एक अन्य क्षेत्र जहाँ जो अननुबंधित प्रतिवर्त के केन्द्र के साथ सम्बंधित होता है—अननुबंधित प्रतिवर्त का केन्द्र प्रेरक तंत्रिका तथा कार्यरत अंग।

पावलोव ने वल्कुट में उत्तेजन के विभिन्न फोकसों के बीच सम्बन्धों के बनने को **युग्मन** कहा। अनुबंधित प्रतिवर्त युग्मन के परिणामस्वरूप बनते हैं। वल्कुट के विभिन्न क्षेत्रों और तंत्रिका तंत्र के विभिन्न भागों के बीच सम्बन्ध ऊपर दिये गये आरेखीय वर्णन से कहीं अधिक जटिल होते हैं।

प्रमस्तिष्क वल्कुट में अवरोध. प्रमस्तिष्क वल्कुट में, तंत्रिका तंत्र के अन्य भागों की भांति, उत्तेजन की प्रक्रियाओं के अतिरिक्त अवरोध की प्रक्रियाएँ भी होती हैं। उत्तेजन तथा अवरोध आधारभूत तंत्रिका प्रक्रियाएँ हैं। बाह्य अवरोध के उत्पन्न हो जाने से या तो अनुबंधित प्रतिवर्त क्षीण हो जाते हैं, या पूर्णतः लुप्त हो जाते हैं। अवरोध दो प्रकार के होते हैं: बाह्य तथा आंतरिक।

बाह्य अवरोध. अनुबंधित प्रतिवर्त का बाह्य अवरोध नए उद्दीपक की प्रक्रिया के फलस्वरूप होता हैं। प्रमस्तिष्क वल्कुट में उत्तेजन का नया फोकस उत्पन्न होता है और उत्तेजन के वर्तमान फोकस में अवरोध पैदा करता है। परिणामस्वरूप, पहले से बना हुआ प्रतिवर्त या तो क्षीण हो जाता है, या पूर्णतः लुप्त हो जाता है, अर्थात् उसमें अवरोध उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणतया, यदि अनुबंधित-प्रतिवर्त लालास्रवण पर किये जा रहे प्रयोग के समय पशु तक बाह्य उद्दीपक (जैसे, शोर या चीख) पहुँचता हैं, तो लाला का स्रावित होना बंद हो जाता है। नए प्रतिवर्तों के बनने से पहले से विद्यमान अनुबंधित प्रतिवर्तों में अवरोध उत्पन्न हो जाएगा।

आन्तरिक अवरोध वल्कुट की उसी तंत्रिका कोशिकाओं में उत्पन्न होते हैं जिनके साथ नियमित अनुबंधित प्रतिवर्त का सम्बन्ध होता है। आन्तरिक अवरोध की एक प्रकार में अनुबंधित प्रतिवर्त लुप्त हो जाता है। आनुबंधित प्रतिवर्त को बनाये रखने के लिये अननुबंधित उद्दीपक (भोजन) की प्रक्रिया के द्वारा समय समय पर अनुबंधित उद्दीपक (जैसे, प्रकाश) की प्रक्रिया को दृढ़ बनाते रहना चाहिये। यदि काफी दीर्ध काल तक सुदृढ़ करने वाली प्रक्रिया नहीं होती है तो अनुबंधित प्रतिवर्त क्षीण हो जाता है तथा अंत में लुप्त हो जाता है अर्थात् समाप्त हो जाता है। अनुबंधित प्रतिवर्तों के प्रगट व समाप्त होने की प्रक्रियाएँ मानव के सम्पूर्ण जीवन काल में होती रहती हैं। अवरोध वल्कुट में अनावश्यक अस्थायी सम्बन्धों को समाप्त करता है।

प्रमस्तिष्क वल्कुट में विकिरण तथा संकेन्द्रण. प्रमस्तिष्क वल्कुट के किसी निश्चित क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला उत्तेजन आस-पास के क्षेत्रों में भी विस्तरित हो जाता है। उत्तेजन के इस विस्तारण को **विकिरण** कहते हैं। इसके विपरीत शरीरक्रिया विज्ञानी प्रक्रिया, जिसमें "प्रमस्तिष्क वल्कुट के निश्चित क्षेत्र में "विस्तरित" उत्तेजन संकेन्द्रित होता है, **संकेन्द्रण** कहलाती है। इन दो प्रक्रियाओं की खोज कुत्तों के अनुबंधित प्रतिवर्तों पर प्रयोग करके पावलोव ने सर्वप्रथम की। उदाहरणतया, पशु में लाला प्रतिवर्त किसी नियत ध्वनि की अनुक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न किया जा सकता है। सर्वप्रथम लाला-स्रावण न केवल इसी ध्वनि की अनुक्रिया से बल्कि अन्य समान ध्वनियों की अनुक्रिया के फलस्वरूप होता है। इस प्रतिक्रिया का कारण यह तथ्य है कि उत्तेजन सम्पूर्ण प्रमस्तिष्क वल्कुट में विकिरित होता है। यह न केवल नियत अनुबंधित उद्दीपक के साथ सम्बंधित तंत्रिका कोशिकाओं में विद्यमान होता है, बल्कि वल्कुट में आस-पास के क्षेत्रों में भी विद्यमान होता है जो सदृश उद्दीपकों द्वारा प्रक्रिया करते हैं। यदि अननुबंधित उद्दीपक (पोषण करना) द्वारा अनुबंधित उद्दीपक सुदृढ़ हो जाता है, और तान के आधार पर पहले के साथ काफ़ी अधिक मिलती-जुलती ध्वनियाँ सुदृढ़ नही होती हैं, तो उत्तेजन वल्कुट में शीघ्र ही संकेन्द्रित हो जाएगा। लाला का स्रावण सिर्फ अनुबंधित उद्दीपन को अतिरिक्त समर्थन देने की अनुक्रिया के प्रत्युत्तर में होगा। समान उद्दीपकों द्वारा प्रतिवर्त लाला-स्रावण में अवरोध पैदा हो जाएगा। अतएव, अनुबंधित उद्दीपकों में विभेद उत्पन्न हो जाएगा। उत्तेजन की भांति, अवरोध भी विकिरित तथा संकेन्द्रित होता है। चालकता की प्रक्रिया संकेन्द्रण या अवरोध के साथ सम्बंधित है। वल्कुट के किसी निश्चित क्षेत्र में उत्तेजन का संकेन्द्रण वल्कुट में आस-पास के क्षेत्रों में अवरोध उत्पन्न करता है; अवरोध के संकेन्द्रण के साथ-साथ आस-पास के क्षेत्रों में उत्तेजन प्रगट होता है। वल्कुट उपवल्कुटीय केन्द्रों में धनात्मक चालकता उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणतया, वल्कुट का अवरोध (मादकता, या निश्चेतना में) उपवल्कुटीय केन्द्रों में उत्तेजन पैदा करता है जिससे प्रेरक अशांति होती है।

प्रमस्तिष्क वल्कुट का विश्लेषण प्रकार्य. प्रमस्तिष्क वल्कुट का एक प्रकार्य है इसे प्रेषित उद्दीपकों का विश्लेषण करना। केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र में विभिन्न उद्दीपकों में विभेद करने की विशेषता होती है (जैसे, ध्वनिक, दृश्य, रससंवेदी, पीड़ा, इत्यादि)। इसके अतिरिक्त, न केवल विभिन्न उद्दीपकों में विभेद किया जाता है (जैसे, दृश्य उद्दीपक को ध्वनि उद्दीपक से पृथक किया जाता है) बल्कि नियत उद्दीपक की कोटि भी निर्धारित हो जाती है। उदाहरणतया, दृश्य विश्लेषक प्रकाश की तीव्रता, उसका वर्ण व छाया, पिंडों की आकृति व उनके बीच की दूरी ज्ञात कर सकता है। पावलोव ने कहा : " यदि प्राणि सभी अवस्थाओं के प्रति अभिविन्यस्त एवं अनुकूल होना चाहता है तो स्पष्टतया प्राणि में बाह्य विश्व के अवयवों में विभेद करने तथा बाह्य विश्व को अवयवों मे तोड़ कर उनका विश्लेषण करने की योग्यता होनी चाहिये।" अनेक उद्दीपकों का विश्लेषण संवेदी अंगों (ग्राहियों) और प्रमस्तिष्क वल्कुट द्वारा होता है। प्रारम्भिक (सरलतम) विश्लेषण ग्राहियों में ही होता है। प्रत्येक ग्राही केवल निश्चित उद्दीपकों को ही अनुभव करता है (नेत्र का रैंटिना चाक्षुष उद्दीपक के साथ प्रक्रिया करता है, श्रवण का अंग शोर के प्रति प्रक्रिया करता है, इत्यादि)। उद्दीपकों का अधिक विस्तृत एवं परिष्कृत विश्लेषण प्रमस्तिष्क वल्कुट में ही होता है। सम्पूर्ण वल्कुट विश्लेषकों का एक जटिल तंत्र है जिसमें विभिन्न उद्दीपकों का विभेदन होता है। इसके अतिरिक्त वल्कुट विभिन्न उद्दीपकों को सम्बं-धित एवं एकीकृत करता है अर्थात् इनका संश्लेषण करता है। संश्लेषण या युग्मन सम्बन्धों के प्रगट होने से होता है (अनुबंधित प्रतिवर्त) और यह जीव की निश्चित क्रिया में प्रकट होता है। वल्कुट की संश्लेषण की विशेषता के कारण विभिन्न उद्दीपक एवं जटिल समूह के रूप में सम्बंधित तथा अनुभव होते हैं। इसके बाद जीव उद्दीपकों के जटिल समूह के प्रति प्रक्रिया करता है। उदाहरणतया, यदि कुत्ते में चाक्षुष, ध्वनिक तथा स्पर्श उद्दीपकों के समूह के प्रति अनुबंधित प्रतिवर्त उत्पन्न होता है तो इनमें से कोई भी उद्दीपक स्वयं प्रतिवर्त प्रक्रिया नहीं कर सकता और प्रतिवर्त लाला-स्रावण केवल उद्दीपकों के सम्पूर्ण समूह की अनुक्रिया द्वारा ही होगा। प्रमस्तिष्क वल्कुट इसे प्राप्त होने वाले उद्दीपकों का निरन्तर विश्लेषण एवं संश्लेषण करता रहता है जिसके फलस्वरूप जीव उनके प्रति एक निश्चित प्रक्रिया करता है।

मानव की उच्चतर तंत्रिका क्रिया-विधि की विशेषताएं

उच्चतर तंत्रिका कार्य-विधि की सामान्य रूप-रेखा सर्वप्रथम प्रयोगशालाओं में प्राणियों पर किये गये प्रयोगों द्वारा ज्ञात की गई। मुख्यत: ये मानव में भी जन्मजात होते हैं। बच्चों में उच्चतर तंत्रिका कार्य-विधि पर किये गये प्रयोगों (एन० क्रासना-गोरस्की, एन० कसातकिन) से सिद्ध हुआ है कि यह अनुबंधित प्रतिवर्त प्रकृति

की होती है। जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है और लोगों के सम्पर्क में आता है, तथा आस-पास के सामाजिक और जैव-विज्ञानी वातावरण द्वारा प्रभावित होता है, इसके प्रमस्तिष्क वल्कुट में नए-नए "अस्थायी सम्बन्धों" की सँख्या बढ़ती जाती है और अननुबंधित प्रतिवर्तों के साथ ये सम्बन्ध जुड़ते जाते हैं। इसी के साथ-साथ मानव की उच्चतर तंत्रिका की क्रिया-विधि और पशुओं की उच्चतर तंत्रिका कार्य-विधि में कुछ महत्वपूर्ण विभेद होते हैं। मानव के मस्तिष्क की विशेषता है इसकी असाधारण जटिल संरचना और इसके अनेक भागों के बीच सम्बन्ध। बाह्य तथा आन्तरिक वातावरण में घटने वाली अनेक परिघटनाओं के विश्लेषण और संश्लेषण के साथ सम्बंधित प्रमस्तिष्क गोलार्धों के प्रकार्य अत्यधिक जटिल है। एक सामाजिक जीव के रूप में मानव के प्रमस्तिष्क गोलार्धों में बहुत ही अधिक परिष्कृत संश्लेषण गुण विद्यमान होते हैं जो एकदम सूक्ष्मतापूर्वक पशुओं और उसकी उच्चतर तंत्रिका कार्य-विधियों में विभेद करते हैं" (क० बीकोव)।

मानव की उच्चतर तंत्रिका कार्य-विधि की मुख्य विभेदी विशेषता मानवीय वाक् के साथ सम्बंधित है। वाक् शब्द से अभिप्राय है सामान्य विचार तथा धारणाएँ बनाने और निराकार भाव एवं तर्क संगत सोच-विचार करने की योग्यता (उसके मस्तिष्क की योग्यता)। सोच-विचार से, मस्तिष्क व उसके वल्कुट को प्रयोग करके, मानव प्रकृति के नियम ज्ञात करता है जो उसे पुन:निर्माण करने में मदद देते हैं।

मानव में वाक् के प्रकार्य की विद्यमानता के आधार पर पावलोव ने मानव में प्रथम एवं द्वितीय संकेत तंत्रों की धारणा बनायी। पशुओं में अनुबंधित प्रतिवर्त कार्य-विधि बाह्य वातावरण से प्रत्यक्ष उद्दीपकों के अनुभव के साथ सम्बन्धित होती है—प्रकाश, ऊष्मा, ठंड, गंध, इत्यादि। ये उद्दीपक ग्राहियों पर प्रक्रिया करते हैं (संवेदी अंग) और संकेत बनाते हैं जो जीव में विभिन्न प्रक्रियाएँ करते हैं, यानी विभिन्न अनुबंधित प्रतिवर्त बनाते हैं।

बाह्य विश्व से प्रत्यक्ष उद्दीपकों (संकेतों) को अनुभव करने के साथ सम्बंधित प्रमस्तिष्क वल्कुट की क्रिया-विधि का नाम पावलोव ने यथार्थता का प्रथम संकेत-तंत्र रखा। उसने लिखा: "प्राणि के लिये यथार्थता का संकेत लगभग पूर्णतया प्रमस्तिष्क गोलार्धों के उन उद्दीपकों एवं उनके सूक्ष्मात्रिक तत्त्वों से आता है जो जीव के दृश्य, श्रवण तथा अन्य ग्राहियों की विशेष कोशिकाओं पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। यह यथार्थता का प्रथम संकेत तंत्र है जो मानव तथा प्राणियों के लिये सामान्य है।" प्रथम संकेत तंत्र के अतिरिक्त, मानव में यथार्थता का द्वितीय संकेत तंत्र भी होता है जो वाक् प्रकार्य, यानी सुना व देखा गया शब्द, के साथ सम्बंधित होता है। मानव में अनुबंधित प्रतिवर्तों को उत्पन्न करने वाले उद्दीपक न केवल बाह्य विश्व के यथार्थ पिंड और परिघटनाएँ होती हैं, अर्थात् यथार्थता के प्रत्यक्ष संकेत होते हैं, बल्कि इन पिंडों व परिघटनाओं के द्योतक शब्द भी होते

है। अतएव, शब्द प्रथम तंत्र के संकेतों के संकेत होते हैं। उदाहरणतया, मानव में अनुबंधित प्रतिवर्त का लाला-स्रावण न केवल नींबू के दृश्य और घ्राण से उत्पन्न हो सकता है, अपितु "नींबू" शब्द की अनुक्रिया के फलस्वरूप भी हो सकता है। पावलोव की परिभाषा के अनुसार "मानव के लिये शब्द उतना ही यथार्थ अनुबंधित उद्दीपक है जितना कोई अन्य उद्दीपक। यह प्रथम संकेतों का संकेत है और यथार्थता का द्वितीय संकेत तंत्र बनाता है जो पूर्णतया मानव के लिये ही होता है।"

जब बच्चा बोलना आरम्भ करता है, तो किसी निश्चित शब्द का उच्चारण व श्रवण (उदाहरणतया, "नींबू") अनेक उद्दीपकों के साथ सम्बन्ध बनाता है जो तब उत्पन्न होते हैं जब बच्चा इस वस्तु के साथ परिचय करता है (इस उदाहरण में: चाक्षुष, स्वाद तथा घ्राण उद्दीपक)। किसी शब्द के उच्चारण से वल्कुट में उत्पन्न होने वाले उद्दीपक, अनुबंधित प्रतिवर्तों के बनने के नियम के अनुसार, प्रथम संकेत तंत्र के उद्दीपकों के साथ अस्थायी सम्बन्ध बनाते हैं। इस प्रकार शब्द किसी नियत पिंड का संकेत बन जाता है।

वल्कुट अनेक शब्दों के संकेतों का संश्लेषण करता है ताकि उन्हें न केवल पृथक रूप से बल्कि सम्मिलित रूप से भी अनुभव किया जा सके, क्योंकि शब्द बहुत सरल वाक्य बनाते हैं और फिर इन वाक्यों की जटिलता बढ़ती जाती है। शब्दों को प्रयोग करके मानव शीघ्रता एवं मितव्ययता से अनेक संकेतों को अनुभव करने तथा प्रेषित करने की योग्यता प्राप्त करता है जिसके फलस्वरूप मानव की श्रम क्रिया में विस्तृत मानवीय पारस्परिक व्यवहार सम्भव होता है। पावलोव की परिभाषा के अनुसार, शब्दिक संकेत "यथार्थता से पृथक्करण हैं और व्यापकीकरण को सम्भव बनाते हैं जिससे हमारा अतिरिक्त, केवल मानवीय, उच्चतर विवेचन बनता है जो सर्वप्रथम सामान्य मानवीय अनुभववाद बनाता है तथा इसके बाद विज्ञान, अर्थात मानव के चारों ओर के विश्व तथा स्वयं मानव में मानवीय उच्चतर दिग्विन्यास का उपकरण, बनाता है। पावलोव ने कहा कि शब्द ने हमें मानवीय बनाया है।

शाब्दिक उद्दीपक का महत्व रोगविज्ञानी प्रक्रियाओं में भी व्यक्त होता है। उदाहरणतया, शाब्दिक संकेत रोगी के मस्तिष्क और रोग की गति पर काफ़ी प्रभाव डालते हैं। रोगी की उपस्थिति में असावधानी से कहा गया शब्द रोगी की दशा को और अधिक खराब बना सकता है। रोगी की दशा में सुधार होने के प्रति रोगी को आशामय करने वाला शाब्दिक संकेत भी रोग की अवस्था पर प्रभाव डालता है।

मानव के द्वितीय संकेत तंत्र की पावलोव की धारणा विवेचन के शरीर-क्रिया विज्ञानी सार को समझने का अर्थात् मानव की मानसिक क्रिया-विधि को समझने का आधार है। सेचेनव तथा पावलोव के समय से पूर्व यह माना जाता था कि मानव की मानसिक कार्य-विधि, या जैसा उन दिनों इसे कहा जाता था "मानसिक जीवन", और शारीरिक कार्य-विधि में कोई सम्बन्ध नहीं है यानी मानवीय शरीर में घटने

वाली प्रक्रियाओं के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ वैज्ञानिकों के मत के अनुसार आज भी मनुष्य की मानसिक कार्य-विधि का अध्ययन असम्भव है।

उच्चतर तंत्रिका प्रक्रिया की मूल रूप-रेखा ज्ञात करने के बाद पावलोव ने सिद्ध किया कि मानव का मानसिक जीवन मस्तिष्क में घटने वाली शरीर-क्रिया विज्ञानी प्रक्रियाओं पर आधारित है।

निद्रा

निद्रा प्राणि तथा मानव जीव का एक सामान्य शरीर-क्रिया विज्ञानी प्रकार्य है। वयस्क मानव दिन में 7-8 घंटे सोता है, तथा नवजात शिशु लगभग 20 घंटे, और आठ वर्षीय बालक दिन में 10-11 घंटे सोता है। पावलोव ने निद्रा की शरीर-क्रिया विज्ञानी प्रकृति का अध्ययन किया तथा यह मत बनाया कि निद्रा वल्कुटीय क्रिया में अवरोध है जो नियत उपवल्कुटीय भागों में विस्तरित हो जाता है।

प्रमस्तिष्क वल्कुट की तंत्रिका कोशिकाओं में उत्तेजन की दीर्घकालीन अवस्था से वे थक जाते हैं और क्षीण हो जाते हैं जिससे ये नष्ट भी हो सकते हैं। पावलोव की धारणा के अनुसार प्रमस्तिष्क वल्कुट में अवरोध, जिससे निद्रा आती है, निद्रा के समय रक्षी प्रकार्य करता है (रक्षी अवरोध): निद्रा के समय तंत्रिका कोशिकाएँ "विश्राम" करती हैं और उनकी उत्तेजनशीलता पुनःस्थापित हो जाती है।

निद्रा की गहनता प्रमस्तिष्क वल्कुट में अवरोधी प्रक्रिया की शक्ति पर निर्भर करती है। कभी-कभी निद्रा के समय उत्तेजन के पृथक फोकस अथवा पावलोव के शब्दों में "उत्तेजन की सन्तरी-चौकी" अटल बनी रहती हैं। उदाहरणतया, शिशु की माता भले ही ऊँचे शोर के प्रति अनुक्रिया न करे, लेकिन शिशु की गति से उत्पन्न होने वाली हल्की-सी सरसराहट से जाग जाती है।

निद्रा के समय जीव में अनेक परिवर्तन देखने में आते हैं: उदाहरणतया, श्वसन गहन हो जाता है, हृदय-गति धीमी हो जाती है, उपापचय कम हो जाता है, इत्यादि।

निद्रा अवरोध के विकास की यांत्रिकी में मस्तिष्क की जालिकामय संरचना का काफ़ी महत्व है। वल्कुट पर जब इसका प्रभाव बंद हो जाता है तो अवरोध उत्पन्न होता है तथा निद्रा आती है। जब जालिकामय संरचना उत्तेजित होती है तो निद्रा के स्थान पर सजगता आ जाती है।

विद्युत-मस्तिष्क लेखन

मस्तिष्क में विद्युतप्रक्रिया होती हैं। **विद्युत-मस्तिष्कलेखी** नामक एक विशेष उपकरण की मदद से मस्तिष्क की विद्युतप्रक्रिया का लेखन किया जा सकता है।

विद्युत्-मस्तिष्कलेखन में इलैक्ट्रोडों को सिर के अनेक भागों की त्वचा, अथवा शल्य चिकित्सा में, सीधे मस्तिष्क के साथ लगाया जाता है। इसके परिणामस्वरूप मिलने वाला वक्र विद्युत्-मस्तिष्क लेख कहलाता है। मानव विद्युत-मस्तिष्क लेख अनेक लय दिखाता है। लय का स्वरूप स्वस्थ मनुष्य के मस्तिष्क की प्रकार्यी अवस्था (विश्राम, सक्रिय अवस्था, निद्रा, इत्यादि) या रोगी मनुष्य के मस्तिष्क की प्रकार्य-अवस्था (मस्तिष्क अर्बूद, प्रमस्तिष्क रक्तस्राव, मिरगी, इत्यादि) पर निर्भर करता है।

लय अनेक प्रकार की होती हैं (चित्र 138)। उदाहरणतया, जब व्यक्ति
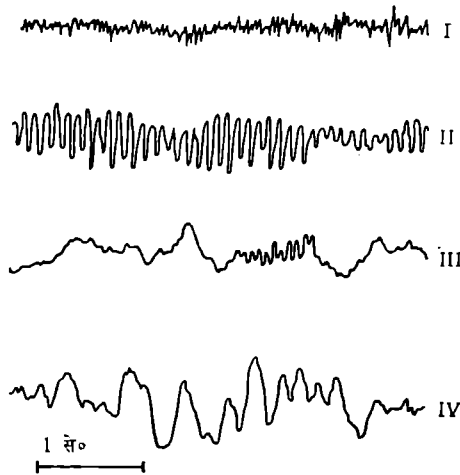
चित्र 138. मानव विद्युत मस्तिष्क-लेख
I – उत्तेजन; II – पूर्ण विश्राम; III – शयन की प्रारम्भिक अवस्था; IV – शयन।

विश्राम की स्थिति में होता है और आँख मूंद कर लेटा हुआ होता है तो ऐल्फा लय (निर्विघ्न, नियमित दोलन) काफ़ी प्रत्यक्ष होता है; यह लय प्रमस्तिष्क गोलार्धों के अनुकपाल क्षेत्र में अभिभावी होती है। मानसिक कार्य के समय विद्युत्-मस्तिष्क लेख बीटा लय दिखाता है (कम विभव, तीव्र तरंग); यह लय अग्र भाग में अभिभावी होती है। कुछ प्रमस्तिष्क अर्बुदों में डेल्टा लय देखने में आती है।

विद्युत्-मस्तिष्क लेखन न केवल तंत्रिका कोशिकाओं की प्रकार्यी अवस्था ज्ञात करने की एक विधि है, अपितु कुछ स्थितियों में यह रोग की प्रकृति तथा मस्तिष्क में रोगाग्रस्त प्रक्रिया के स्थान को ज्ञात करने में भी मदद करता है।

मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु की तानिकाएं

मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु की तीन झिल्लियाँ होती हैं:* बाह्य झिल्ली को ड्यूरा, मध्यवर्ती झिल्ली को लूताजालाभ, आन्तरिक झिल्ली को मृदुतानिका कहते हैं (चित्र 139)। मस्तिष्क की झिल्लियाँ मेरू रज्जु की झिल्लियों के साथ सम्बंधित होती हैं।
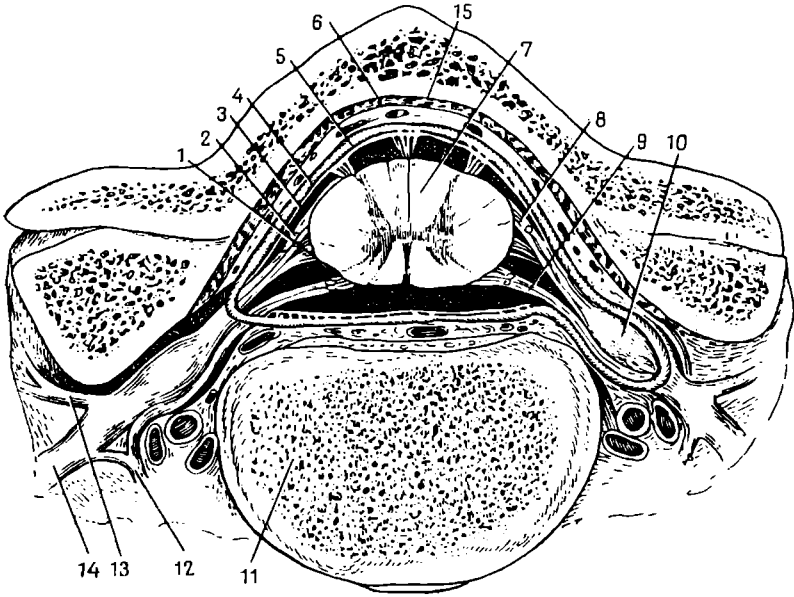
चित्र 139. मेरू रज्जु के मस्तिष्कावरण

1 – मृदुतानिका; 2 – अवजालतानिका अवकाश; 3 – लूताजालाभ; 4 – अवदृढ़तानिका अवकाश; 5 – दृढ़तानिका; 6 – ऐपि दृढ़तानिका अवकाश; 7 – मेरू रज्जु; 8 – मेरू तंत्रिका का पश्च मूल; 9 – अग्र मूल; 10 – गुच्छिका; 11 – कशेरूक; 12 – अनुकम्पी कांड के मेरू तंत्रिका की शाखा; 13 – मेरू तंत्रिका की पश्च शाखा; 14 – अग्र शाखा; 15 – कशेरूक का पर्यस्थिकला।

ड्यूरा एक तंतुमय झिल्ली है। कपाल कोटर में यह अस्थियों के साथ एकदम जुड़ी रहती है और पर्यस्थिकला का प्रकार्य करती है; कशेरूक नाल में, ड्यूरा तथा कशेरूक के बीच, एक काफ़ी प्रत्यक्ष अवकाश होता है जिसमें वसामय ऊतक तथा रूधिर वाहिकाएँ विशेषकर शिरे होते हैं (एपिड्यूरा अवकाश)। मस्तिष्क के ड्यूरा में प्रवर्ध होते हैं जो मस्तिष्क के विभिन्न भागों के बीच दरारों में स्थित होते हैं।

---

*तानिकाओं के शोथ को मेनीनजाइटिस कहते हैं।

इनमें प्रमस्तिष्क फैल्कस (दो गोलार्धों के बीच) और मस्तिष्कछदि (जो गोलार्धों की अनुकपाल पालियों को अनुमस्तिष्क से पृथक करती है) सम्मिलित हैं। मस्तिष्क के डूरा में शिरीय कोटर होते हैं जो मस्तिष्क के शिरों से आने वाले शिरीय रूधिर के लिये आशय का कार्य करते हैं। शिरीय कोटरों से रूधिर आन्तरिक युग्म शिरों में जाता है। मेरू रज्जु के डूरा में न केवल मेरू रज्जु होती है बल्कि मेरू रज्जु पुच्छ भी होती है।

लूताजालाभ डूरा के नीचे स्थित एक महीन झिल्ली होती है।

मृदुतानिका मस्तिष्क एवं मेरू रज्जु के साथ एकदम चिपकी रहती है। इसमें रूधिर वाहिकाओं की बड़ी सँख्या होती है तथा इसीलिये इसे **वाहिका झिल्ली** भी कहते हैं। मस्तिष्क की मृदुतानिका न केवल सतह पर ही स्थित होती है, बल्कि मस्तिष्क-विदर एवं निलयों में भी प्रवेश कर जाती है जहाँ यह वाहिका जालिकाएँ बनाती हैं। ऐसी जालिकाएँ प्रत्येक निलय में होती हैं।

मस्तिष्क तथा मेरू रज्जु की तानिकाएँ रक्षी प्रकार्य करती हैं। मृदुतानिका की वाहिकाएँ मस्तिष्क को रूधिर देने में भाग लेती हैं। तानिकाओं के बीच रेखा-छिद्र जैसे कोटर होते हैं जिन्हें तानिका अवकाश कहते हैं। मृदुतानिका और लूताजालाभ के बीच के अवकाश को उपलूताजालाभ अवकाश कहते हैं। इस अवकाश में प्रमस्तिष्कमेरू द्रव होता है। लूताजालाभ और डूरा के बीच के अवकाश को उपडूरा अवकाश कहते हैं।

मेरू रज्जु की तानिकाएँ सेक्रमी कशेरूक के स्तर तक नीचे आती हैं और इस प्रकार कशेरूक नाल में तानिका अवकाश न केवल मेरू रज्जु के साथ-साथ स्थित होते हैं बल्कि उसके नीचे भी स्थित होते हैं।

प्रमस्तिष्कमेरू द्रव

प्रमस्तिष्कमेरू द्रव उपलूताजालाभ अवकाश, मस्तिष्क के निलयों और मेरू रज्जु के नाल में विद्यमान होता है। व्यस्क व्यक्ति के शरीर में इस द्रव की मात्रा लगभग 150 मि० ली० होती है। यह द्रव रंगहीन तथा पारदर्शी होता है और इसमें प्रोटीन, ग्लूकोस तथा विभिन्न लवण (पोटैशियम, कैल्सियम, आदि) छोटी मात्रा में विद्यमान होते हैं। यह करोटि में एक निश्चित दाब बनाये रखता है और मस्तिष्क की तानिकाओं के साथ रक्षी प्रकार्य करता है। यह मस्तिष्क और मेरू रज्जु के उपापचय में भी भाग लेता है।

प्रमस्तिष्कमेरू द्रव प्रमस्तिष्क निलयों की वाहिका जालिकाओं में निरंतर बनता रहता है। उसी समय यह उपलूताजालाभ अवकाश से शिरों और लसीका वाहिनियों में आ जाता है।

कुछ रोगों में (जैसे, मेनिनजाइटिस में) प्रमस्तिष्कमेरू द्रव के रंग व संरचना परिवर्तित हो जाती हैं। इसी के साथ ही द्रव के अधिक मात्रा में उत्पाद से अन्तराकपालीय दाब भी बढ़ जाता है। ऐसी स्थितियों में मेरू संवेधन किया जाता है। मेरू रज्जु के उपलूताजालाभ अवकाश में तृतीय और चतुर्थ या चतुर्थ और पंचम कटि कशेरूक के बीच में सुई घुसा कर द्रव निकाला जाता है और फिर उसका अध्ययन किया जाता है।

मेरू तंत्रिकाएं

मेरू तंत्रिकाओं के 31 युगल होते हैं: 8 ग्रैव युगल, 12 वक्षीय युगल, 5 कटि युगल, 5 सेक्रमी युगल और 1 अनुत्तिक युगल। सभी युगलों के प्रकार्य भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रत्येक तंत्रिका दो मूलों के युग्मन से बनती है: अग्र अथवा प्रेरक मूल और पश्च अथवा संवेदी मूल। मूलों का युग्मन अन्तराकशेरूक रंध्र में होता है। जब मेरू तंत्रिका अन्तराकशेरूकी रंध्र से बाहर आती है तो यह अग्र और पश्च शाखाओं में विभाजित हो जाती है (चित्र 140); दोनों शाखाओं के भिन्न प्रकार्य होते हैं।
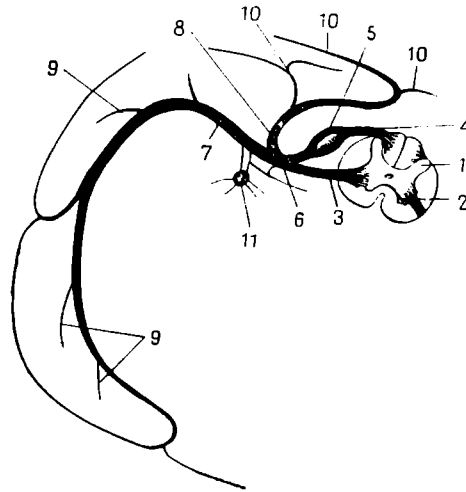
चित्र 140. मेरू तंत्रिका के बनने व शाखा में विभाजित होने का आरेख
1 – मेरू रज्जु का पृष्ठ सींग; 2 – मेरू रज्जु का अधर सींग; 3 – मेरू तंत्रिका का अग्र मूल; 4 – मेरू तंत्रिका का पश्च मूल; 5 – मेरू गुच्छिका; 6 – मेरू तंत्रिका; 7 – मेरू तंत्रिका की अग्र शाखा; 8 – मेरू तंत्रिका की पश्च शाखा; 9 – अग्र शाखा जो पेशियों व त्वचा में शाखाओं को पहुंचाती है। 10 – पश्च शाखा जो पेशियों व त्वचा में शाखाओं को पहुंचाती है। 11 – अनुकम्पी गुच्छिका।

चित्र 141. सिर व ग्रीवा की तंत्रिकाएं

1 – त्वचीय ग्रीवक ; 2 ; अधिजनुक तंत्रिका ; 3 – बृहत कर्णाभ तंत्रिका ; 4 – लघु अनुकपाल तंत्रिका ; 5 – सहायक तंत्रिका (कपाल तंत्रिका का ग्यारहवां युगल) ; 6 – द्वितीय ग्रीवा (मेरू) तंत्रिका की पश्च शाखा ; 7, 8, 9, 10तथा 11 – त्रिशाखी तंत्रिका (कपाल तंत्रिकाओं का पाँचवां युगल) की शाखाएं ; 8 – आनन तंत्रिका (कपाल तंत्रिकाओं का सातवां युगल) ; आनन भावाकृति तक पहुंचने वाली आनन तंत्रिकाएं की शाखाएं स्पष्ट हैं।

मेरू तंत्रिकाओं की **पश्च शाखाएं** पीठ की पेशियों और मेरू क्षेत्र की त्वचा में फैली होती हैं।

मेरू तंत्रिकाओं की **अग्र शाखाएं** अंतर्ग्रंथ होती हैं और तंत्रिका जालिकाएँ बनाती हैं। प्रत्येक पक्ष में ऐसी चार जालिकाएँ होती हैं: ग्रैव, बाहु, कटि तथा सेक्रमी। प्रत्येक जालिका से अनेक तंत्रिका शाखाएँ निकलती हैं जो निश्चित पेशियों तथा त्वचा के भागों तक विस्तरित होती हैं।

वक्षीय तंत्रिकाओं की अग्र शाखाएँ जालिका नहीं बनातीं।

ग्रैव जालिका को चार ऊपरी ग्रैव तंत्रिकाओं की अग्र शाखाएँ बनाती हैं तथा यह स्टर्नोक्लाइडो मैस्टॉइड पेशी के नीचे ग्रीवा के क्षेत्र में स्थित होती है। यह जालिका निम्न शाखाएँ बनाती है (चित्र 141):

1. ग्रीवा की त्वचीय तंत्रिका जो ग्रीवा की त्वचा में विस्तरित होती है।
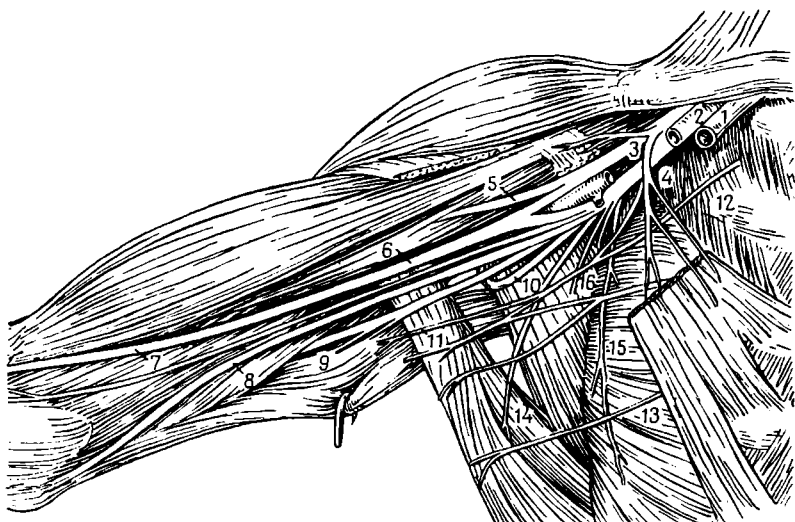
चित्र 142. बाहु जालक की शाखाएं

1—कक्षीय शिरा; 2—कक्षीय धमनी; 3—बाहु जालक; 4—बृहत अंसपेशी तथा लघु अंसपेशी तक पहुंचने वाली बाहु जालक की लघु शाखाएं; 5—पेशीत्वचीय तंत्रिका; 6—मध्यवर्ती तंत्रिका; 7—अग्रबाहु की मध्यवर्ती त्वचीय तंत्रिका; 8—अंतः प्रकोष्ठिक तंत्रिका; 9—अरीय तंत्रिका; 10—कक्षीय तंत्रिका; 11—बाहु की मध्यवर्ती त्वचीय तंत्रिका; 12—द्वितीय पर्शुका; 13—सेरेटस अग्र पेशी; 14—लैटिसिमस डॉर्साइ तक जाने वाली बाहु जालक की लघु शाखा; 15—सेरेटस अग्र पेशी तक जाने वाली बाहु जालक की लघु शाखा; 16—अंसफलकाधस्थ पेशी को जाने वाली लघु शाखा।

2. महा कर्णाभ तंत्रिका जो कर्ण पल्लव के समीप की त्वचा में विस्तरित होतीा है।

3. मिम्न अनुकपाल तंत्रिका जो अनुकपाल क्षेत्र की त्वचा में फैली होती है।

4. अधिजत्रुक तंत्रिका जो अधिजत्रुक और अधोजत्रुक क्षेत्रों की त्वचा में विस्तरित है।

5. मध्यपट तंत्रिका जो ग्रीवा के क्षेत्र से वक्षीय कोटर में आती है तथा डायाफ्राम और पार्श्वक एवं हृदयावरण के कुछ भागों में विस्तरित होती है। ग्रैव जालिका ग्रीवा की गहन पेशियों की शाखाएँ बनाती है।

बाहु जालिका चार निम्न ग्रैव तंत्रिकाओं की अग्र शाखाओं एवं प्रथम वक्षीय तंत्रिका की अग्र शाखाओं के कुछ भाग द्वारा बनाती है। ग्रीवा में यह जालिका अंतरा विषमिका अवकाश को तिरछे काटते हुये वक्षक में प्रवेश कर जाती है।

ग्रीवा के क्षेत्र में (जत्रुक के ऊपर) बाहु जालिका छोटी शाखाएँ बनाती है जो बृहत् अंस पेशी तथा लघुअंसपेशी, अग्र ऋकचिनी, लेटिसिमस डॉर्सी, अंसफलकाघस्थ, अध्यंसपेशी, इं 'फ्रास्फीनेटस रॉम्बायडीयस तथा लीवेटर स्कैपुली पेशी में विस्तरित होती है।

अन्य शब्दों में, बाहु जालिका की छोटी शाखाएँ अंस मेखला को हिलाने वाली पेशियों में विस्तरित होती हैं।

कक्षक में (जत्रुक के नीचे) बाहु जालिका लम्बी शाखाएँ बनाती है जो ऊपरी अग्रांगों में विस्तरित होती हैं (चित्र 142)। इनमें निम्न सम्मिलित हैं:

1. बाहु की मध्यवर्ती त्वचीय तंत्रिका जो बाहु के मध्यवर्ती भाग की त्वचा में फैली होती है।

2. अग्रबाहु की मध्यवर्ती त्वचीय तंत्रिका जो अग्रबाहु के अग्रमध्यवर्ती भाग की त्वचा में फैली होती है।

3. ऊपरी अग्रांगों की पेशी-त्वचीय तंत्रिका जो ऊपरी बाहु की अग्र पेशियों तथा अग्र बाहु के अग्रपार्श्विक भाग की त्वचा में फैली होती है।

4. माध्य तंत्रिका जो ऊपरी बाहु में कोई शाखा नहीं बनाती; अग्रबाहु में फ्लेक्सर कार्पी अल्नेरिस तथा फ्लेक्सर डिजीटोरस प्रोफण्डस के कुछ भाग को छोड़कर सभी अग्र पेशियों में विस्तरित होती है। माध्य तंत्रिका अग्रबाहु से हस्त के करतलीय पक्ष तक विस्तरित होती है जहाँ यह थिनॉर पेशियों, दो कृमिरूपों तथा अंगुष्ठ से आरम्भ करके साढ़े तीन अंगुलियों की त्वचा में फैली हुई होती है।

5. अरीय तंत्रिका जो बाहुत्रिशिरस्क, ऊपरी बाहु की पश्च सतह की त्वचा, अग्र बाहु की पश्च सतह की पश्च पेशियों एवं त्वचा अंगुष्ठ से आरम्भ करके ढाई अंगुल की पृष्ठीय सतह की त्वचा में विस्तरित होती है।

6. अंतः प्रकोष्ठिका तंत्रिका, जो ऊपरी बाहु में कोई शाखा नहीं बनाती;

अग्रबाहु में यह फ्लेक्सर कार्पी अल्नारिस तथा फ्लेक्सर डिजीटोरम प्रोफण्डस के कुछ भाग में विस्तरित होती है। अग्र बाहु के निम्न भाग में तंत्रिका दो शाखाओं में विभाजित हो जाती है जो हस्त तक विस्तरित होती है जहाँ एक शाखा छोटी अंगुलि से आरम्भ करके ढाई अंगुल की पृष्ठीय सतह की त्वचा में फैली हुई होती है। दूसरी शाखा हाइपोथिनार उठाव की पेशियों, सभी अन्तरास्थि, हस्त के दो माध्य कृमिरूप, और ढेढ अंगुल की (छोटी अंगुलि से आरम्भ करके) करतलीय सतह में फैली हुई होती है। यह स्मरण रहे कि अल्ना तंत्रिका ऊपरी बाहु से अग्र बाहु तक प्रगंडिका के मध्य अधिअस्थिकंद और अल्ना के कफोणि प्रवर्ध के बीच स्थित पृष्ठीय छिद्र में से गुज़रती है; यह आसानी से हानि पहुँचा सकती है।

कक्षक तंत्रिका अपेक्षाकृत छोटी शाखा है जो डेल्टॉयड पेशी में, इस पेशी के ऊपर चढ़ी हुई त्वचा में और अंस संधि कैप्स्यूल में फैली हुई होती है।

जैसा ऊपर बताया गया है वक्षीय तंत्रिकाओं की अग्र शाखाएँ जालिका नहीं बनाती हैं। इन्हें अंतराशिरीय तंत्रिकाएँ कहते हैं; ये शिरों में से गुज़रती है और अन्तराशिरीय पेशियों, वक्ष की त्वचा और पार्श्वक में विस्तरित होती हैं। निम्न अन्तराशिरीय तंत्रिका अग्र उदरीय दीवार की पेशियों एवं त्वचा में भी फैली हुई होती हैं।

कटि जालिका तीन महा कटि तंत्रिकाओं की अग्र शाखाओं और बारहवीं वक्षीय और चतुर्थ कटि तंत्रिकाओं की अग्र शाखाओं के कुछ भाग से बनाती है तथा यह सोअस पेशी (psoas muscle) के पीछे स्थित होती है।

चित्र 143. अरू की तंत्रिकाएं (अग्र दृश्य); कटि-जालिका की शाखाएं 1 – अरू-तंत्रिका; 2 – अरू के अग्र तल की त्वचा तक पहुंचने वाली अरू तंत्रिका की शाखा; 3 – पेशी तक जाने वाली अरू तंत्रिका की शाखाएं; 4 – सेफेनस तंत्रिका; 5 – श्रोणीरंध्रीय तंत्रिका; 6 – महासेफेनस तंत्रिका।

इस जालिका की शाखाएँ उदरीय दीवार के निम्न भाग की त्वचा और पेशि में सोअस एवं श्रोणिबाह्य पेशियों में, जंघा पेशियों के अग्र एवं मध्य समूहों एवं उन पर चढ़ी त्वचा में, तथा कांड की मध्यवर्ती सतह की त्वचा में फैली रहती हैं।

कटि जालिका की सबसे बड़ी शाखाएँ निम्न हैं (चित्र 143):

1. ऊरू-तंत्रिका जो वंक्षण स्नायु के नीचे स्थित होती है, जंघा के अग्र सतह तक विस्तरित रहती है जहाँ यह ऊरू-चतुःशिरस्क और आकोचनी पेशियों में एवं उन पर चढ़ी हुई त्वचा में फैली रहती हैं। यह एक शाखा भी बनाती है—सेफेनॅस तंत्रिका—जो काँड के मध्य सतह की त्वचा में फैली हुई होती है।

श्रोणिरंध्रीय तंत्रिका श्रोणिरंध्रीय नाल में से गुज़र कर जंघा तक विस्तरित होती है। जंघा पर यह मध्यवर्ती पेशियों (अभिवर्तनी) में एवं उन पर चढ़ी त्वचा में फैली हुई होती है।

सेक्रमी जालिका चतुर्थ (इसका केवल कुछ भाग) और पंचम कटि तंत्रिकाओं की अग्र शाखाओं और सभी सेक्रमी एवं अनुत्रिक तंत्रिकाओं द्वारा बनती है। यह नाखरूप पेशी पर यथार्थ श्रोणि के कोटर में स्थित होती है।
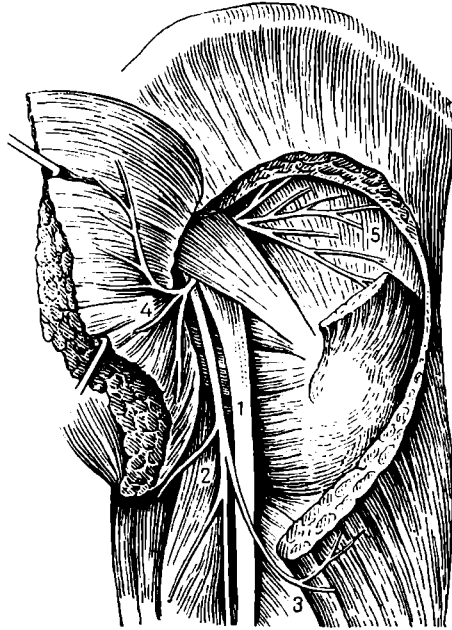
चित्र 144. सेक्रमी तंत्रिका की शाखाएं

1—नितंब तंत्रिका; 2—ऊरू की पश्च त्वचीय तंत्रिका; 3—नितंबिका क्षेत्र की त्वचा ,तक पहुंचने वाली शाखाएं; 4—निम्न नितंबिका तंत्रिका; 5—महानितंबिका तंत्रिका।

इस जालिका की शाखाएँ श्रोणि-सोग्रस पेशी को छोड़कर श्रोणि की सभी पेशियों में, मूलाधार की त्वचा, जंघा की पश्च पेशियों, कांड एवं पैर की त्वचा में, कांड की मध्य सतह की त्वचा को छोड़कर, फैली होती हैं।

सेक्रमी जालिका की सबसे बड़ी शाखा (तथा मानवीय शरीर की प्रायः सबसे बड़ी तंत्रिका) नितंबी तंत्रिका है। यह तंत्रिका यथार्थ श्रोणि के कोटर से निकलती है और जंघा की पश्च सतह तक आती है (चित्र 144) जहाँ यह कंडरार्ध पेशी, कलार्द्ध पेशी और उर्विका द्विशिरस्क में फैल जाती है। नितंबी तंत्रिका प्रायः जानु-पृष्ठ खात के ऊपरि कोने में दो शाखाओं में विभाजित हो जाती है। ये शाखाएँ हैं: अन्तर्जंघिका तंत्रिका और सामान्य पादविवर्तनी तंत्रिका।

अन्तर्जंघिका तंत्रिका की शाखाएँ कांड की पश्च पेशियों, उनकी त्वचा, तथा पाद के पादतलीय भाग की पेशियों को तंत्रिकायित करती हैं।

सामान्य पादविवर्तनी तंत्रिका अपने क्रम से गहन तथा सतही पादविवर्तनी तंत्रिकाओं में विभाजित हो जाती है। पहली तंत्रिका कांड की अग्र पेशियों तथा पाद पृष्ठ की पेशियों को, और दूसरी तंत्रिका कांड की पार्श्विक पेशियों तथा पाद पृष्ठ की त्वचा को तंत्रिकायित करती हैं।

कपालीय तंत्रिकाएं

कपालीय तंत्रिकाओं के 12 युगल होते हैं (चित्र 145)। प्रत्येक युगल की क्रमसूचक सँख्या होती है (प्रथम, द्वितीय... बारहवीं तक) तथा एक निजी नाम होता है। कुछ कपालीय तंत्रिकाएँ संवेदी होती हैं (प्रथम, द्वितीय, तथा आठवाँ युगल), अन्य प्रेरक होती हैं (तृतीय, चतुर्थ, छठा, सातवाँ, ग्यारहवाँ तथा बारहवाँ युगल) और कुछ मिश्रित तंत्रिकाएँ होती हैं (पांचवाँ, नौवाँ तथा दसवाँ युगल)।

प्रथम युगल, **घ्राण तंत्रिकाएं**, संवेदी तंत्रिकाएँ हैं तथा यह विशेष संवेदी (घ्राण) कोशिकाओं के प्रवर्ध से बनता है जो नासा कोटर के ऊपरि भाग की श्लेष्मा झिल्ली में स्थित होती हैं और घ्राण अंग बनाती है। प्रवर्ध महीन बंडलों में बंध जाते है जिन्हें घ्राण-तंतु कहते हैं। नासा कोटर से घ्राण-तंतु एथमॉयड अस्थि के छिद्रित सतह में से निकल कर कपालीय कोटर में आ जाते हैं। यहाँ ये तथाकथित घ्राण बल्ब में प्रवेश करते हैं जो घ्राण पथ में चला जाता है।

घ्राण तंत्रिका के द्वारा घ्राण अंग की कोशिकाओं से आवेग प्रमस्तिष्क वल्कुट को प्रेषित होते हैं।

द्वितीय युगल, **चाक्षुष तंत्रिका**, संवेदी तंत्रिकाएँ हैं; यह नेत्र के दृष्टिपटल पर स्थित तंत्रिका कोशिकाओं के प्रवर्धों से बनता है (चित्र 145)। कक्षक से प्रत्येक
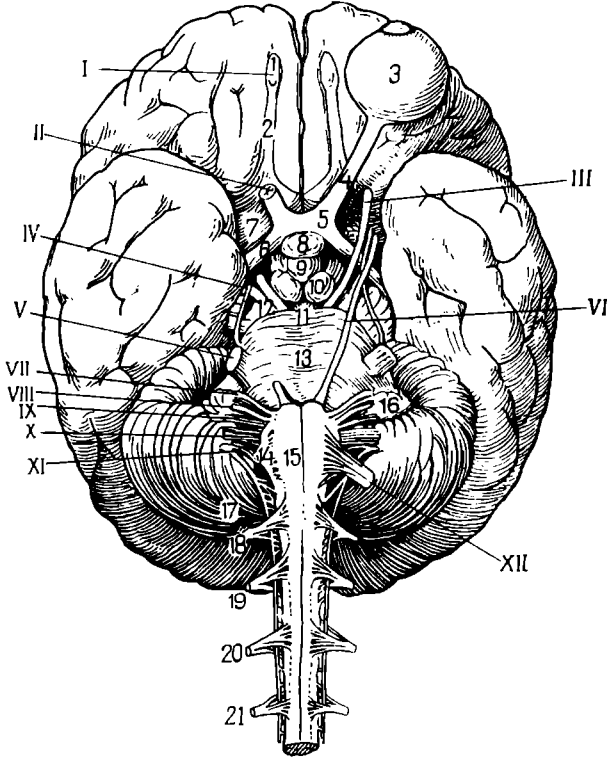
चित्र 145. मस्तिष्क का आधार (निम्न तल)
I,II,III,IV,V,VI,VII,VIII,IX,X,XI,
तथा XIJ– तदनुरूपी कपाल तंत्रिकाएं ; 1 – घ्राण बल्ब ; 2 – घ्राण पथ ; 3 – नेत्र-गोलक ; 4 – दृक तंत्रिका ; 5 – दृक व्यत्यसिका ; 6 – दृक पथ ; 7 – घ्राण कोणस्थूललता ; 8 – अधः स्फीतिका ; 9 – ट्यूबर साइनेरियम ; 10 – चूचुकाभ बॉडी ; 11 – अंतरावृंतक खात ; 12 – प्रमस्तिष्क वृतंक ; 13 – पोन्स वेराइली ; 14– ओलिव ; 15 – पिरामिड ; 16 – अनुमस्तिष्क वृतंक ; 17 – अनुमस्तिष्क ; 18, 19, 20 तथा 21 – महा मेरू तंत्रिकाएं।

चाक्षुष तंत्रिका चाक्षुष रंध्र में से गुज़र कर कपालीय कोटर में जाती है। कपालीय कोटर में दो चाक्षुप तंत्रिकाओं के तंतुओं दक्षिण एवं वाम का कुछ भाग क्रासित होता है। क्रासित होने के बाद तंत्रिका तंतु चाक्षुष पथ के साथ-साथ चेतक के पर्णवृंत-तल्यी, पार्श्विक जानुनत पिंड, और पिंड चतुष्टि के ऊर्ध्व वप्र में आते हैं जो उपवल्कुटीय दृश्य केन्द्र बनाते हैं। उपवल्कुटीय दृश्य केन्द्र अपने क्रम में वल्कुट के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। नेत्र के दृष्टिपटल से प्रमस्तिष्क वल्कुट तक सम्पूर्ण पथ को चाक्षुष पथ कहते हैं।

तृतीय युगल, **अक्षिप्रेरक तंत्रिका**, प्रेरक तंत्रिकाएँ हैं; ये प्रमस्तिष्क वृंतक (मध्यवर्ती मस्तिष्क) अपने केन्द्रों की कोशिकाओं के प्रवर्धों से बनती हैं। कपालीय कोटर से इनमें से प्रत्येक तंत्रिका ऊपरि कक्षक विदर में से गुज़र कर कक्षक में आती है जहाँ यह नेत्र गोलक की अनेक पेशियों (निम्न, मध्य तथा ऊपरि नेत्रीय ऋजु तथा निम्न नेत्रीय तिर्यक्) और लिवेटर पेल्पेब्रॉय ऊर्ध्व पेशी को तंत्रिकायित करती है।

चतुर्थ युगल, **चक्रक तंत्रिका**, प्रेरक तंत्रिकाएँ हैं। ये प्रमस्तिष्क वृंतकों में अपने केन्द्रों की कोशिकाओं के प्रवर्धों से बनी हैं (चित्र 145)। कपालीय कोटर से इनमें से प्रत्येक तंत्रिका ऊपरि कक्षक विदर में से गुज़रकर कक्षक में आती है जहाँ यह ऊपरि नेत्रीय तिर्यक् पेशी को तंत्रिकायित करती है।

पांचवाँ युगल, **त्रिशाखी तंत्रिका**, मिश्रित तंत्रिकाएँ हैं जो प्रेरक तथा संवेदी तंतुओं से बनी हैं (चित्र 146)।

प्रेरक तंतु पोन्स वैराली में स्थित इनके केन्द्रों के प्रवर्ध हैं।

संवेदी तंतु इन तंत्रिकाओं की अर्धचन्द्र गुच्छिकाओं की कोशिकाओं के प्रवर्ध हैं। ये गुच्छिकाएँ अश्माभ पिरैमिडों के शिखरों के पास उनकी अग्र सतहों पर स्थित होती हैं।

त्रिशाखी तंत्रिका की तीन शाखाएँ होती हैं।

प्रथम शाखा, नेत्र तंत्रिका, एक संवेदी तंत्रिका है। यह कपालीय कोटर से ऊपरि कक्षक विदर में से गुज़रकर कक्षक में प्रवेश करती है तथा शाखाओं में विभाजित होती है। यह ललाट की त्वचा, ऊपरि पलकों, पलकों की नेत्रश्लेष्मला तथा नेत्रगोलक को तंत्रिकायित करती है।

दूसरी शाखा, जंभिक तंत्रिका, भी संवेदी तंत्रिका है। यह पखयाद–तालव खात में कपालीय कोटर से गोलाकार रंध्र में से गुज़रकर आती है और अनेक शाखाओं में विभाजित हो जाती है। ये शाखाएँ ऊपरि दंत, ऊपरि ओष्ठ की त्वचा, निम्न पलक एवं नासा, ऊपरि ओष्ठ की श्लेष्मा झिल्ली, कठोर व मृदु तालु, नासा कोटर, व जंभिक कोटर को तंत्रिकायित करती हैं। जंभिक तंत्रिका की सबसे बड़ी शाखा निम्न कक्षक तंत्रिका है जो निम्न कक्षक नाल और जंभिका के रंध्र में से गुज़रती है।
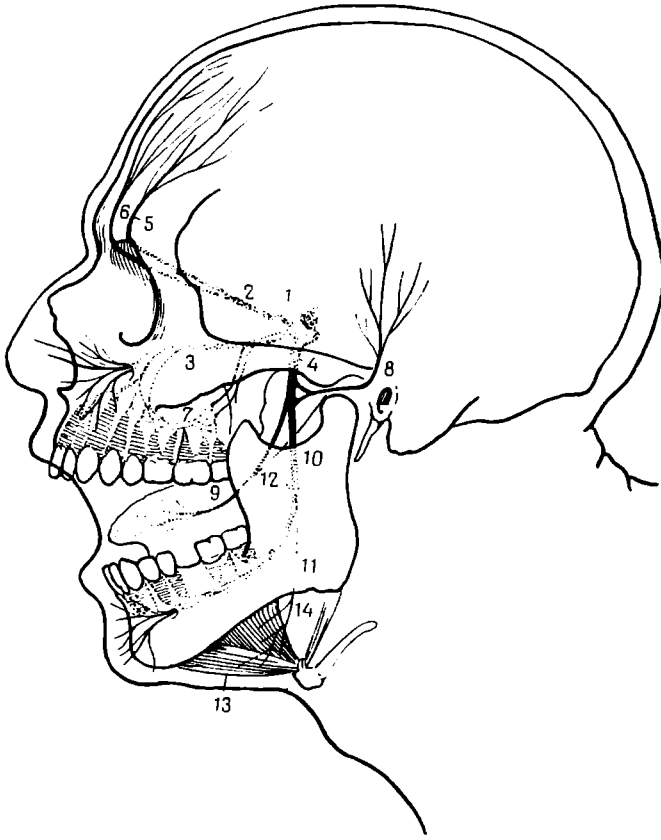
चित्र 146. त्रिशाखी तंत्रिका (आरेख)

1 – त्रिशाखी तंत्रिका की अर्धचन्द्र गुच्छिका ; 2 – त्रिशाखी तंत्रिका की प्रथम शाखा ; 3 – त्रिशाखी तंत्रिका की द्वितीय शाखा ; 4 – त्रिशाखी तंत्रिका की तृतीय शाखा ; 5 तथा 6 – ललाट की त्वचा तक पहुंचने वाली त्रिशाखी तंत्रिका की प्रथम शाखा को शाखाएं; 7–उपरि दंत तक पहुंचने बालो त्रिशाखो तंत्रिका को द्वितीय शाखा की शाखाएं ; 8 – शंख क्षेत्र तक पहुंचने वाली त्रिशाखी तंत्रिका की तृतीय शाखा कंठिका पेशी तक पहुंचने वाली शाखा ; 11 – कार्डा कर्णपटही ; 12 – द्विउदरक पेशी ; 13 – चिबुककंठिका पेशी ।

त्रिशाखी तंत्रिका की तीसरी शाखा, चिबुक तंत्रिका, व्यावहारिक रूप से मिश्रित तंत्रिका है। यह कपालीय कोटर से अंडाकार रंध्र में से गुज़रकर अवशंख खात में आती है जहाँ यह शाखाओं में विभाजित हो जाती है। ये शाखाएँ निचले दंत, निचले ओष्ठ की त्वचा, चिबुक व शंख क्षेत्र, निचले ओष्ठ की श्लेष्मा झिल्ली, मुख कोटर का तल, जंभिका की टिप तथा पिंड, सभी चर्वणी पेशियों, मृदु तालु का तनन करने वाली पेशी, माइलोहॉयड पेशी तथा द्वि-उदरक पेशी के अग्र तुंद को तंत्रिकायित करती हैं। चिबुक तंत्रिका की सबसे बड़ी शाखाएँ हैं: जिह्वा तंत्रिका (जो जिह्वा तक विस्तरित होती है) तथा निम्न कूपिका तंत्रिका (जो चिबुक नाल को तिरछे काटती है)। जिह्वा तंत्रिका के साथ आनन तंत्रिका की एक शाखा आकर मिलती है (सातवाँ युगल) जिसे कोर्डा कर्णपटह कहते हैं। इस शाखा में जिह्वा के पैपिला के लिये रससंवेदी तंतु होते हैं और उपजंभिका तथा उपजिह्वा लाला ग्रन्थियों के लिये स्रावण तंतु होते हैं।

छठा युगल, **अपवर्तनी तंत्रिका**, प्रेरक तंत्रिकाएँ हैं। ये कपालीय कोटर से ऊपरि कक्षक विदर में से निकलती हैं और कक्षकों तक विस्तरित होती हैं जहाँ पार्श्विक नेत्रीय ऋजु पेशी को तंत्रिकायित करती हैं। इन तंत्रिकाओं के केन्द्र पोन्स वैरोली में स्थित होते हैं।

सातवाँ युगल, **आनन तंत्रिकाएं**, प्रेरक तंत्रिकाएँ हैं। ये पोन्स वैरोली में अपने केन्द्रों की कोशिकाओं के प्रवर्धों से बनती हैं (चित्र 145)। इनमें से प्रत्येक तंत्रिका आन्तरिक श्रवण नाल को तिरछा काटती है और फिर शंखास्थि की आनन नाल में से गुज़रती है। आनन तंत्रिकाओं को तथाकथित इंटरमीडियम तंत्रिकाएँ जोड़ती हैं (जो मस्तिष्क से निकलती हैं परन्तु इनकी कोई क्रम सँख्या नहीं होती)। इंटरमीडियम तंत्रिकाओं में जिह्वा के लिये (पैपिला के लिये) रससंवेदी तंतु होते हैं तथा कर्णपूर्व ग्रन्थि को छोड़कर सिर की सभी ग्रन्थियों के लिये (लाला, अश्रु तथा श्लेष्मा ग्रन्थियों) स्रावण तंतु होते हैं। अतः आनन तंत्रिकाएँ न केवल प्रेरक तंतुओं से, बल्कि रससंवेदी तथा स्रावण तंतुओं से भी बनी हुई होती हैं। शंखास्थि की नाल में आनन तंत्रिकाएँ अनेक शाखाएँ बनाती हैं जिनमें सबसे बड़ी शाखा कर्णपटह कोर्डा है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

यह तंत्रिका शंखास्थि की नाल से स्टाइलोमैस्टॉइड रंध्र में से गुज़र कर बाहर आती है, और कर्णपूर्ण ग्रन्थि में यह अनेक शाखाएँ बनाती है जो आननकृति की सभी पेशियों तथा ग्रीवा की कुछ पेशियों (प्लैटीस्मा पेशी, इत्यादि) को तंत्रिकायित करती हैं।

आठवाँ युगल, **ध्वनि तंत्रिकाएं**, संवेदी तंत्रिकाएँ हैं। इनमें से प्रत्येक तंत्रिका शंखास्थि में स्थित दो गुच्छिकाओं के कोशिका प्रवर्धों से बनती है। प्रत्येक तंत्रिका आन्तरिक कर्ण को तंत्रिकायित करती है और दो बंडलों से बनती है–प्रघाण तंत्रिका

एवं कर्णावर्त तंत्रिका – जो मस्तिष्क को आन्तरिक कर्ण के क्रमशः भागों से आवेग प्रेषित करती हैं। प्रत्येक तंत्रिका आन्तरिक श्रवण नालों को तिरछा काटती है।

नौवाँ युगल, **जिह्वाग्रसनी तंत्रिकाएं**, मिश्रित तंत्रिकाएँ हैं जिनमें प्रेरक, संवेदी और स्रावण (परानुकंपी) तंतु होते हैं; प्रत्येक तंत्रिका युग्ज रंध्र में से गुज़र कर (चित्र 147) कपालीय कोटर से निकलती है। प्रत्येक तंत्रिका का केन्द्र मेडुला आब्लान्गेटा में और गुच्छिका युग्ज रंध्र के क्षेत्र में होती है। जिह्वाग्रसनी तंत्रिका के प्ररक तंतु ग्रसनी की पेशियों को तंत्रिकायित करते हैं; स्रावण तंतु कर्णपूर्व ग्रन्थियों को तंत्रिकायित करते हैं; तथा संवेदी तंतु ग्रसनी की श्लेष्मा झिल्ली व जिह्वा का आधार तंत्रिकायित करते हैं। संवेदी तंतुओं में जिह्वा के पेपिला के लिये रससंवेदी तंतु होते हैं।

दसवाँ युगल, **वेगस तंत्रिका**, मिश्रित तंत्रिकाएँ हैं जिनमें प्रेरक, संवेदी तथा परानुकंपी तंतु विद्यमान होते हैं (दे० चित्र 147)। इन तंत्रिकाओं को नाम इस लिये दिये गये हैं क्योंकि अनेक क्षेत्रों में अनेक अंगों में ये शाखाएँ बनाते हैं। इनके केन्द्र मेडुला आब्लान्गेटा में तथा गुच्छिकाएँ युग्ज रंध्र के क्षेत्र में होती हैं। इन रंध्रों के माध्यम से ये तंत्रिकाएँ कपालीय कोटर से निकल कर ग्रीवा, वक्षीय कोटर और उदरीय कोटर में जाती हैं। ग्रीवा के क्षेत्र में ये सामान्य ग्रीवा धमनियों एवं आन्तरिक युग्ज शिरों के साथ स्थित होती हैं; वक्षीय कोटर में दोनों तंत्रिकाएँ (दक्षिण तथा वाम) ग्रसिका की दीवारों पर स्थित होती हैं।

प्रत्येक वेगस तंत्रिका अनेक शाखाएँ बनाती है जो मृदु तालु की सभी पेशियों (आतानक पेशी को छोड़कर), ग्रसनी की संकोचनी पेशी, कंठ, अवटु ग्रन्थि, ग्रसिका, श्वासनली, श्वसनी, फुफ्फुस, हृदय, आमाशय, यकृत्, अग्न्याशय, प्लीहा, सम्पूर्ण क्षुद्रांत्र तथा बृहदांत्र का अधिकांश भाग (अन्धनाल, आरोही तथा अनुप्रस्थ बृहदांत्र) को तंत्रिकायित करती है। अतएव, वेगस तंत्रिकाएँ ग्रीवा के क्षेत्र में आन्तरिक अंगों, वक्षीय कोटर एवं उदरीय कोटर के अंगों (बृहदांत्र का भाग यहाँ अपवाद है और ये यथार्थ श्रोणि के अंगों को तंत्रिकायित नहीं करती हैं।

वेगस तंत्रिका के तंतु चिकनी पेशी ऊतक वाले आन्तरिक अंगों एवं ग्रन्थियों (संवेदी तंतु) तक विस्तरित होते हैं तथा इन्हें परानुकंपी कहते हैं।

ग्यारहवाँ युगल, **अतिरिक्त तंत्रिकाएं**, प्रेरक तंत्रिकाएँ हैं: इनमें से प्रत्येक तंत्रिका के केन्द्र मेडुला आब्लान्गेटा तथा मेरू रज्जु के ऊपरी भाग में होते हैं। ये तंत्रिकाएँ कपालीय कोटर से युग्ज रंध्र में से होकर आती हैं और स्टर्नोक्लाइ – डोमैस्टायॅड एवं समलंबिका पेशियों को तंत्रिकायित करती हैं (दे० चित्र 141)।

बारहवाँ युगल, **अधोजि तंत्रिकाएं** प्रेरक तंत्रिकाएँ हैं; प्रत्येक तंत्रिका तंतुओं से बनी हुई है जो मेडुला आब्लान्गेटा में स्थित इसके केन्द्र के कोशिका प्रवर्ध हैं (दे० चित्र 147)। प्रत्येक तंत्रिका कपालीय कोटर से अनुकपाल अस्थि में से गुज़र
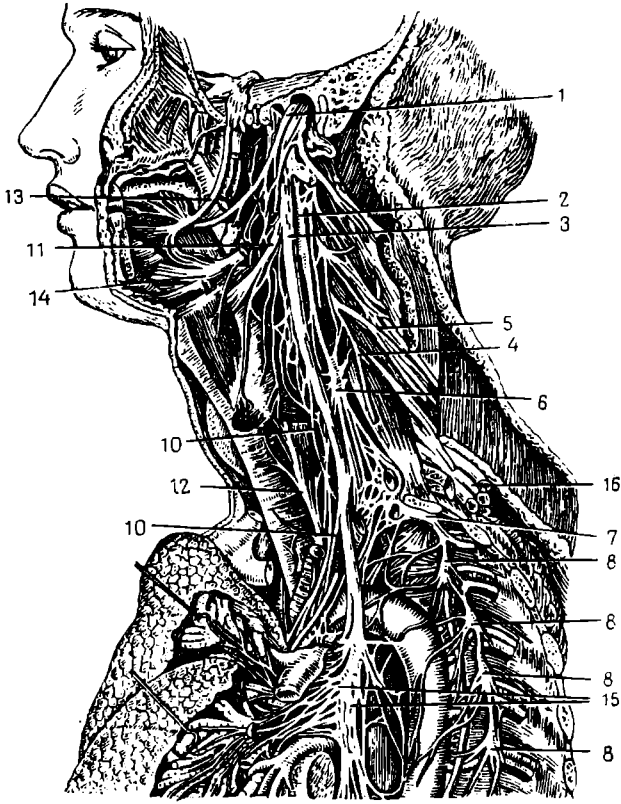
चित्र 147. जिह्वाग्रसनी तथा वेगस तंत्रिका

1 – जिह्वाग्रसनी तंत्रिका 2 – अनुकम्पी कांड की उर्ध्व ग्रीवा गुच्छिका ; 3 – वेगस तंत्रिका ; 4 – मध्यच्छद तंत्रिका ; 5 – ग्रैव जालक की शाखाएं ; 6 – अनुकम्पी कांड की मध्यवर्ती तथा 7 – निम्न ग्रैव गुच्छिका ; 8 – अनुकम्पी कांड की वक्षीय गुच्छिका ; 9 – हृदय तक पहुंचने वाली वेगस तंत्रिका की शाखाएं ; 10 तथा 11 – कंठ (निम्न तथा उर्ध्व कंठ तंत्रिकाओं) तक जाने वाली वेगस तंत्रिका की शाखाएं ; 12 – जिह्वा तंत्रिका ; 13 – अधोजिह्वा तंत्रिका ; 14 – फुप्फस तक जाने वाली वेगस तंत्रिका की शाखाएं ; 15 – बहुजालक ।

कर बाहर आती है और जिह्वा की सभी पेशियों को तंत्रिकायित करती है। यह ग्रीवा की पेशियों में, जो कंठिकास्थि के नीचे स्थित होती हैं, तथाकथित अवरोही शाखा बनाती है।

कायिक तंत्रिका तंत्र

तंत्रिका तंत्र का अध्ययन करते समय प्रायः उस भाग का अध्ययन पृथक से किया जाता है जो आन्तरिक अंगों, ग्रन्थियों तथा रूधिर वाहिकाओं को तंत्रिकायित करता है। इस भाग को **तंत्रिका तंत्र का कायिक** भाग या **कायिक तंत्रिका तंत्र** कहते हैं।

सम्पूर्ण तंत्रिका तंत्र की भांति, कायिक तंत्रिका तंत्र तंत्रिका कोशिकाओं और उनके प्रवर्धों—तंत्रिका तंतुओं, से बना होता है।

कायिक तंत्रिका कोशिकाएँ मस्तिष्क व मेरू रज्जु में गुच्छ बनाती हैं जिन्हें कायिक केन्द्र कहते है। इसके अतिरिक्त, कायिक तंत्रिका तंत्र में तंत्रिका गुच्छिकाएँ बड़ी सँख्या में होती हैं जो कशेरूक दंड व आन्तरिक अंगों के समीप अथवा उनकी दीवारो में स्थित होती हैं।

कायिक तंत्रिका तंत्र के तंत्रिका तंतु मस्तिष्क या मेरू रज्जु से नियत कपालीय और मेरू तंत्रिकाओं के भाग के रूप में निकलते हैं—इन्हें गुच्छिकापूर्व कहते हैं—और ये कायिक गुच्छिकाओं की कोशिकाओं तक विस्तरित होते हैं। गुच्छिकाएँ अपने क्रम में तंत्रिका तंतु बनाती हैं—जिन्हें गुच्छिकापश्च कहते हैं—जो आन्तरिक अंगों को तंत्रिकायित करते हैं। कायिक तंत्रिका तंत्र के तंतु आन्तरिक अंगों के निकट या उनकी दीवारों में जालिका बनाते हैं जिन्हें कायिक तंत्रिका जालिका कहते हैं। इन जालिकाओं में तंत्रिका कोशिकाएँ होती है।

मस्तिष्क तथा मेरू दंड में स्थित कायिक केन्द्र कायिक तंत्र का केन्द्रिय भाग बन बनाते हैं तथा तंत्रिका गुच्छिकाएँ और तंतु इसका परिधीय भाग बनाते हैं।

कायिक तंत्रिका तंत्र के दो विभाग होते हैं—अनुकंपी तथा परानुकंपी।

अनुकंपी विभाग. कायिक तंत्रिका तंत्र का अनुकम्पी विभाग मेरू रज्जु के पार्श्व शृंगों, अनुकंपी कांड, और अनुकम्पी तंत्रिका जालिकाओं (प्लेट VIII) से बना होता है।

मेरू रज्जु के पार्श्व शृंग इसके वक्षीय तथा कटि विभागों में विद्यमान होते हैं। इनमें अनुकंपी तंत्रिका कोशिकाएँ होती हैं और ये कायिक तंत्र के अनुकम्पी विभाग का केन्द्रिय भाग बनाती है। पार्श्व शृंगों के कोशिकीय प्रवर्ध मेरू रज्जु से क्रमशः मेरू तंत्रिकाओं के भाग के रूप में, इन तंत्रिकाओं से पृथक, निकलते हैं तथा अनुकंपी कांड तक विस्तरित होते हैं।

अनुकम्पी कांड युगमी है (दक्षिण तथा वाम) और कशेरूक दंड के दोनों ओर स्थित होता है। यह तंत्रिका गुच्छिकाओं और उन्हें जोड़ने वाली शाखाओं से बनता है। अनुकम्पी कांड के ग्रैव, वक्षीय, कटि तथा श्रोणि भाग होते हैं। प्रत्येक भाग में गुच्छिकाओं की निश्चित सँख्या होती है जिनसे बनने वाली तंत्रिका शाखाएँ कायिक तंत्रिका जालिकाएँ बनाती हैं।

अनुकम्पी कांड का ग्रैव भाग तीन तंत्रिका गुच्छिकाओं से बनता है और ये हृदय तथा ग्रीवा धमनियों की शाखाएँ बनाती हैं। ये शाखाएँ धमनियों के इर्द-गिर्द जालिकाएँ बनाती है। इन जालिकाओं के तंतु रूधिर वाहिकाओं एवं ग्रीवा तथा सिर के उन आन्तरिक अंगों को तंत्रिकायित करते हैं जिन अंगों तक ग्रीवा धमनियों की शाखाएँ विस्तरित होती हैं (जैसे, ग्रसनी, लाला ग्रन्थि, अश्रु ग्रन्थि, कनीनिका को विस्फारित करने वाली पेशी, आदि)।

वक्षीय भाग में 10-11 गुच्छिकाएँ होती हैं। ये गुच्छिकाएँ महा तथा निम्न अंतरंग तंत्रिकाएँ बनाती हैं जो डायाफ्राम से गुज़र कर उदरीय कोटर में जाती हैं और जालिका के निर्माण में भाग लेती हैं। अनुकम्पी कांड के वक्षीय भाग की गुच्छिकाएँ वक्षीय महाधमनी, ग्रसिका, श्वसनी तथा फुफ्फुसों की शाखाएँ बनाती हैं। अनुकंपी कांड के कटि व श्रोणि भागों की तंत्रिका गुच्छिकाएँ वे शाखाएँ बनाती हैं जो उदरीय तथा श्रोणि कोटरों में कायिक तंत्रिका जालिकाओं के निर्माण में भाग लेती है। इनमें से सबसे बड़ी सौर जालिका कहलाती है।

सौर जालिका उदरीय कोटर में महाधमनी पर उदरगुहा धमनी के इर्द-गिर्द स्थित होती है। यह अंतरंग तंत्रिकाओं, अनुकम्पी कांड के कटि भाग की गुच्छिकाओं की शाखाओं, तथा वेगस तंत्रिका की शाखाओं से बनती है। इस जालिका में बृहत् तंत्रिका गुच्छिकाएँ होती हैं। यह कायिक तंत्रिका तंतु बनाती है जो धमनियों की दीवारों के साथ-साथ द्वितीय तंत्रिका जालिका बनाती है तथा उदरीय कोटर के सभी अंगों तक विस्तरित होती है। इन जालिकाओं में यकृतीय, प्लीहा, ऊर्ध्व आन्त्रयो आन्त्रयोजनी, निम्न आन्त्रयोजनी, आदि जालिकाएँ विद्यमान होती हैं।

यथार्थ श्रोणि के कोटर में एक युगमी उदरगुहा जालिका होती है (आंतरिक श्रोणि धमनी के समीप)। इस जालिका की शाखाएँ यथार्थ श्रोणि के अंगों को तं तंत्रिकायित करती हैं।

परानुकंपी विभाग. कायिक तंत्रिका तंत्र का परानुकम्पी विभाग परानुकम्पी केन्द्र, गुच्छिकाओं और तंतुओं से बना होता है।

परानुकम्पी केन्द्र मस्तिष्क स्तम्भ तथा मेरू रज्जु के सेक्रमी विभाग में स्थित होते हैं (दे० प्लेट VIII)। ये कायिक तंत्र के परानुकम्पी विभाग का केन्द्रिय भाग बनाते हैं। मस्तिष्क स्तम्भ में स्थित परानुकम्पी केन्द्र तंत्रिका तंतु बनाते हैं जो कपालीय तंत्रिकाओं के तृतीय, सातवे, नौवे तथा दसवें युगलों का भाग बनाते हैं।

अक्षिप्रेरक तंत्रिका के परानुकम्पी तंतु (तीसरा युगल) नेत्र गोलक में अवरोधिनी कनीनिका पेशी को तंत्रिकायित करते हैं जो कनीनिका तथा पक्ष्माभ पेशी को संकुचित करती है। इंटरमीडियम तंत्रिका के परानुकम्पी तंतु शंखास्थि की नाल में आनन तंत्रिका को (सातवाँ युगल) जोड़ते हैं। ये तंतु उपजांभिका और उपजिह्वा ग्रन्थियों, नासा व मुख कोटरों की श्लेष्मा ग्रन्थियों, तथा अश्रु ग्रन्थियों को तंत्रिकायित करते हैं। जिह्वाग्रसनी तंत्रिका के परानुकम्पी तंतु कर्णपूर्व ग्रन्थियों को तंत्रिकायित करते हैं (इन ग्रन्थियों को जाने वाले परानुकम्पी तंतु स्रावण तंतु भी कहलाते हैं)। वेगस तंत्रिका में (दसवाँ युगल) परानुकम्पी तंतु होते हैं जो ग्रीवा के आन्तरिक अंगों, वक्षीय और उदरीय कोटरों तक विस्तरित होते हैं (अवटु ग्रन्थि, परावटु और थाइमस ग्रन्थियाँ, हृदय, फुफ्फुस, ग्रसिका, आमाशय, क्षुद्रांत्र, बृहदांत्र का अधिकांश भाग, यकृतीय, अग्न्याशयी, प्लीहा, वृक्कीय, अधिवृक्कीय और लिंग ग्रन्थियाँ)।

परानुकम्पी तंतु मेरू रज्जु के सेक्रमी विभाग से सेक्रमी मेरू तंत्रिका के भाग के रूप में निकलते है और यथार्थ श्रोणि के आन्तरिक अंगों को तंत्रिकायित करते हैं (मूत्राशय, गर्भाशय, मलाशय, इत्यादि)।

कायिक तंत्रिका तंत्र के परानुकम्पी विभाग में तंत्रिका गुच्छिकाओं की बड़ी सँख्या होती है जो अंगों के समीप या उनकी दीवारों में स्थित होती हैं (और कायिक जालिकाओं का भाग बनाती हैं)। मस्तिष्क एवं मेरू रज्जु से निकलने वाले परानुकम्पी तंतु इन गुच्छिकाओं तक विस्तरित होते हैं जो आन्तरिक अंगों के लिये तंत्रिका तंतु बनाते हैं।

कायिक तंत्रिका तंत्र का अध्ययन करते समय यह नोट करना आवश्यक है कि अन्तरामस्तिष्क के अधश्चेतक क्षेत्र में तथाकथित उच्चतर कायिक केन्द्र होते हैं जो उपापचय, ऊष्मा उत्सर्जन तथा अन्तरिक अंगो में घटने वाली अन्य प्रक्रियाओं पर नियंत्रण प्रभाव डालते हैं। इन अंगों के प्रकार्य प्रमस्तिष्क वल्कुट द्वारा नियंत्रित होते हैं।

कायिक तंत्रिका तंत्र का महत्व. कायिक तंत्रिका तंत्र आन्तरिक अंगों में होने वाली सभी प्रक्रियाओं को नियंत्रित करता है: ग्रन्थिल स्रावण, चिकनी पेशियों का संकुचन, रूधिर वाहिकाओं का संकुचन, हृद कार्य-विधि, उपापचय, आदि।

सभी आन्तरिक अंगों का अनुकम्पी एवं परानुकम्पी तंत्रिकायन होता है। कायिक तंत्रिका तंत्र के दो विभाग आन्तरिक अंगों पर असमान तथा प्रायः विपरीत प्रभाव डालते हैं। उदाहरणतया, अनुकम्पी तंतुओं के माध्यम से प्रेषित तंत्रिका आवेग कनीनिकाओं का विस्फारण करते हैं, लाला तथा अश्रु ग्रन्थियों का स्रावण कम करते हैं, तथा छोटी धमनियों एवं शिरों को संकुचित करते हैं, लेकिन हृदय धमनियों का विस्फारण करते हैं, रूधिर दाब में वृद्धि करते हैं, हृद-गति को तीव्र करते हैं, आंत्र क्रमाकुंचन को धीमा करते हैं, आमाशय ग्रन्थि का स्रावण कम करते हैं, श्वसनी

पेशियों को शिथिल करते हैं, ऊष्मा हानि कम करते हैं, आदि। कायिक तंत्रिका तंत्र का परानुकम्पी भाग विपरित परिघटनाओं का कारण बनता है, यानी ये कनीनिकाओं को संकुचित करते हैं, लाला तथा अश्रु ग्रन्थियों का स्रावण बढ़ाते हैं, हृदगति कम करते हैं, आन्त्र क्रमाकुंचन को बढ़ाते हैं, आमाशय ग्रन्थि के स्रावण को उद्दीपित करते हैं, श्वसनी पेशी को संकुचित करते हैं, रूधिर वाहिकाओं का विस्फारण करते हैं, ऊष्मा हानि बढ़ाते हैं, इत्यादि।

यह तथ्य कि कायिक तंत्रिका तंत्र के अनुकम्पी एवं परानुकम्पी विभाग विभिन्न प्रकार्य पूर्ण करते हैं जिसका अर्थ हुआ कि इनके बीच कोई "प्रतिकूलता" नहीं है। सजीव जीव में विभिन्न अंगों पर दो विभागों का प्रभाव एकल तंत्र बनाने के लिये समन्वयित हो जाता है। अंगों के कार्य का नियंत्रण कायिक तंत्र के अनुकम्पी एवं परानुकम्पी विभागों के विपरीत विभागों की परस्पर-क्रिया पर निर्भर करता है। अनुकम्पी तथा परानुकम्पी विभागों के नियंत्रक प्रभावों के बिना सामान्यत: हृदय का कार्य, पाचन पथ की ग्रन्थियों, उपापचय तथा जीव की अन्य प्रक्रियाएँ असम्भव हो जाती हैं।

पावलोव तथा उसके शिष्यों द्वारा कियें गये अध्ययन से सिद्ध हुआ है कि कायिक तंत्रिका तंत्र सम्पूर्ण तंत्रिका तंत्र का अनपहार्य अंग है तथा आन्तरिक अंगों में घटने वाली प्रक्रियाओं पर प्रभाव प्रमस्तिष्क वल्कुट द्वारा निश्चित होते हैं।

कायिक तंत्रिका तंत्र की अवस्था पर नियत हॉर्मोन और अनेक औषधियां भी प्रभाव डालती हैं। उदाहरणतया, ऐड्रिनलीन अनुकम्पी विभाग की टोन बढ़ा देती है।

मध्यस्थों की धारणा. कायिक तंत्रिका तंत्र के उत्तेजन के परिणामस्वरूप विशेष रासायनिक पदार्थों, जिन्हें मध्यस्थ (प्रेषक) कहते हैं, के तंत्रिका सिरों में स्रावण होता है। ऊतकों में स्थित अनुकम्पी तंत्रिका तंतुओं के तंत्रिका सिरे सिम्पैथिन नामक पदार्थ बनाते हैं (यह एपिनेफ्रीन जैसा होता है); परानुकंपी तंतुओं के सिरे ऐसीटिलकोलिन बनाते हैं। तंत्रिका तंतुओं से उत्तेजन इन पदार्थों के माध्यम से अंगों को प्रेषित हो जाता है।

अध्याय 10

संवेदी अंग

सामान्य बातें

जीव पर प्रभाव डालने वाले सभी उद्दीपक संवेदी तंत्रिका छोरों, **ग्राहियों**, द्वारा अनुभव किये जाते हैं जो विशेष संवेदी अंगों (नेत्र, कर्ण) तथा मानव शरीर के सभी अन्य अंगों (त्वचा, पेशियों, आन्तरिक अंगों, आदि) में अंतःस्थित होते हैं। विशिष्ट उद्दीपकों, जैसे, चाक्षुष, वर्ण, तापीय उद्दीपकों, को अनुभव करने में निपुण ग्राही प्राणियों तथा मानव में उत्पत्ति के समय प्रकट हो गये थे। ग्राहियों के उद्दीपन से पैदा हुआ उत्तेजन प्रमस्तिष्क वल्कुट में पहुँचता है जहाँ यह संवेदन उत्पन्न करता है, जैसे दर्द उष्मा, दृष्टि, श्रवण, आदि। अतएव, हम बाह्य विश्व के पिंडों को अनुभव व निश्चित करते हैं जो हमसे स्वतंत्र विद्यमान होते है।

पावलोव ने विश्लेषकों के सिद्धांत को विकसित किया जो प्रमस्तिष्क वल्कुट की कार्य-विधि पर उस द्वारा किये गये अध्ययन का परिणाम था। उनके सिद्धाँत के अनुसार विश्लेषक एकल प्रकार्य तंत्र है जो तीन मात्रों से बना हुआ होता है: (1) परिधीय भाग या ग्राही; (2) चालक भाग; तथा (3) केन्द्रिय या प्रमस्तिष्क भाग। विश्लेषक का परिधीय भाग संवेदी तंत्रिका छोरों, अर्थात् उन ग्राहियों से बना होता है जो निश्चित उद्दीपकों को अनुभव करती हैं। चालक भाग संवेदी तंत्रिका रेशों से बना होता है जो ग्राहियों में पैदा होने वाला उत्तेजन इनके माध्यम से गुज़र कर प्रमस्तिष्क वल्कुट में चला जाता है। केन्द्रिय भाग या, पावलोव के शब्दों में, विश्लेषक का प्रमस्तिष्क अंत, प्रमस्तिष्क वल्कुट में स्थित होता है। यहाँ उत्तेजन का सूक्ष्मतम तथा उच्चतम विश्लेषण होता है तथा एक संवेदन उत्पन्न होता है। उदाहरणतया, दृष्ट विश्लेषकका परिधीय भाग, यानी नेत्र, एक चालक भाग, यानी चाक्षुष तंत्रिका, तथा एक केन्द्रिय भाग यानी गोलार्ध के अनुकपाल पालि के वल्कुट के क्षेत्र से बनता है। चाक्षुष उद्दीपक नेत्र दृष्टिपटल पर अनुभव किये जाते हैं। इस स्थान पर उत्पन्न होने वाले उत्तेजन चाक्षुष तंत्रिका द्वारा प्रमस्तिष्क वल्कुट पर पहुँच जाते हैं। प्रमस्तिष्क वल्कुट में चाक्षुष उद्दीपकों का विश्लेषण होता है और दृश्य संवेदन पैदा होते हैं। संवेदन के बनने के लिये विश्लेषक के सभी भागों के कार्यों का सामान्य होना आवश्यक है। यदि इनमें से केवल एक भाग का कार्य

सामान्य न हो, किसी चोट या रोग के कारणवश्, तो सम्पूर्ण विश्लेषक का कार्य रूक जाएगा। उदाहरणतया, नेत्र के दृष्टि पटल का रोग या चाक्षुष तंत्रिका को चोट दृष्टि में विकार उत्पन्न कर देता है।

इन बातों से निष्कर्ष निकलता है कि संवेदी अंग या ग्राही विश्लेषक के परिधीय भाग हैं। सभी ग्राहियों को प्रायः दो ग्रुपों में बाँटा गया है: (1) ग्राही जो जीव के अन्दर उत्पन्न होने वाले उद्दीपकों को अनुभव करते हैं—इन्हें आंतरग्राही कहते हैं; तथा (2) ग्राही जो बाह्य वातावरण के उद्दीपकों को अनुभव करते हैं—इन्हें बाह्य-ग्राही कहते हैं।

आंतरग्राहियों को सभी आन्तरिक अंगों में पाया गया है: हृदय, आमाशय, आंत्र, प्लीहा, रूधिर वाहिकाओं, इत्यादि। ये आन्तरिक अंगों में होने वाली प्रक्रियाओं के बारे में ज्ञान देने वाले उद्दीपकों को अनुभव करते है। उदाहरणतया, रूधिर वाहिकाओं की दीवारों में ग्राही होते हैं जो रूधिर दाब में रूधिर की रासायनिक संरचना में परिवर्तनों के होने से उत्तेजित हो जाते हैं। पावलोव ने इस बात पर ध्यान दिलाया कि आन्तरिक अंगों की संवेदनशीलता उनकी क्रिया-विधि के नियंत्रण के लिये अति आवश्यक है। हृदवाहिका कार्य-विधि का स्वतः नियंत्रण हृदय तथा रूधिर वाहिकाओं में संवेदी तंत्रिकाओं तथा उनके सिरों की विद्यमानता के कारण है।

पेशियों, कण्डराओं, स्नायुओं तथा संधि कैप्स्यूलों में स्थित संवेदी तंत्रिका सिरों कों स्वांतरग्राही कहते हैं। पेशी तनावों में परिवर्तन, स्नायु, संधि कैप्स्यूल. या कण्डरा का खींचना, तथा अन्य उद्दीपक स्वांतरग्राहियों में उत्तेजन उत्पन्न करते हैं। यह उत्तेजन मेरू रज्जु एवं मस्तिष्क को प्रेषित हो जाता है जहाँ यह संवेदन उत्पन्न करता है जो समस्त शरीर एवं उसके अनेक भागों के अवकाश में स्थिति की सूचना देता है और गतियों का समन्वय होता है।

पेशी-संधि संवेदनशीलता में विकार आ जाने से चाल एवं अन्य गतियों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इन विकारों वाले रोगी नेत्र बंद हो जाने पर शरीर के प्रभावित भागों की स्थिति को निश्चित नहीं कर सकते।

बाह्यग्राही बाह्य वातावरण के उद्दीपकों को अनुभव करते हैं। बाह्यग्राहियों में त्वचा ग्राही, स्वाद, घ्राण, दृष्टि, श्रवण तथा संतुलन के अंग सम्मिलित हैं।

त्वचीय संवेदनशीलता

त्वचा में ग्राहियों की सँख्या बहुत अधिक होती है (चित्र 148); ये संवेदी तंत्रिका रेशों के सिरे होते हैं। दर्द, ताप (गर्मी व सर्दी) तथा स्पर्श त्वचा ग्राही होते हैं।
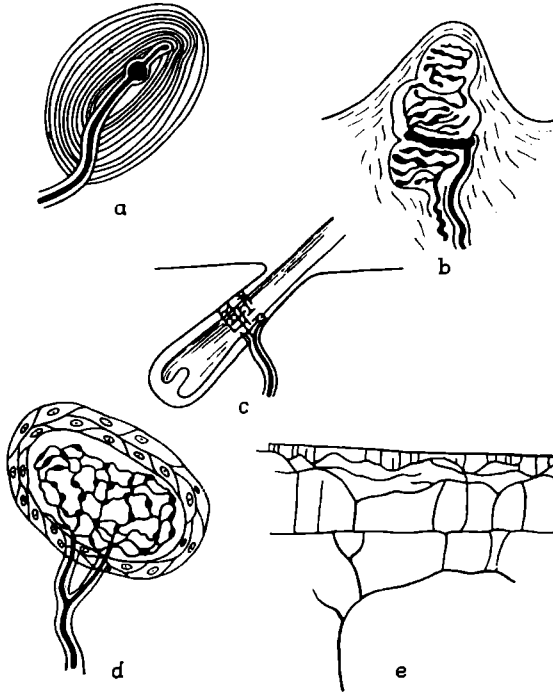
चित्र 148. त्वचा ग्राही a, b, c, d तथा e – विभिन्न त्वचा ग्राही।

दर्द ग्राहियों का उद्दीपन उत्तेजन उत्पन्न करता है जो संवेदी तंत्रिकाओं तथा तंत्रिका मार्गों के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुँचता है, और प्रमस्तिष्क वल्कुट में **दर्द का संवेदन** पैदा होता है। दर्द का संवेदन बहुत ही आवश्यक होता है क्योंकि दर्द जीव में विकार का संकेत है। दर्द ग्राहियों का उद्दीपन प्रतिवर्त परिवर्तन उत्पन्न करता है, जैसे एड्रिनलीन का अधिक मात्रा में स्राव, रुधिर दाब में वृद्धि तथा अन्य परिघटनाएँ। कुछ पदार्थ, जैसे प्रोकेन विलयन, दर्द ग्राहियों की संवेदना को नष्ट कर देते हैं। इस गुण को शल्य क्रिया में प्रयोग किया जाता है।

त्वचा के **ताप ग्राहियों** का उद्दीपन गर्म व ठंड की संवेदना उत्पन्न करता है। ताप ग्राही त्वचा पर असमान रूप से विस्तारित हैं। उनकें उद्दीपित होने पर रुधिर वाहिकाओं के ल्यूमेन प्रतिवर्त रूप से परिवर्तित हो जाते हैं (ये ऊष्मा के प्रभाव से विस्फरित हो जाते हैं और सर्दी के प्रभाव से संकुचित हो जाते हैं) जिससे उत्सर्जित ऊष्मा की मात्रा परिवर्तित हो जाती है।

त्वचा के अलावा अन्य अंगों में भी ताप व दर्द ग्राही होते हैं।

स्पर्श ग्राही त्वचा के साथ स्पर्श तथा इस पर दाब को अनुभव करते हैं। इसके कारण हम वस्तुओं की आकृति, आकार तथा कठोरता को अनुभव कर सकते हैं (यह विशेषता नेत्रहीन लोगों में अधिक विकसित होती है)।

तन्य ग्राही शरीर में असमान रूप से विस्तारित होते हैं। ये विशेषतः अंगुलियों के अग्र भागों में, हथेली की त्वचा में, तथा जंभिका के अग्र भागों में अधिक सँख्या में होते हैं। त्वचा के अनेक ग्राहियों विशेषतः स्पर्श तथा ताप ग्राहियों के उद्दीपन के फलस्वरूप **स्पर्श का संवेद** एक मिश्रित संवेद उत्पन्न करता है।

स्वादेन्द्रिय

स्वादेन्द्रिय तथाकथित **स्वाद कलिकाओं** द्वारा व्यक्त होती है जो जिह्वा के स्वाद पैपिला में, मृदु तालु तथा ग्रसनी में स्थित होती हैं। स्वाद कलिकाएँ विशेष कोशिकाओं से बनी होती हैं जिनके समीप रससंवेदी (संवेदी) तंत्रिका तंतु समाप्त होते हैं (चित्र 149)। मुख कोटर में खाद्य पदार्थ स्वाद कलिकाओं के सम्पर्क में आते हैं
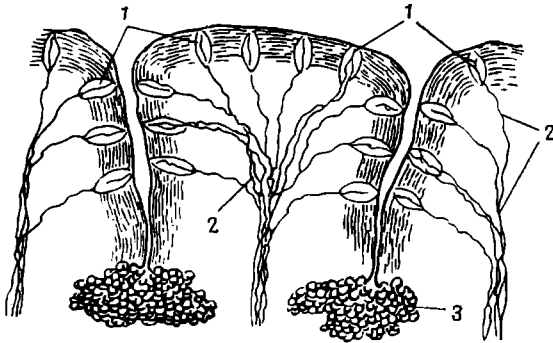
चित्र 149. स्वाद पैपिला की संरचना का आरेख
1 – स्वाद कलिक; स्वाद कलिक से निकलने वाले तंत्रिका तंतु; 2 – श्लेष्मा-ग्रंथि।

और रससंवेदी तंत्रिकाओं के सिरों में उत्तेजन पैदा करते हैं; परिणामी उत्तेजन मस्तिष्क को प्रेषित हो जाते हैं। तंत्रिका आवेग संवेदी तंत्रिका तंतुओं द्वारा प्रेषित हो जाते हैं जो कर्णपटही कोर्डा और जिह्वाग्रसनी तंत्रिका का भाग बनाते हैं। स्वाद संवेद प्रमस्तिष्क वल्कुट में उत्पन्न होते हैं। रससंवेदी विशंषक का प्रमस्तिष्क भाग श्लेख पालि में स्थित होता है। अनेक खाद्य प्रतिवर्त, जैसे लालास्रवण और अन्य पाचन रसों का स्रावण, रससंवेदी उद्दीपक के ग्रहण करने के साथ सम्बंधित हैं। भोजन की प्रकृति (चाहे वह खाद्य है या नहीं) भी स्वाद द्वारा निश्चित होती है।

स्वाद संवेद चार प्रकार के होते हैं : मीठा, कड़वा, नमकीन व खट्टा संवेद। शेष ग्रन्य सभी संवेद इन चार ग्राधारभूत संवेदों का मिश्रण होते हैं।

यह स्मरण रहे कि स्वाद कलिकाग्रों का उद्दीपन खाद्य पदार्थों द्वारा केलव तरल ग्रवस्था में ही होता है। इनका विलायक मुख कोटर में लाला होता है।

गंध इन्द्रियां

गंध इन्द्रिय विशेष **संवेदी कोशिकाग्रों** से बनी होती है जो नासा कोटर के ऊपरि भाग की श्लेष्मा झिल्ली में स्थित होती हैं। इन कोशिकाग्रों के प्रवर्ध घ्राण-तंत्रिका के तंतु होते हैं जो ऍथमाइड ग्रस्थि की क्षैतिज प्लेट में स्थित रंध्रों द्वारा कपाल कोटर में प्रवेश करती है। घ्राण कोशिकाएँ गंधवाही पदार्थों द्वारा उद्दीपित होती हैं। परिणामी उत्तेजन घ्राण तंत्रिका के माध्यम से मस्तिष्क को प्रेषित होता है जहाँ क्रमशः उत्तेजन उत्पन्न होते हैं। घ्राण विश्लेषक का प्रमस्तिष्क भाग शंख पालि के वल्कुट में स्थित होता है। भोजन की कोटि उसकी गंध द्वारा ज्ञात की जा सकती है। खाने के समय घ्राण संवेद स्वाद संवेदों के पूरक होते हैं। जब घ्राण में विकार उत्पन्न हो जाते हैं, उदाहरणतया, राइनिटिस (rhinitis) की स्थिति में, तो स्वाद ज्ञात करने की योग्यता नष्ट हो जाती है ग्रौर भोजन स्वादरहित लगता है। जब कुछ निश्चित पदार्थ जैसे ग्रमोनिया, क्लोरोफार्म ग्रौर ईथर की स्प्रिट का निश्वास लिया जाये, तो ये घ्राण कोशिकाग्रों ग्रौर त्रिशाखी तंत्रिका के सिरों को उद्दीपित करते हैं जो नासा की श्लेष्मा झिल्ली में स्थित होते हैं। इसके परिणामस्वरूप न केवल गंध का संवेद प्राप्त होता है, बल्कि श्वसन में प्रतिवर्त परिवर्तन भी होता है (साँस का रूकना, छींकना, ग्रादि)। मनुष्य का गंध संवेद बहुत तीव्र है। उदाहरणतया, वह हाइड्रोजन सल्फाइड की गंध को 1:100000000 की सांद्रता में भी पहचान सकता है। कुछ पशुग्रों में, विशेषतः कुत्तों में, यह ग्रौर भी तीव्र होती है।

दृष्टि इन्द्रिय

दृष्टि की इन्द्रिय नेत्र है जो नेत्र गोलक तथा सहायक ग्रंग से बना होता है।

नेत्रगोलक नेत्रख (नेत्रकोटर) में स्थित होता है। यह झिल्लियों, क्रिस्टलीय लेन्स, काचाभ पिंड ग्रौर नेत्रोट से बना होता है।

नेत्र गोलक की **तीन झिल्लियां** होती है – बाह्य, मध्यवर्ती तथा ग्रान्तरिक (चित्र 150)।

बाह्य झिल्ली ट्यूनिका रेशेमय नेत्रिका भी कहलाती है। यह दो भागों से बनी हुई होती है: ग्रग्र भाग जिसे कार्निया कहते हैं, तथा पश्च भाग जिसे श्वेतपटल कहते हैं। कार्निया पारदर्शी होता है तथा इसमें कोई रूधिर वाहिका नहीं होती, लेकिन
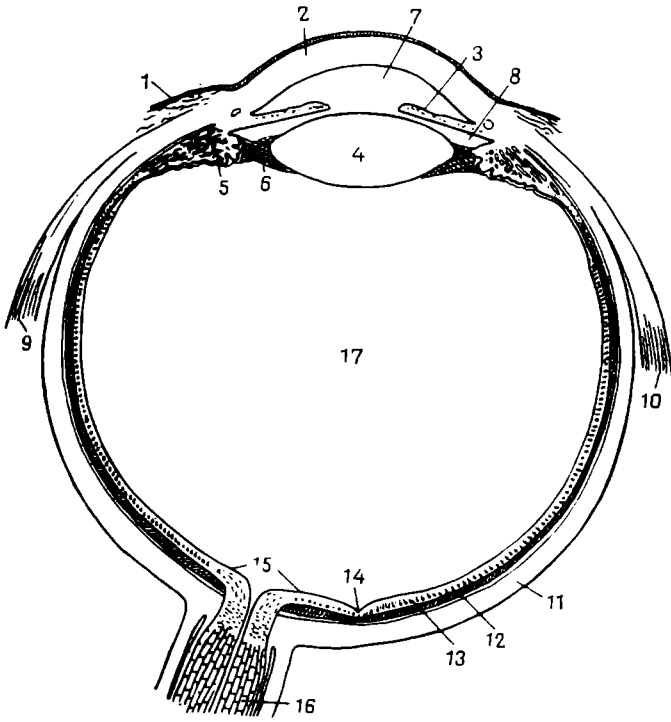
चित्र 150. नेत्र का क्षैतिज काट

1 – नेत्रश्लेष्मला ; 2 – कार्निया ; 3 – ग्राइरिस ; 4 – क्रिस्टलीय लेन्स ; 5 – सिलिया पिंड ; 6 – सिलिया पिंड के साथ क्रिस्टलीय लेन्स को जोड़ने वाला स्नायु ; 7 – नेत्र का अग्र कक्ष ; 8 – नेत्र का पश्च कक्ष ; 9 तथा 10 – नेत्र गोलक की पेशी ; 11 – स्क्लीरा ; 12 – नेत्रीय संवहनी कंचुक ; 13 – रेटिना ; 14 – पीत बिन्दु ; 15 – प्रकाशीय डिस्क ; 16 – दृक् तंत्रिका ; 17 – काचाभ काय।

इसमें संवेदी तंत्रिका सिरे होते हैं। श्वेतपटल का रंग उबले हुये ग्रण्डे के श्वेत जैसा होता है ग्रौर इसमें कुछ रूधिर वाहिकाएँ होती हैं।

नेत्रगोलक की **मध्यवर्ती झिल्ली** में रूधिर वाहिकाग्रों की बड़ी सँख्या होती है। इसीलिये इसे (tunica vasculosa bulbi oculi) कहते हैं। इसके तीन भाग होते हैं: ग्राइरिस का अग्र भाग, मध्यवर्ती भाग या पक्ष्माभ पिंड, ग्रौर पश्च भाग या रक्तक पटल। ग्राइरिस एक छल्ले की भांति होता है जिसके केन्द्र में एक रंध्र – पुतली – होता है। ग्राइरिस वर्णित होता है ग्रौर यह वर्ण इसमें विद्यमान वर्णक की मात्रा पर निर्भर करता है। ग्राइरिस के ग्रन्दर चिकने पेशी-तंतु होते हैं जो दो पेशियाँ

बनाते हैं: प्यूपिलै अवरोधिनी जो पुतली को संकुचित करती है तथा विस्फारिणी प्यूपिलै जो पुतली का विस्फारण करती है। पुतली का रंग काला लगता है क्योंकि प्रकाश किरणें, जो नेत्र गोलक में प्रवेश करती है, परावर्तित नहीं होती। पुतली का आकार प्रकाश की मात्रा पर निर्भर करता है: जब प्रकाश तीव्र होता है तो यह संकुचित हो जाती है, तथा प्रकाश के क्षीण होने पर यह विस्फारित हो जाती है। पक्ष्माभ पिंड के प्रवर्ध आन्तरिक सतह पर होते हैं जिन्हें पक्ष्माभ प्रवर्ध कहते है। पक्ष्माभ पिंड में चिकनी पेशी तंतु होते हैं जो पक्ष्माभ पेशी बनाते हैं; यह पेशी क्रिस्टलीय लेन्स के वक्र को परिवर्तित करती है। tunica vasculosa oculi नेत्रगोलक की मध्यवर्ती झिल्ली का अधिकांश भाग बनाती है। इसमे रूधिर वाहिकाओं के अतिरिक्त वर्णक की भी बहुत अधिक मात्रा होती है।

आन्तरिक झिल्ली को रैटिना कहते हैं। इसकी जटिल सूक्ष्मदर्शी संरचना होती है, तथा यह चाक्षुष उद्दीपक ग्रहण करती है। इसमें विशेष कोशिकाएँ होती हैं जिन्हें शंकु तथा दंड कहते हैं। इस झिल्ली का पश्च भाग fundus oculi कहलाता है। fundus oculi में दो छोटे क्षेत्रों, macula lutea तथा दृक बिम्ब में विभेद किया जाता है। macula lutea में शंकुओं की बड़ी सँख्या होती है तथा इस स्थान पर दृष्टि सबसे स्पष्ट होती है। किसी वस्तु की श्रेष्टतम दृष्टि के लिये नेत्रों को घुमाकर उस स्थिति में लाना पड़ता है जब प्रकाश-किरणें macula lutea पर गिरें (दृक् बिम्ब वह स्थान है जहां चाक्षुष तंत्रिका रैटिना से बाहर निकलती है। इस क्षेत्र में कोई शंकु या दंड नहीं होते; यहाँ प्रकाश किरणें ग्रहण भी नहीं होती तथा इस क्षेत्र को अंध बिन्दु कहते हैं। नेत्र के रैटिना से आवेग चाक्षुष तंत्रिका द्वारा मस्तिष्क को प्रेषित हो जाते हैं।

क्रिस्टलीय लेन्स एक उभयोत्तल अंग है। इसमें कोई रूधिर वाहिका नहीं होती, यह पारदर्शी होता है, तथा इसमें प्रकाश-किरणों का अपवर्तन करने की विशेषता होती है। यह एक विशेष स्नायु द्वारा पक्ष्माभ पिंड के साथ जुड़ा होता है। लेन्स का वक्र परिवर्तित हो सकता है ताकि नेत्र विभिन्न दूरियों पर स्थित वस्तुओं को देख सकें।

काचाभ पिंड क्रिस्टलीय लेन्स के पीछे स्थित होती है और एक पारदर्शी जिलेटिनी पदार्थ से बनी होती है।

नेत्रोद एक पारदर्शी तरल है जो नेत्र कक्षकों में स्थित होता है। नेत्र गोलक में दो कक्षक होते हैं: कार्निया तथा आइरिस के बीच अग्र कक्षक और आइरिस तथा लेन्स के बीच पश्च कक्षक। नेत्रोद पर एक निश्चित दाब रहता है जिसे अन्तरानेत्रीय दाब कहते हैं। ग्लॉकोमा नामक रोग में अन्तरा-नेत्रीय दाब बढ़ जाता है।

नेत्र का सहायक अंग रक्षी, अश्रु और प्रेरक भागों से बना होता है। **रक्षी भाग** में भृकुटी, पक्ष्म तथा नेत्रच्छद सम्मिलित होते हैं। भृकुटियों का कार्य भाल से बहने वाले स्वेद को नेत्रों में प्रवेश करने से रोकना है। नेत्र पक्ष्म नेत्रच्छद की स्वतंत्र गोरा।
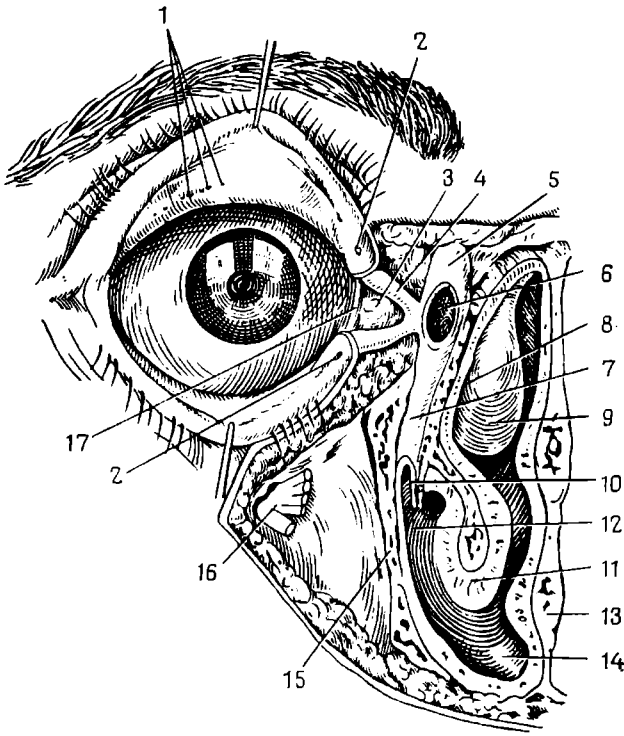
चित्र 151. अश्रु उपकरण

1 – अश्रु ग्रंथि की उत्सर्जन वाहिनी के रंध्र ; 2 – अश्रु रंध्र ; 3 – अश्रु करंकल तथा अश्रु लेक ; 4 – उर्ध्व अश्रु नलिका ; 5 तथा 6 – अश्रु थली (रंध्र) ; 7 – नासाश्रु वाहिनी ; 8 – मध्यवर्ती नासा पथ ; 9 – मध्यवर्त्ती नासा शंखिका ; 10 – नासाश्रु वाहिनी का रंध्र ; 11 – निम्न नासा शंखिका ; 12 – निम्न नासा पथ ; 13 – नासा पट ; 14 – नासा गुहा की आन्तरिक दीवार ; 15 – जंभिक अस्थि का भाग ; 16 – उपनेत्ररव तंत्रिका ; 17 – अर्धचन्द्र वलन ।

पर स्थित होते हैं। तथा धूल कणों को रोकते हैं। प्रत्येक पक्ष्म सघन संयोजी ऊतक से बना हुआ होता है। बाहर से यह अस्थिप्रोत्थ लगता है) तथा इसके ऊपर बाहर की ओर त्वचा और अन्दर की ओर एक गुलाबी झिल्ली चढ़ी हुई होती है। यह झिल्ली नेत्रश्लेष्मला कहलाती है (इस झिल्ली के फूलने को नेत्रश्लेष्मला शोथ कहते हैं) । नेत्रच्छदों की नेत्रश्लेष्मला नेत्रगोलक के अग्र भाग की नेत्रश्लेष्मला के साथ जुड़ी होती है, लेकिन कार्निया को ढकती नहीं है। नेत्रच्छदों के बन्द होने पर एक संकीर्ण अवकाश बनता है – नेत्रश्लेष्मला थैली जो नेत्रच्छदों व नेत्रगोलक के बीच में होती है। प्रत्येक

नेत्रच्छद की त्वचा में तथाकथित मायबोमी (गुल्फ) ग्रन्थि होती है जिसकी वाहिनियाँ नेत्रच्छदों की स्वतंत्र सीमा पर खुलती हैं।

अश्रु भाग (चित्र 151) अश्रु ग्रन्थि तथा अश्रु वाहिनियों से बना होता हैं। अश्रु ग्रन्थि नेत्रकोटर के पार्श्व ऊपरि कोने में स्थित होता है तथा इसकी वाहिनियाँ नेत्रच्छद थैली के ऊपरि भाग में खुलती हैं। अश्रु नेत्रगोलक के अग्र भाग को नहलाते हैं और कार्निया को सूखने से रोकते हैं। नेत्रच्छदों का झपकना कार्निया को नम रखता है। अश्रु अश्रु-कैरंकल के समीप मध्यवर्ती कैन्थस पर इकट्ठे होते हैं। यहाँ प्रत्येक नेत्रच्छद पर एक छोटा-सा रंध्र होता है जो अश्रु नालिका का आरम्भ होता है तथा यह अश्रु थैली में खुलता है। अश्रु थैली नासाश्रु वाहिनी के साथ जुड़ी होती है जिसके माध्यम से अश्रु नासा कोटर में जाते हैं।

प्रेरक भाग नेत्रगोलक के साथ सम्बंधित छः पेशियों एवं ऊपरि नेत्रच्छद को उठाने वाली एक पेशी से बना हुआ होता है। चार नेत्रगोलक पेशियाँ ऋजु पेशियाँ हैं (महा, निम्न, पार्श्विक तथा मध्यवर्ती नेत्र ऋजु पेशी) तथा दो तिर्यक् पेशियाँ हैं (महा तथा निम्न तिर्यक् पेशियाँ)।

इन पेशियों के संकुचन से नेत्रगोलक गति करता है।

दृष्टि संवेद का उद्भव

चाक्षुष उद्दीपकों को नेत्र का रेटिना ग्रहण करता है जो दृष्टि विश्लेषक का ग्राही भाग है। रैटिना तक पहुँचने से पहले प्रकाश किरणें नेत्र के पारदर्शी अपवर्तक माध्यम में से गुज़रती हैं, यानी कार्निया, नेत्रोद क्रिस्टलीय लेन्स तथा काचाभ पिंड में से गुज़रती हैं। किरणों का अधिकांश अपवर्तन नेत्र में ही हो जाता है। प्रायः नेत्रगोलक की तुलना कैमरे के साथ की जाती है जिसमें क्रिस्टलीय लेन्स का कार्य लेन्स करता है तथा रैटिना प्रकाश-संवेदी प्लेट है। नेत्र के रैटिना में दिखाई देने वाली वस्तुएँ छोटी व औंधी प्रतीत होती हैं (चित्र 152)।

शंकु तथा दंड रेटिना के प्रकाश संवेदी अवयव होते हैं। यह देखा गया है कि शंकुओं का सम्बन्ध दैनिक दृष्टि और दंडों का सम्बन्ध नैश एवं द्वाभा दृष्टि के साथ सम्बंधित होते हैं। दंडों में एक विशेष पदार्थ होता है जिसे दृश्य-नील लोहित या रोडोप्सिन कहते हैं। यह पदार्थ विटामिन "ए" की मदद से बनता है। दृश्य-नील लोहित के उत्पादन में विकार उत्पन्न होने से तथाकथित नक्तान्धता (रतौंधी) हो जाती है।

रैटिना तक पहुँचने वाली प्रकाश किरणें दंडों व शंकुओं को उद्दीपित करती हैं। परिणामी उत्तेजन चाक्षुष तंत्रिका द्वारा मस्तिष्क को प्रेषित हो जाता है। चाक्षुष उद्दीपक प्रमस्तिष्क वल्कुट में ग्रहण किये जाते हैं और दृष्टि संवेद उत्पन्न होते हैं।
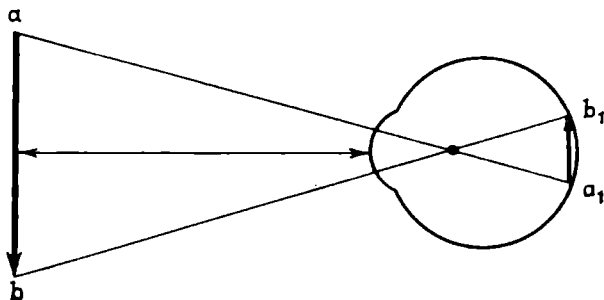
चित्र 152. नेत्र में बिम्ब बनाने वाली प्रकाश किरणों का मार्ग
a – वस्तु का उर्ध्व बिन्दु ; a_1 – नेत्र के रैटिना पर इसका बिम्ब ; b – b_1 – वस्तु का निम्न बिंदु तथा रैटिना पर इसका बिम्ब।

दृष्टि विश्लेषक का प्रमस्तिष्क भाग प्रमस्तिष्क गोलार्ध की अनुकपाल पालि में स्थित होता है।

वर्ण संवेद वर्णों में विभेद करने की नेत्र की विशेषता रैटिना के शंकुओं में विशेष पदार्थों की विद्यमानता है जो विभिन्न वर्णों के प्रति संवेदनशील होते हैं।

कुछ लोगों के वर्ण संवेदन में विकार उत्पन्न हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप सामान्यतः वर्ग संवेदन क्षीण हो जाता है किसी नियत वर्ण का संवेदन लुप्त हो जाता है या वर्ण संवेदन पूर्णतया लुप्त हो जाता है। उदाहरणतया, कुछ लोग हल्के भूरे व गाढ़ा हरा में विभेद नहीं कर पाते या बैंगनी और जाम्ब को नीले से पृथक करने में असमर्थ होते हैं।

वर्णान्धता के इस स्वरूप को डाल्टनिज़म (डाल्टन की स्मृति में) कहते हैं। वर्ण दृष्टि को ज्ञात करने के लिये विशेष वर्ण तालिकाएँ प्रयुक्त की जाती हैं।

नेत्र का अनुकूलन मानवीय नेत्र विभिन्न तीव्रता के प्रकाश में वस्तुओं को देखने के लिये अनुकूलन की विशेषता रखती है। इस विशेषता को अनुकूलन कहते हैं। तीव्र प्रकाश में चाक्षुष उद्दीपक केवल शंकु ही ग्रहण करता है (दैनिक दृष्टि)। इस समय दंडों का दृश्य नील लोहित पूर्णतया नष्ट हो जाता है तथा वे कार्य नहीं करते हैं। यदि तीव्र प्रकाश के स्थान पर एकदम अन्धकार कर दिया जाये तो आरम्भ में मनुष्य कुछ भी नहीं देख पायेगा। रैटिना के दंडों में दृश्य नील लोहित धीरे-धीरे आएगा तथा द्राथा दृष्टि प्रगट होगी।

समायोजन मानवीय नेत्र विभिन्न दूरियों पर स्थित वस्तुओं को देख सकते हैं। नेत्रों के इस अनुकूलन को समायोजन कहते हैं। प्रत्यस्थता के कारण वक्र परिवर्तित करने की लेन्स की विशेषता ही इसे सम्भव बनाती है। जब समीप स्थित वस्तुएँ

देखनी हो तो लेन्स अधिक उत्तल होता है, तथा दूर स्थित वस्तुओं को देखने के लिये लेन्स कम उत्तल होता है।

लेन्स के वक्र में परिवर्तन होने के साथ-साथ लेन्स की अपवर्तन क्षमता में भी परिवर्तन होता है, ताकि वस्तु से आने वाली प्रकाश-किरणें सदैव रैटिना पर फोकस करें। प्रकाशिकी में लेन्स की अपवर्तन क्षमता विशेष इकाई में मापी जाती है जिसे डाइऑप्टर कहते हैं। 1 मी० फोकस दूरी वाले लेन्स की अपवर्तन क्षमता 1 डाइऑप्टर होती है।

लेन्स के वक्र में परिवर्तन पक्ष्माभ पेशी के संकुचन व शिथिलन पर निर्भर करते हैं। इस पेशी के संकुचित होने पर लेन्स को पक्षाभ पिंड के साथ जोड़ने वाला स्नायु शिथिल हो जाता है, तथा लेन्स अधिक उत्तल हो जाता है। यह तब होता है जब समीप स्थित वस्तुएँ देखनी होती हैं।

चित्र 153. निकट दृष्टि तथा दीर्घदृष्टि A – सामान्य आँख ; B – दीर्घदृष्टि वाली आँख ; C – निकट दृष्टि वाली आँख ; r – रैटिना ; f – समानांतर किरणों का फोकस।

मायोपिया (निकट दृष्टि) तथा दीर्घदृष्टि. कुछ लोगों में दृष्टि विकार होते हैं जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओं के प्रतिबिम्ब अस्पष्ट तथा धुँधले होते हैं। ऐसे प्रतिबिम्ब उस स्थिति में बनते हैं जब वस्तुओं से आने वाली किरणें रैटिना पर फोकस करती हैं। निकटदृष्टि की स्थिति में फोकस रैटिना के आगे होता है, तथा दीर्घ दृष्टि की स्थिति में फोकस रैटिना के पीछे होता है (चित्र 153)। निकटदृष्टि तथा दीर्घदृष्टि – दोनों ही समायोजना में विकारों के कारण से होता हैं, या नेत्रगोलक की विशिष्ट संरचना के कारण होते हैं। निकट दृष्टि वाले लोगों में लेन्स व रैटिना के बीच की दूरी प्रायः सामान्य से कुछ अधिक होती है, तथा दीर्घ दृष्टि वाले लोगों में यह दूरी कुछ कम होती है। स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्राप्त करने के लिये ऐसे व्यक्ति आवश्यक लेन्स वाले चश्में प्रयोग करते हैं।

दृष्टि सुतीक्ष्णता दृष्टि सुतीक्ष्णता से अभिप्राय है दो प्रदीप्त बिन्दुओं के बीच की वह सबसे कम दूरी जिस पर उन्हें नेत्र पृथक से देख सकें। दृष्टि सुतीक्ष्णता ज्ञात करने के लिये विशेष तालिकाएँ प्रयुक्त की जाती हैं जिनपर अंक, अक्षर या अन्य चिन्ह अनेक पंक्तियों में लिखे होते हैं। प्रत्येक पंक्ति में अंक निश्चित दृष्टि सुतीक्षणता

के ग्रनुकूल एकदम सही ग्राकार के होते हैं। प्रत्येक नेत्र के लिए ग्रलग से पूर्ण दृष्टि सुतीक्ष्णता ज्ञात की जाती है ग्रौर इसके लिये मनुष्य को तालिका से 5 मी० की दूरी पर बैठाया जाता है।

श्रवण तथा संतुलन की इन्द्रिय

कर्ण (चित्र 154) न केवल ध्वनिक उद्दीपक ग्रहण करता है, बल्कि ग्रवकाश में शरीर की ग्रवस्था में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले उद्दीपक को भी ग्रहण करता है। इसीलिये यह श्रवण तथा संतुलन की इन्द्रिय कहलाता है।
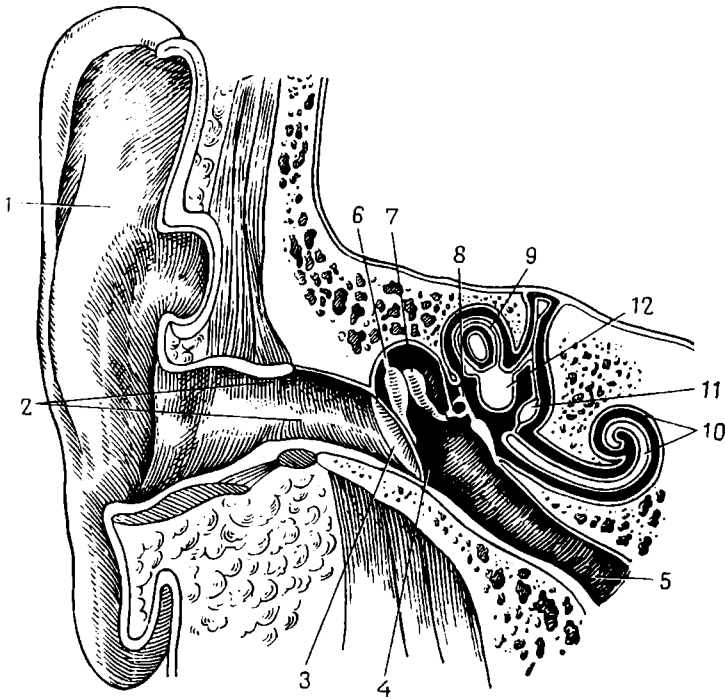
चित्र 154. कर्ण का काट

1 – कर्ण पल्लव ; 2 – बाह्य श्रवण नलिका ; 3 – कर्णपटह झिल्ली ; 4 – मध्य कर्ण का कोटर ; 5 – श्रवण नली ; 6 – मैलियस ; 7 – स्थून ; 8 – स्टेण ; 9 – ग्रर्धवृताकार नलिका ; 10 – कर्णावर्त ; 11 – लशुकोश ; 12 – दृति।

कर्ण के तीन भाग होते हैं: बाह्य कर्ण, मध्यवर्ती कर्ण ग्रौर ग्रान्तरिक कर्ण।

बाह्य कर्ण. कर्ण पल्लव ग्रौर बाह्य श्रवण नलिका से बनता है। कर्ण पल्लव एक प्रत्यास्थ ग्रस्थिप्रोत्थ है जिस पर त्वचा चढ़ी हुई होती है (केवल कर्ण पल्लव के निचले

भाग, कर्ण पालि, का कोई अस्थिप्रोत्थ नहीं होता है)। [illegible]
कुंडलिनी, अग्र कुंडलिनी, कर्णतुंगक तथा प्रतिकर्णतुंगक।

बाह्य श्रवण नलिका एक छोटी, वक्र संरचना होता है। [illegible] में ग्रन्थियाँ होती हैं जो कर्ण मल को स्रावित करती हैं। बाह्य [illegible] मध्यवर्ती कर्ण के बीच कर्णपटही झिल्ली होती है जो प्रतिस्कन्दी [illegible] बनी होती है। बाह्य श्रवण नलिका के पार्श्व में कर्णपटही झिल्ली [illegible] ही महीन त्वचा द्वारा ढकी होती है; और मध्यवर्ती कर्ण के पार्श्व [illegible] झिल्ली चढी होती है।

मध्यवर्ती कर्ण लगभग 1 घन से० मी० आयतन का कोटर है जो अश्माभ [illegible] में स्थित होता । इसमें मुद्गर, स्थूण तथा रकाब नामक तीन श्रवण [illegible] की शृंखला होती है। मध्यवर्ती कर्ण का कोटर कर्णपटही कोटर कहलाता है। [illegible] श्लेष्मा झिल्ली चढ़ी रहती है। मध्यवर्ती कर्ण के कोटर में छः दीवारों के [illegible] किया गया है; कर्णपटही झिल्ली बाह्य दीवार बनाती है और शेष दीवारें [illegible] होती हैं। कर्णपटही कोटर के ऊपर मध्यवर्ती खात होती है तथा नीचे युज्ञ [illegible] है; उसके आगे ग्रीवा नाल, और पीछे कर्णमूल प्रवर्ध, तथा इसके अन्दर आन्तरिक कर्ण होता है। मध्यवर्ती कर्ण का आन्तरिक कर्ण होता है। मध्यवर्ती कर्ण की आन्तरिक दीवार में दो रंध्र होते हैं: एक गोलाकार तथा एक अंडाकार। गोलाकार रंध्र [illegible] गवाक्ष, या वर्तुल गवाक्ष, पर एक झिल्ली चढ़ी हुई होती है (जिसे सहायक कर्णपटही झिल्ली कहते हैं); अंडाकार रंध्र, प्रघाण गवाक्ष या अंडाकार गवाक्ष, पर रकाब चढ़ा होता है। कर्णपटही कोटर व नासा-ग्रसनी का परस्पर सम्बन्ध श्रवण नलिका (युस्टेकी नलिका) द्वारा होता है। यह कर्णमूल कोशिकाओं के साथ एक विशेष [illegible] द्वारा जुड़ा होता है।

श्रवण-नलिका की लम्बाई 3.5 से 4 सें० मी० तक होती है तथा ल्यूमेन 2 मि० मी० होता है। इसमें अस्थिमय तथा अस्थिप्रोत्थ भाग होते हैं। अस्थिमय भाग शंखास्थि की पेशी-वाहिनी नाल में स्थित होते हैं; तथा अस्थिप्रोत्थ भाग कपाल (फानकी अस्थि) के आधार के पार्श्व समतल पर स्थित होते हैं। नलिका पर श्लेष्मा झिल्ली चढ़ी रहती है।

वायु श्रवण-नलिका में से गुजरते हुये कर्णपटही कोटर में पहुँचती है ताकि कर्णपटही झिल्ली के दोनों ओर दॉब समान रहे। संक्रमण नासा कोटर और नासा-ग्रसनी से मध्यवर्ती कर्ण में श्रवण नलिका के माध्यम से जा सकता है।*

आन्तरिक कर्ण अश्माभ पिरैमिड में स्थित होता है। इसकी संरचना जटिल होती

---

* मध्यवर्ती कर्ण के शोथ को ओटिटीस मीडिया (otitis media) कहते हैं।

है तथा इसीलिये इसे भ्रमिका भी कहते हैं। दो भ्रमिकाएँ हैं : अस्थिमय तथा झिल्लीमय (चित्र 155)।

अस्थिमय भ्रमिका के तीन भाग होते है : कर्नावर्त, प्रघाण तथा तीन अर्धचन्द्र नलिकाएँ। कर्णावर्त मोडियोला नामक अक्ष के चारों ओर ढाई चक्र लगाता है।
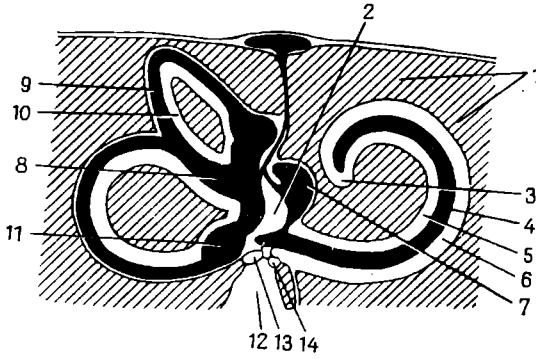
चित्र 155. अस्थि गहन एवं झिल्ली गहन की संरचना
2 – अश्माभ पिरैमिड ; 2 – प्रघाण ; 3 – कर्णावर्त की उर्ध्वकुल्या एवं कर्णावर्त की अधःकुल्या के बीच संचार ; 4 – झिल्लीमय कर्णावर्त नलिका ; 5 – कर्णावर्त की उर्ध्वकुल्या ; 6 – कर्णावत की अधःकुल्या ; 7 – लशुकोश ; 8 – दृति ; 9 – झिल्लीमय अर्धवृताकार नलिका ; 10 – अस्थि अर्धवृताकार नलिका ; 11 – झिल्लीमय तुंबिका ; 12 – कर्णपटह कोटर ; 13 – अंडाकार गवाक्ष ; 14 – वर्तुल गवाक्ष।

प्रघाण कर्णावर्त तथा अर्धचन्द्र नलिकाओं के बीच स्थित होता है तथा यह अंडाकार आकृति वाला कोटर है। अर्धचन्द्र नलिकाएँ परस्पर लम्ब बनाती हैं।

झिल्लीमय भ्रमिका अस्थिमय भ्रमिका के अन्दर स्थित होती है तथा इसकी आकृति लगभग समान परन्तु छोटी होती है। झिल्लीमय भ्रमिका की दीवारें सघन संयोजी ऊतकों से बनी हुई होती हैं।

अस्थिमय प्रघाण में दो झिल्लीमय पुटिकाएँ होती हैं जिन्हें कोषक तथा दृति कहते हैं। अस्थिमय कर्णावर्त में झिल्लीमय नलिका होती है और अस्थिमय अर्धचन्द्र नलिकाओं में झिल्लीमय अर्धचन्द्र नलिकाएँ होती हैं। अस्थिमय तथा झिल्लीमय भ्रमिकाओं के बीच परिलसीका नामक तरल होता है। झिल्लीमय भ्रमिका में एक और तरल होता है जिसे अंतर्लसीका कहते है। कर्णावर्त में परिलसीका का आधान-अवकाश एक विशेष अस्थि प्लेट द्वारा दो भागों में बँटा होता है। इन भागों को कर्णावर्त की अधः कुल्या और कर्णावर्त की उर्ध्व कुल्या कहते हैं। कुल्या परस्पर केवल कर्णावर्त के शिखर पर ही सम्बंधित होते हैं।

कर्णावर्त की झिल्लीमय नलिका के सर्पिल पटल में सर्पिल अंग होता है (कार्टी अंग) (चित्र 156)। इस अंग की संरचना जटिल होती है और यह विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं से बनी हुई होती है। यह अंग ध्वनि अनुभव करता है। कर्णावर्त तंत्रिका, जो ध्वनि-तंत्रिका का भाग होती है, इस अंग की कोशिकाओं पर समाप्त होती है।
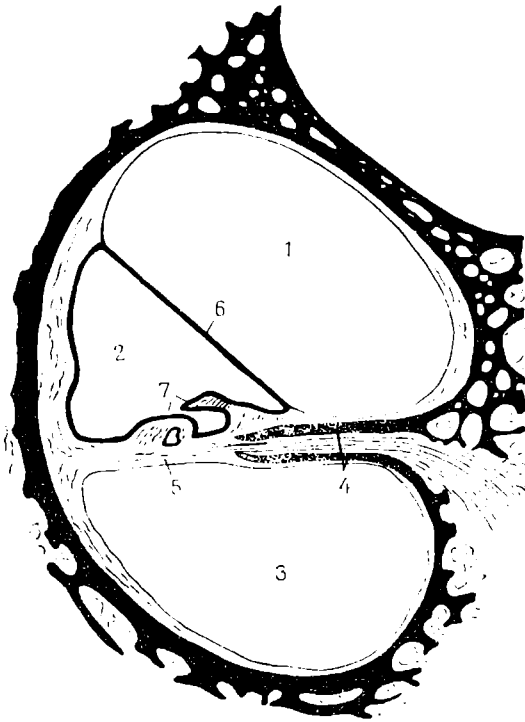
चित्र 156. कर्णावर्त के अनुप्रस्थ काट का आरेख (अतिआवर्धन) 1 – कर्णावर्त की उर्ध्वकुल्या; 9 – झिल्लीमय कर्णावर्त नलिका; 3 – कर्णावर्त की अधःकुल्या; 4 – सर्पिल अस्थि स्तरिका; 5 – आधार झिल्ली; 6 – प्रघान झिल्ली; 7 – कार्टी अंग।

प्रघाण तथा झिल्लीदार अर्धचन्द्र नलिकाओं – दोनों की झिल्लीदार पुटिकाओं के आन्तरिक समतल पर विशेष संरचनाएँ होती हैं जिन्हें मैकुला और क्रिस्टा कहते हैं; इनमें संवेदी कोशिकाएँ होती हैं। प्रघाण और अर्धचन्द्र नलिकाएँ परस्पर मिलकर प्रघाण अंग बनाते हैं जो अवकाश में शरीर की स्थिति व गति अनुभव करता है। ध्वनि तंत्रिका के दूसरे भाग, प्रघाण तंत्रिका के तंतु प्रघाण अंग की संवेदी कोशिकाओं तक विस्तरित होते हैं।

श्रवण संवेदों का उद्गम

बाह्य तथा मध्यवर्ती कर्णों का प्रकार्य ध्वनि-चालक का होता है तथा आन्तरिक कर्ण में कार्टी अंग का प्रकार्य ध्वनि अनुभव करना है। कार्टी अंग में ग्राही होते हैं जो ध्वनि उद्दीपकों को अनुभव करते हैं।

वायु के कम्पनों को ध्वनि कहते हैं। वायु कम्पन बाह्य श्रवण नलिका में से गुज़र कर कर्णपटही झिल्ली तक पहुँचते हैं और इसे कम्पायमान कर देते हैं। कर्णपटही झिल्ली के कम्पन श्रवण को प्रेषित होते हैं और फिर आन्तरिक कर्ण में परिलसीका को प्रेषित होते हैं। परिलसीका के कम्पन अपने क्रम में कर्णावर्त की झिल्लीमय दीवार के द्वारा अन्तर्लसीका के कम्पन उत्पन्न करते हैं; अन्तर्लसीका के कम्पन कार्टी अंग को प्रेषित हो जाते हैं।

कॉर्टी अंग का सर्पिल पटल महीन तंतुओं से बना होता है जो संगीत यंत्र के तारों की भाँति खिंचे रहते हैं। तंतुकों की लम्बाई भिन्न-भिन्न होती है और अनुमान किया गया है कि ये निश्चित ध्वनियों के लिये समस्वरित होते हैं। उच्च तारत्व वाली ध्वनियाँ लघु तंतुकों को कम्पायमान करती हैं तथा निम्न तारत्व वाली ध्वनियाँ दीर्घ तंतुकों को कम्पायमान करती हैं। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न तारत्व वाली ध्वनियाँ ग्रहीत की जा सकती हैं।

कॉर्टी अंग के कम्पन कर्णावर्त तंत्रिका के शिरों में उत्तेजन उत्पन्न करते हैं। यह ध्वनि तंत्रिका के माध्यम से मस्तिष्क को प्रोषित हो जाता है। ध्वनि उद्दीपक प्रमस्तिष्क वल्कुट में अनुभव होते हैं और श्रवण संवद उत्पन्न होते हैं। श्रवण विश्लेषक का प्रमस्तिष्क सिरा कपाल पालि में स्थित होता है।

शरीर की स्थिति तथा गति के संवेदों का उद्गम

अवकाश में शरीर की स्थिति एवं विस्थापन का अनुभव अनेक संवेदी अंगों द्वारा होता है: दृश्य ग्राही, स्पर्श ग्राही, स्वांतरग्राही, इत्यादि।

प्रघाण अंग शरीर स्थिति एवं गति के संवेदों को उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण रोल अदा करता है। प्रघाण अंग के ग्राही जो अवकाश में शरीर की स्थिति में परिवर्तनों को अनुभव करते हैं, मैकुला और क्रिस्टा में विद्यमान होते हैं जो प्रघाण के झिल्लीमय पुटिकाओं एवं झिल्लीमय अर्धचन्द्र नलिकाओं में स्थित होते हैं। सिर की स्थिति तथा गति में होने वाले परिवर्तनों से मैकुला एवं क्रिस्टा की संवेदी कोशिकाओं अंतर्लसीका के दाब में परिवर्तन होता है। यह प्रघाण तंत्रिकाओं में उत्तेजन उत्पन्न करता है और यह उत्तेजन ध्वनि तंत्रिका के माध्यम से मस्तिष्क को प्रेषित हो जाता है। प्रमस्तिष्क वल्कुट के अवकाश में शरीर की स्थिति का संवेद उत्पन्न होता है। एक ही साथ पेशियों के अनेक समूहों के समस्वर में प्रतिवर्त परिवर्तन होता है। पेशी संकुचन के फलस्वरूप सिर तथा शरीर की स्थिति परिवर्तित होती है, तथा इस प्रकार शरीर अपना संतुलन बनाये रहता है।

प्रघाण अंग का महत्व पशुओं पर प्रयोग करके ज्ञात किया जा सकता है। वे पशु जिनका प्रघाण अंग नष्ट हो गया है अपना संतुलन बनाये रखने की योग्यता भी खो बैठते हैं।

यदि मानव का प्रघाण अंग नष्ट हो जाये तो इस कारणवश् गति में अवरोध, चक्कर आना और अन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ लोग नाव, कार या हवाई जहाज से यात्रा करते समय गति-रोगावस्था के शिकार होते हैं (चक्कर आना, उल्टी आना, आदि)। प्रायः गति रोगावस्था का कारण प्रघाण अंग की अत्यधिक उत्तेजनशीलता होती है।

अध्याय 11

त्वचा

त्वचा मानवीय शरीर की बाह्य परत है। इसकी संरचना जटिल सूक्ष्मदर्शी होती है तथा यह अनेक प्रकार्य करती है।

त्वचा की संरचना

त्वचा दो स्तरों से बनती है: सतही तथा आन्तरिक (चित्र 157)। त्वचा के सतही स्तर को **बाह्यत्वचा** कहते हैं। यह रेखित उपकला से बनता है। उपकला कोशिकाएँ बाह्यत्वचा के आन्तरिक स्तर में निरन्तर बढ़ते रहते हैं, इसीलिये इसे **अंकुरण-स्तर** कहते हैं। बाह्यत्वचा के सतही स्तर में कोशिकाएँ धीरे-धीरे किरेटिनीकृत होकर छिल जाती हैं। इस स्तर को **किण-स्तर** हैं।

त्वचा के आन्तरिक स्तर को **यथार्थ त्वचा** कहते हैं। यह सघन रेशेमय संयोजी ऊतकों से बनी हुई होती है तथा इसमें बहुत अधिक सँख्या में कोलैजनस और तन्य रेशे होते हैं। तन्य रेशे त्वचा को तन्य करते है ताकि यह आसानी से गति कर सकती है और खींच सकती है, तथा फिर पुनः अपनी मूल आकृति प्राप्त कर सके। यथार्थ त्वचा के संयोजी ऊतक के रेशे अंतग्रथित होकर जालतंत्र बनाते हैं, लेकिन त्वचा के प्रत्येक भाग में संयोजी-ऊतक गुच्छ एक आधारभूत दिशा में स्थित होते हैं। शल्य चिकित्सा में जब त्वचा में चीरा करना होता है यह बात ध्यान में रखी जाती है। जख्म की सीमाओं को फटने से रोकने के लिये चीरा संयोजी-ऊतक रेशों की मूल दिशा के समानान्तर लगाया जाता है। त्वचा के गंभीर स्तर में बहुत अधिक रूधिर वाहिकाएँ होती हैं, तथा केशिकाएँ वाहिका जालतंत्र बनाती हैं। इन जालतंत्रों में रूधिर की काफ़ी अधिक मात्रा इकट्ठी हो सकती है। बाह्य त्वचा और यथार्थ त्वचा की सीमा पर यथार्थ त्वचा उठाव या **पैपिला** बनाती है। अतः त्वचा की सतह में कटक होते है जिनके बीच विदर होते हैं। शरीर के विभिन्न भागों में इनके आकार तथा पारस्परिक संबंध प्रत्येक मनुष्य में विभिन्न होते हैं।

व यथार्थ त्वचा आगे चल कर नीचे स्थित अवत्वक ऊतकों के साथ जुड़ी हुई होती है। अवत्वक ऊतक अबद्ध संयोजी ऊतकों से बना होती है जिनमें वसा होता है।
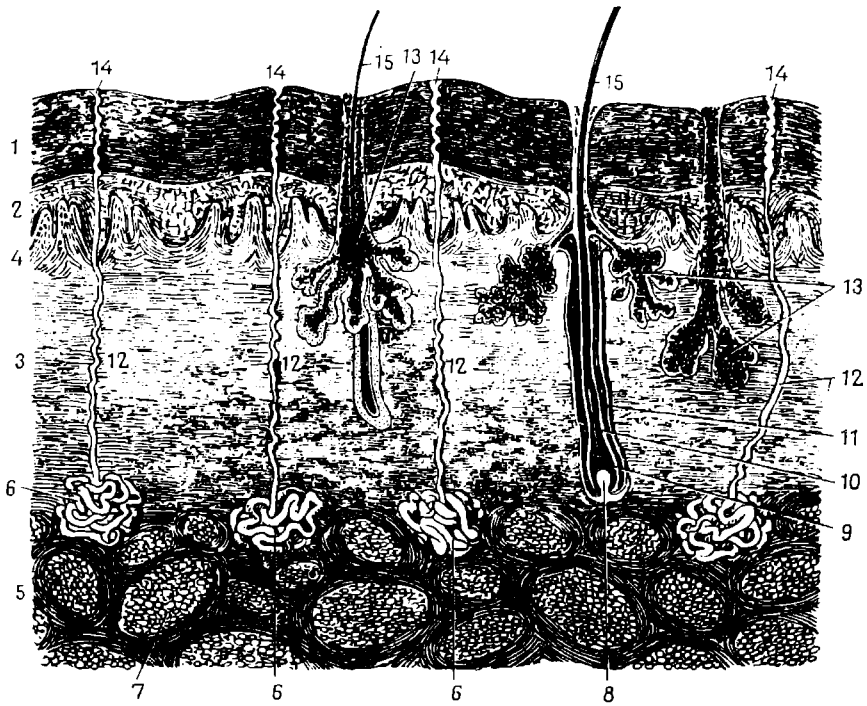
चित्र 157. त्वचा (उर्ध्वाधर भाग)

1 – किण-स्तर ; 2 – अंकुरण-स्तर ; 3 – वास्तविक त्वचा (अधस्त्वचा या चर्म) ; 4 – वास्तविक त्वचा का पैपिली स्तर ; 5 – अध:त्वचीय ऊतक ; 6 – स्वेद ग्रंथि ; 7 – वसा कोशिका का संचयन ; 8 – रोम पैपिला ; 9 – रोम कन्द ; 10 – रोम मूल ; 11 – रोम पुटक ; 12 – स्वेद ग्रन्थि की वाहिनी ; 13 – वसासम ग्रन्थि ; 14 – स्वेद रंध्र (स्वेद ग्रन्थि वाहिनी का रंध्र) ; 15 – रोम कूपक।

अवत्वक स्तर में वसा की मात्रा प्रत्येक मनुष्य में विभिन्न होती है। स्त्रियों में इस स्तर में, नियमतः, पुरूषों की तुलना में अधिक वसा होता है। मानवीय शरीर के विभिन्न भागों में वसामय स्तर की मोटाई विभिन्न होती है। पलकों, कर्ण पल्लवों तथा यौन अंगों में वसा इकठ्ठा नहीं होता है।

अवत्वक वसामय ऊतक नीचे स्थित अंगों की यांत्रिकीय चोट से रक्षा करता है। त्वचा के नीचे इकठ्ठा हुआ वसा आरक्षित पोषक पदार्थ का कार्य करता है।

वयस्क में त्वचा का कुल क्षेत्र 1.5 वर्ग मीटर होता है। त्वचा की मोटाई 1 से 4 मि० मी० तक होती है। सबसे महीन त्वचा पलकों के ऊपर होती है तथा सबसे मोटी त्वचा पैरों के तालुओं पर होती है।

त्वचा का रंग उसमें विद्यमान वर्णक पर निर्भर करता है। विभिन्न लोगों में त्वचा की अनेक रंगत उनकी त्वचा में वर्णक की मात्रा पर निर्भर करते हैं। पराबैंगनी किरणों (सूर्य के प्रकाश, मर्करी स्फटिक लैम्प) के प्रभाव से त्वचा के वर्णकों की मात्रा बढ़ जाती है।

कभी-कभी औषधियाँ आन्तर त्वचीय तथा प्रायः अवत्वचीक दी जाती है। अवत्वक टीके उन स्थानों पर लगाये जाते हैं जहाँ कोई रूधिर वाहिकाएँ और तंत्रिकाएँ नहीं होती हैं (ऊपरि बाहु की पश्चपार्श्वीय सतह, और जघनास्थि की पार्श्वीय सतह)।

त्वचा ग्रन्थियां. त्वचा में स्वेद तथा वसा ग्रन्थियों की काफ़ी बड़ी सँख्या होती है।

स्वेद ग्रन्थियां यथार्थ त्वचा के गंभीर स्तर और अवत्वक ऊतकों में स्थित होती हैं। प्रत्येक ग्रन्थि कुंडलीनुमा नलिका जैसी होती है। इसकी विसर्जन वाहिनी त्वचा की सतह में एक छोटे रंध्र या छिद्र के रूप में खुलती है। मानव में स्वेद ग्रन्थियों की सँख्या लगभग 20 लाख है। इनकी अधिक सँख्या प्रायः हाथ की हथेली व पैर के तालुओं पर होती है। स्वेद ग्रन्थियों के स्राव, स्वेद, में जल, साधारण लवण, यूरिया तथा अन्य पदार्थ होते हैं। प्रति 24 घंटों में औसतन 500-600 मि० ली० स्वेद निष्कासित होता है। स्वेदन की तीव्रता विभिन्न अवस्थाओं, जैसे वायु का ताप तथा नमी, शारीरिक कार्य, आदि, में भिन्न हो सकती है। त्वचा की सतह से स्वेद का वाष्पन ऊष्मा हानि की एक विधि है। गर्म जलवायु वाले प्रदेशों में थकान वाला शारीरिक कार्य करते समय स्वेद की प्रतिदिन वाष्पन होने की मात्रा 15 लीटर तक पहुँच सकती है।

कक्षक, संधान जघनास्थि, तथा बाह्य जननांगों की त्वचा में स्थित ग्रन्थियों की संरचना स्वेद ग्रन्थियों की संरचना जैसी ही होती है। ये विशिष्ट गन्ध वाले पदार्थ को स्रावित करते हैं।

वसाग्रन्थियाँ तलवों और हथेली के अतिरिक्त शरीर की सम्पूर्ण सतह पर यथार्थ त्वचा में होती हैं। इन ग्रन्थियों की उत्सर्जन वाहिनियाँ, नियमतः, केश थैली में खुलती हैं। केवल कुछ स्थानों में ही, उदाहरणतया, ओष्ठों की सिंदूरी सीमा पर, ये त्वचा की सतह पर खुलते हैं। वसा ग्रन्थियाँ त्वग्वसा स्रावित करती हैं जो केशों एवं त्वचा का स्नेहन करता है। वृद्धावस्था में त्वग्वसा का स्रावित होना कम हो जाता है, इसीलिये त्वचा व केश सूखे हो जाते हैं।

त्वचा के उपांग. त्वचा के उपांग केश तथा नख हैं।

केश त्वचा की काफ़ी अधिक सतह को ढके होते हैं। यह हथेलियों तलवों तथा अन्य कुछ भागों पर नहीं होते। काँड तथा अग्रांगों पर महीन केश होते हैं। भवों तथा पलकों के केश छोटे और शूकमय होते हैं। लम्बे केश सिर, कक्षक, जघनास्थि और पुरूषों में आनन की त्वचा (मूछें तथा दाढ़ी) पर निकलते हैं। केशों का वर्ण एक

विशेष वर्णक के कारण होता है। वृद्धावस्था में (तथा कभी-कभी यौवन काल में भी) केश अपना वर्णक खो देते हैं और सफेद हो जाते हैं।

केश का एक काँड तथा एक मूल होता है। काँड त्वचा से बाहर और मूल त्वचा के अन्दर होता है। केश मूल का मोटा भाग केश बल्ब कहलाता है। इसमें एक अवकाश होता है जिसमें केश पैपिला होता है। केश त्वचीय उपकला की परिवर्तित किरेटिनीकृत कोशिकाओं से बना हुआ होता है। केवल केश बल्ब की कोशिकाओं में किरेटिन नहीं होता है। ये कोशिकाएँ निरन्तर गुणित होती रहती हैं। केश केश-बल्ब में से निकलता है। केश मूल के चारों ओर केश थैली होता है जो त्वचीय उपकला और संयोजी ऊतक से बना हुआ होता है। वसाग्रन्थियों की वाहिनियाँ केश थैली में खुलती हैं।

चिकनी पेशी-रेशे केश मूलों से जुड़े होते हैं। जब त्वचा के पेशी-रेशे संकुचित होते हैं तो केश के सिरे खड़े होते हैं तथा छोटे-छोटे उठाव त्वचा की सतह पर प्रकट हो जाते हैं (रोमांच)।

नख कठोर, शृंगी तथा थोड़ी से मुड़ी हुई पट्टिकाएँ होती हैं। इनका प्रकार्य रक्षी होता है। नख का एक पिंड तथा एक मूल होता है तथा पिंड़ की सीमा स्वतंत्र होती है। नख का पिंड तथा मूल नख पट्ट पर स्थित होते हैं और त्वचा के साथ जुड़े रहते हैं। नख पट्ट की त्वचा में संवेदी तंत्रिका सिरे तथा रूधिर वाहिकाएँ बहुत अधिक सँख्या में होते हैं। नख पिंड का मूल तथा पार्श्व भाग त्वचा की परत से ढके रहते हैं जिसे नख परत कहते हैं। नख पूर्ण जीवन काल में निरन्तर विकसित होते रहते हैं। ये मूल के क्षेत्र में, अकुरण स्तर से निकलते हैं।

त्वचा के प्रकार्य

त्वचा का प्रकार्य **रक्षी** होता है। बाह्य वातावरण के कुछ हानिकारक प्रभावों से यह जीव की रक्षा करती है। यह नीचे के अंगों को यांत्रिकीय चोट लगने से बचाती है। स्वस्थ त्वचा में कोई भी रोगाणु या हानिकारक पदार्थ प्रवेश नहीं कर सकता। त्वचा के चोट लगे हुये भागों में से प्रवेश कर जाने वाले रोगाणु शोथ का कारण बनते हैं।

त्वचा का **उत्सर्जी प्रकार्य** भी होता है। अनेक अवशिष्ट पदार्थ (यूरिया, लवण, इत्यादि) स्वेद के साथ त्वचा के माध्यम से बाहर आते हैं। वसाग्रन्थियों का श्राव (त्वग्वसा) त्वचा व केशों का स्नेहन करता है।

त्वचा **तापीय परिसंचरण** में भी भाग लेती है। बाह्य वातावरण में ऊष्मा त्वचा के द्वारा ही निकलती है (विकिरण, चालकता तथा स्वेद के साथ)। बाहर निकलने वाली ऊष्मा की मात्रा के अनेक कारणों पर निर्भर करती है (वायू का ताप तथा नमी, शारीरिक कार्य, इत्यादि)। जब त्वचा में रूधिर वाहिकाएँ विस्फारित हो जाती
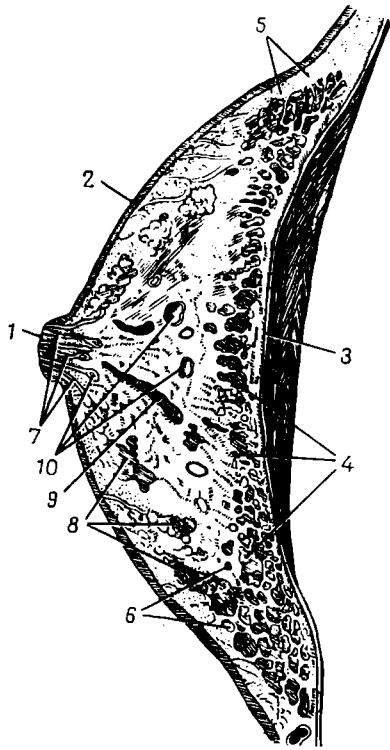
चित्र 158. स्त्री स्तन ग्रंथि (भाग)
1 – स्तनाग्र ; 2 – त्वचा ; 3 – वृहत अंसपेटी पेशी के चारों ओर का संपट्ट ; 4 – स्तन ग्रंथि का पिंड ; 5 – वसा ऊतक ; 6 – ग्रन्थि की पालिका; 9 – लेटेक्सधर कोटर (अनुदैर्घ्य भाग) ; 10–लेटेक्सधर कोटर (अनुप्रस्थ काट)।

हैं, तो उनमें रुधिर का प्रवाह बढ़ जाता है तथा ऊष्मा का उत्सर्जन बढ़ जाता है। रूधिर वाहिकाओं के संकुचित होने पर ऊष्मा का उत्सर्जन कम हो जाता है।

त्वचा **संवेद अंग** का प्रकार्य भी करती है। इसमें अनेक संवेद तंत्रिका सिरे होते हैं जो बाह्य वातावरण में कई उद्दीपकों को अनुभव करते हैं (दे० ("संवेद अंग") ।

त्वचा को कठोर करके जीव के प्रतिरोध को बढ़ाया जा सकता है। त्वचा को सूर्य तथा वायु में अनावरित करके तथा अन्य कई विधियों द्वारा, जैसे जल को प्रयोग करके, इसे कठोर किया जा सकता है।

स्तन-ग्रन्थि

स्तन-ग्रन्थि त्वचा की रूपांतरित एवं अत्यधिक बड़ी स्वेद ग्रन्थि की भांति होती है।

यह युग्मी अंग जो गोलार्धों जैसा होता है (चित्र 158) वृतीय-छठे पर्शुका के स्तर पर स्थित होता है।

स्तन ग्रन्थि का एक छोटा-सा उठाव होता है जिसे **स्तनाग्र** कहते हैं। इसके चारों ओर वर्णक वाली त्वचा का भाग होता है जिसे **स्तन ऐरियोला** कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के ग्रन्थि का आकार तथा आकृति विभिन्न होती है और आयु तथा अर्भावस्था के साथ- साथ परिवर्तित होती है।

युवतियों में यौनावस्था के समय स्तन-ग्रन्थि तीव्रता से विकसित होती है। पूर्णतया विकसित ग्रन्थि में गोलाई में स्थित 15-20 ग्रन्थि पालिकाएँ होती हैं जो एक दूसरे के साथ संयोजी ऊतक वाले वसा द्वारा जुड़ी होती हैं। प्रत्येक पालिका अनेक छोटी पालिकाओं से बनी हुई होती है जिनमें **दुग्ध** या **लेटेक्सधर वाहिनियां** होती हैं। छोटी वाहिनियाँ बड़ी वाहिनियों में सम्मिलित होती हैं जो स्तनाग्र में 8-15 छिद्रों में खुलती हैं। स्तनाग्र में खुलने से पूर्व ये विस्फारन बनाती हैं जिन्हें **लेटेक्सधर कोटर** कहते हैं।

समय-समय पर होने वाले परिवर्तन ग्रन्थि उपकला का विकास) स्तनग्रन्थि में, अण्डाशयों में अण्डोत्सर्ग के साथ होते हैं। स्तन-ग्रन्थि का अधिकतम विकास गर्भावस्था एवं परिचर्या के समय होता है। गर्भावस्था के चौथे व पाँचवे मास से ये नवदुग्ध स्रावित करना आरम्भ करती हैं। जन्म के बाद ग्रन्थि का स्राव कार्य अत्यधिक बढ़ जाता है तथा प्रथम सप्ताह के अंत में यह ग्रन्थि दुग्ध स्रावित करना आरम्भ कर देती है।

मानवीय दुग्ध की संरचना. दुग्ध जल तथा कार्बनिक तथा अकार्बनिक पदार्थों से बनता है। मानवीय दुग्ध के सबसे बड़े घटक वसा (वसा की महीन-महीन बूंदों के रूप में), केसीन (प्रोटीन), लैक्टोस (दुग्ध शर्करा), खनिज लवण (सोडियम, कैल्सियम, पोटैशियम, इत्यादि), तथा विटामिनों से बनते हैं। मानवीय दुग्ध में माता जीव द्वारा निर्मित प्रतिरक्षी हो सकते हैं। मानवीय दुग्ध नवजात शिशु के लिये अनिवार्य भोजन है। दुग्ध स्रावन की क्रिया तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित होती है। यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि स्तनग्रन्थियों की कार्य-विधि पर माता की मानसिक अवस्था और शिशु द्वारा स्तन चूषण के उत्तर में प्रतिवर्त रूप से दुग्ध स्रवन की बढ़ी हुई मात्रा प्रभाव डालती है। दुग्ध निर्माण की क्रिया पर अध: स्फीतिका, अण्डाशयों तथा अन्य अंत:स्रावी ग्रन्थियाँ भी प्रभाव डालती हैं। परिचर्या करने वाली स्त्री प्रतिदिन 1-2 लीटर दुग्ध स्रावित करती है।

अध्याय 12

अन्तः स्रावी ग्रन्थियां

सामान्य बातें

अन्तः स्रावी ग्रन्थियाँ या आन्तरिक स्रावण की ग्रन्थियाँ वे ग्रन्थियाँ हैं जिनमें उत्सर्जी वाहिकाएँ नहीं होतीं। ये विशेष पदार्थ बनाती हैं जिन्हें हॉर्मोन कहते हैं (ग्रीक में hormao का अर्थ है "मैं उत्तेजित करता हूँ") जो सीधे रूधिर में स्रावित होते हैं। ये हॉर्मोन सम्पूर्ण शरीर में रूधिर के साथ विस्तरित होते हैं और अनेक अंगों तक पहुँचते हैं जिनके कार्य को या तो उद्दीपित करते है या कम करते हैं।

हॉर्मोन जीव में महत्त्वपूर्ण रोल निभाने हैं। अनेक हॉर्मोन उपापचय तथा हृदयवाहिका, प्रजनन या अन्य यंत्रों की कार्यविधि पर प्रभाव डालते हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के कार्य मे विकार उत्पन्न होने से सम्पूर्ण जीव में परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। ये परिवर्तन किसी ग्रन्थि के कार्य में तेजी (**अति कार्य**) ला सकते हैं तथा उसे कम (**अधो कार्य**) भी कर सकते हैं। अति कार्य करने वाली ग्रन्थि हॉर्मोन की अतिरिक्त मात्रा स्रावित करती है और अधो कार्य करने वाली ग्रन्थि हॉर्मोन को कम मात्रा में स्रावित करती है।* कुछ हॉर्मोनों की रासायनिक संरचना भली प्रकार ज्ञात है। अनेक हॉर्मोन औषधियाँ कृत्रिम रूप से या पशुओं की तदनुरूप ग्रन्थियों से (अन्तःस्रावी औषधियाँ) प्राप्त की जाती हैं और चिकित्सा में इनका प्रयोग काफ़ी प्रचलित है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हॉर्मोन अति उच्च जैव विज्ञानी कार्य वाले पदार्थ होते हैं (इनमें से कुछ 1:1000000 तनु में भी सक्रिय होते हैं)। अन्तः स्रावी ग्रन्थियों में निम्न सम्मिलित हैं : अधः स्फीतिका (या पीयूष), अधिप्रवर्ध प्रमस्तिष्क (या पिनियल), अवटु, परावटु, थाइमस, अग्न्याशय का द्वीपक भाग, अधिवृक्क और लिंग ग्रन्थियों (वृषण और अण्डाशय) (चित्र 159) का आंतरस्रावी भाग प्रत्येक ग्रन्थि ग्रन्थिल उपकला ऊतक से बनी होती है तथा इसमें अधिक सँख्या रूधिर वाहिकाएँ और तंत्रिका तंतु (कायिक तंत्रिका तंत्र से) विद्यमान होते हैं।

---

*24 घंटों में अन्तः स्रावी ग्रन्थियों द्वारा स्रावित हॉर्मोन की मात्रा मि० ग्रा० के कुछ अंशों में ही होती है।

सभी ग्रान्तरस्रावी ग्रन्थियों के प्रकार्य परस्पर सम्बंधित होते हैं, और ग्रन्थियाँ एक तंत्र बनाती हैं। इस तंत्र की मुख्य ग्रन्थि अधः स्फीतिका होती है; यह एक विशेष पदार्थ स्रावित करती है जो अन्य अंतः स्रावी ग्रन्थियों के प्रकार्य को उद्दीपित करता है। रूधिर के माध्यम से जीव पर अनेक पदार्थों (मुख्यतः हॉर्मोन) के प्रभाव को तरल नियंत्रण कहते हैं।

अन्तः स्रावी ग्रन्थियों का कार्य तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित होता है। तंत्रिकाओं तथा तंत्रि-तरल नियंत्रण, विशेषतः अधः स्फीतिका के माध्यम से तंत्रिका तंत्र अंतः स्रावी ग्रंथियों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण रखता है। हॉर्मोन अपने क्रम में तंत्रिका तंत्र के अनेक भागों की प्रक्रिया पर प्रभाव डालते हैं।

चित्र 159. अंतः स्रावी ग्रंथि की स्थिति का आरेख (प्रक्षेप में) 1 – पिनियल ग्रंथि; 2 – अधः स्फोतिका; 3 – अवटुग्रंथि तथा परावटु ग्रंथियां; 4 – थाइमस; 5 – अधिवृक्क; 6 – अग्न्याशय का उपद्वीय भाग; 7 – वृषण का आंतरस्रावी भाग; 8 – अंडाशय का आंतरस्रावी भाग।

अधः स्फीतिका

अधः स्फीतिका (प्रमस्तिष्क अधः स्फीतिक) एक छोटा-सा अंडाकार पिंड होता है जिसका भार 0.5 ग्रा० होता है, और यह कपाल कोटर (पल्याणिका) में स्थित होता है तथा अधश्चेतक के साथ सम्बंधित होती है। ग्रन्थि की एक अग्र पालि, एक मध्यवर्ती भाग तथा एक पश्च भाग होता है। इन भागों के बीच की सीमा केवल सूक्ष्मदर्शी की मदद से देखी जा सकती है।

अग्र पालि कई **हॉर्मोन** बनाती हैं: (1) कायप्रेरक या विकास हॉर्मोन जो उपापचय, विशेषकर ऊतकों में प्रोटीन के संश्लेषण पर, प्रभाव डालती है; (2) अवटुप्रभावी हॉर्मोन जो अवटु ग्रान्थि पर प्रभाव डालती है; (3) अधिवृक्क प्रान्तस्था – प्रेरक हॉर्मोन जो अधिवृतक ग्रान्थि के प्रकार्य पर प्रभाव डालती है, तथा (4) जननग्रंथिप्रेरक हॉर्मोन जो लिंग ग्रन्थियों पर प्रभाव डालती है।

यह देखा गया है कि अधश्चेतक विशेष पदार्थों को स्रावित करता है जो अधः स्फीतिका हॉर्मोन के स्रावण का नियंत्रण करते हैं। इस प्रकार अन्य अंतः स्रावी ग्रन्थियों

चित्र 160. महाकायता
दायें—औसत ऊँचाई का मनुष्य ; किशोर।

की कार्यविधि पर अधः स्फीतिका के माध्यम से तंत्रि-तरल नियंत्रण लागू होता है।

अधः स्फीतिका के अग्र पालि के कार्य में विकार उत्पन्न होने से सम्पूर्ण जीव में परिवर्तन होते हैं। उदाहरणतया, बाल्यावस्था में विकास हार्मोन का अत्यधिक स्रावण अतिकायता का कारण बनता है (चित्र 160)। असामान्य विकास वाले लोगों की ऊँचाई 2.5 से 2.6 मी० तक हो सकती है। वयस्कों में इस हार्मोन का अंगुष्ठों की अस्थियों का अतिरिक्त विकास होता है। इस रोग को अतिकायता कहते हैं। बाल्यावस्था में विकास के समय हार्मोन का अपर्याप्त मात्रा में स्रावण मंदित विकास (वामनता) का कारण बनता है।

अधः स्फीतिका की **पश्च पालि** ऑक्सीतासीन तथा **वैसोप्रेसिन** स्रावित करती है। ऑक्सीतॉसिन गर्भाशयी पेशियों के संकुचन को तीव्र करती है तथा इसीलिये क्षीण प्रसव प्रेरित करने में प्रयोग होती है। वैसोप्रेसिन रूधिर वाहिकाओं विशेषकर गर्भाशय की रूधिर वाहिकाओं का संकुचन करती है। वैसोप्रेसिन से एक सक्रिय पदार्थ पृथक किया गया है जो प्रतिमूत्रल सक्रिय होता है। यह मूत्रजन नलिका में रूधिर में जल का अधिक अवशोषण करता है ताकि मूत्र कम मात्रा में बने। अधः स्फीतिका की पश्च पालि का अधोप्रकार्य प्रतिमूत्रल हार्मोन को कम मात्रा में बनाता है तथा इससे जल उपापचय में विकार उत्पन्न होते हैं जिन्हें उदकमेह कहते हैं। इस रोग की विशेषता है तीव्र प्यास लगना (रोगी एक दिन में 20 से 30 ली० तक जल लेते हैं) तथा अधिक मात्रा में मूत्र का उत्सर्जन होना।

अधः स्फीतिका की पश्च पालि से प्राप्त किया गया अर्क, पिट्यूट्रिन, जिसमें हार्मोन विद्यमान होती हैं, चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है।

अब यह समझा जाता है कि अधः स्फीतिका की पश्च पालि द्वारा स्रावित होने वाली हार्मोन अधः स्फीतिका में नहीं बनती, बल्कि अधश्चेतक के तंत्रिका केन्द्रक में बनती है और फिर अधः स्फीतिका की पश्च पालि में एकत्रित हो जाती है।

अधिप्रवर्ध प्रमस्तिष्क

अधिप्रवर्ध प्रमस्तिष्क चीड़ के शंकु जसा छोटा-सा पिंड होता है; इसीलिये इसे पिनियल ग्रन्थि (pineal gland) कहते हैं। यह कपाल कोटर में ऊर्ध्व वप्रों

के बीच चेतक के पीछे स्थित होता है। इसका अधिकतम विकास बाल्यावस्था में होता है, तथा वयस्क में यह लगभग पूर्णतया संयोजी ऊतकों से बना होता है।

इस ग्रन्थि का प्रकार्य अभी तक अज्ञात है। कुछ तथ्यों से ज्ञात होता है कि यह लिंग ग्रन्थियों के पूर्वकालीन विकास को रोकता है।

अवटु ग्रन्थि

अवटु ग्रन्थि ग्रीवा की अग्र सतह पर स्थित होती है तथा इसका भार 30 से 60 ग्रा० तक होता है (चित्र 161)। यह दक्षिण व वाम पालि और एक इस्थमस से बना होता है। पालियाँ कंठ तथा श्वासनली के साथ जुड़ी रहती हैं और इस्थमस श्वासनली की द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ उपास्थियों के साथ सम्बंधित रहता है। कभी-कभी इस्थमस एक पिरैमिडी पालि बनाता है जो ऊपर की ओर विस्तरित होती है। ग्रन्थि के अन्दर ग्रन्थिल उपकला की दीवारों वाली पुटिकाएँ होती हैं। पुटिकाओं के कोटर श्यान पदार्थ से भरे रहते हैं जिनमें थायरॉक्सिन और ट्राइआॅडोथायरोनाइन होती हैं; ये अवटु ग्रन्थि की हार्मोन हैं जिनमें आयोडीन होती है। थायरॉक्सिन की तुलना में ट्राइआडोथायरोनाइन कई गुना अधिक सक्रिय होती है। ये हार्मोन उपापचय, जीव के विकास व वृद्धि तंत्रिका तंत्र की उत्तेजन शीलता, आदि पर प्रभाव डालती हैं।

चित्र 161. अवटुग्रथि
1 – कंठिकास्थि ; 2 – अवटु उपास्थि ; 3 – श्वासनली ; 4 – पिरैमिडी पालि ; 5 – क्षिणद पालि ; 6 – वाम पालि ; 7 – इस्थमस।

अवटु ग्रन्थि काअति प्रकार्य होना गलगण्ड रोग का कारण बनता है। इस रोग की विशेषता है: अत्यधिक उपापचय, तंत्रिका तंत्र की उत्तेजनशीलता में वृद्धि तथा शीघ्र थकान। इसके लक्षण हैं: अवटु ग्रन्थि के आकार में वृद्धि (गलगण्ड), उभरे हुये नेत्र (नेत्रोत्सेधी) (चित्र 62) तथा हृदय स्पन्द की गति में वृद्धि (हृद-क्षिप्रता)। इस रोग से पीड़ित व्यक्ति का भार कम हो जाता है, वह चिड़चिड़ा हो जाता है, उसके हाथों में कंप हो जाता है और स्वेद काफ़ी अधिक निकलता है।

अवटु ग्रन्थि का अधो प्रकार्य भी सम्पूर्ण जीव में परिवर्तन लाता है।

चित्र 162. नत्रोत्सेधी गलगण्ड वाली स्त्री (बेसडोव रोग)।
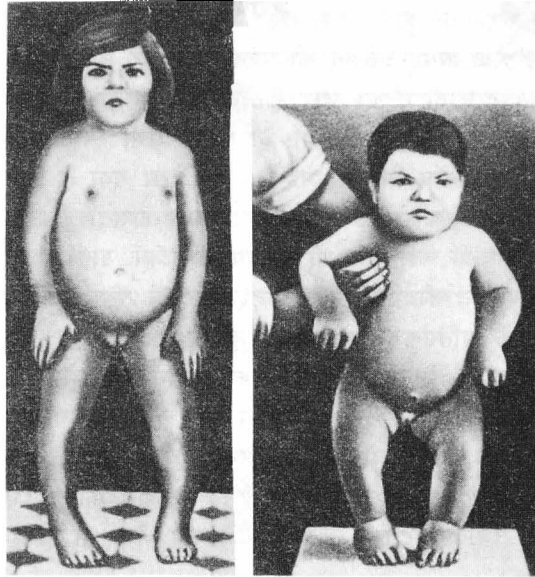
चित्र 163. अवटु विरचन द्वारा अवटुवामनता का उपचार
बारह वर्षीय कन्या ; दायें—उपचार पूर्व ; बायें—उपचार के छः महीने पश्चात।

अवटु ग्रन्थि के अधो प्रकार्य के कारणवश् अवटुअल्पक्रियता तथा क्रेटीनता रोग होते हैं। अवटुअल्पक्रियता की विशेषताएँ हैं: कम उपापचय, मंदित वृद्धि व विकास, क्षीण मानसिक क्रिया, त्वचा के कुछ भागों का फूलना तथा अन्य परिवर्तन।

क्रेटीनता (मन्दबुद्धि) (चित्र 163) उस अवस्था में होता है जब अवटु ग्रन्थि का कार्य मन्द हो जाता है या यह बाल्यावस्था में क्षीण हो जाती है। इस रोग की विशेषताएँ हैं: मन्दित वृद्धि (वामनता), शरीर के विभिन्न भागों का अनुपातहीन आकार (बड़ा सिर, छोटे अग्रांग), अत्यधिक मन्दबुद्धि, सहायक लिंग गुणों का अल्प विकास तथा अन्य परिवर्तन।

सामान्य अथवा स्थानिक गलगण्ड नामक रोग कुछ पहाड़ी क्षेत्रों में काफ़ी प्रचलित है (स्वीटजेरलैंड, जर्मनी या अन्य देशों में)। इस रोग का कारण पेय जल में आयोडीन की कमी है (थायरॉक्सिन के बनने के लिये आयोडीन अति आवश्यक है)। सामान्य गलगण्ड में अरटु ग्रन्थि की उपकला का अधिक विकास हो जाता है तथा ग्रन्थि कभी-कभी बहुत बड़ी हो जाती है। उन स्थानों में जहाँ सामान्य गलगण्ड प्रचलित है आयोडीन की छोटी-सी मात्रा रोगनिरोधी अर्थ में दी जाती है। भोजन में साधारण लवण में आयोडीन को मिलाया जा सकता है।

परावटु ग्रन्थि

परावटु ग्रन्थियाँ अवटु ग्रन्थिय की पश्च सतह पर स्थित छोटे अण्डाकार पिंड होते हैं। **परावटु ग्रन्थियों की संख्या चार है—दो ऊर्ध्व तथा दो निम्न,** प्रत्येक का भार 0.05 ग्रा० होता है। परावटु ग्रन्थियों का प्रकार्य अभी स्पष्ट नहीं है। इन ग्रन्थियो से पैरार्थार्मोन नामक हार्मोन निकाली गई है। यह देखा गया है कि परावटु ग्रन्थियाँ जीव में कैल्सियम तथा फास्फोरस उपापचय पर प्रभाव डालती हैं। इन ग्रन्थियों को हटाने से रूधिर जीवद्रव्य में कैल्सियम की एकदम कमी हो जाती है। इस अवस्था में सभी या अनेक पेशियों का तीव्र अतिसंकुचन हो जाता है तथा इसे अपतानिका कहते हैं। श्वसन पेशियों के अतिसंकुचन के कारणवश् जीव श्वासावरोध से मर जाता है। कुछ रोगाग्रस्त अवस्थाओं, जिनके साथ पेशी का अतिसंकुचन होता है, का कारण परावटु ग्रन्थियों का अधोप्रकार्य है। इन अवस्थाओं में बच्चों तथा गर्भित स्त्रियों में अपतानिका भी सम्मिलित है। परावटु ग्रन्थियों का अधोप्रकार्य कैल्सियम उपापचय का कारण भी है जिससे युवकों में दंत क्षय हो जाता है। यह बात काफ़ी रोचक है कि जीव पर पैराथार्मोन का प्रभाव विटामिन "डी" के प्रभाव जैसा ही होता है।

थाइमस

थाइमस उरोस्थि मुष्टि के पीछे वक्षीय कोटर में स्थित होती है (चित्र 164)। यह **दो पालियों** मे बनी होती है जो परस्पर संयोजी ऊतक की परत से जुड़ी रहती
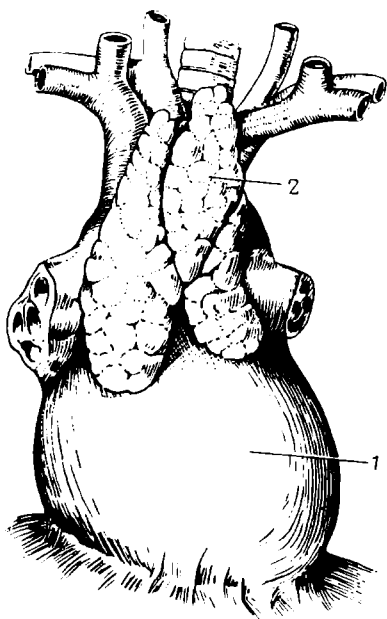
चित्र 164. 12 वर्षीय बालकका का थाइमस (अग्र दृश्य)
1 – हृदयाग्रावरण ; 2 – थाइमस।

हैं। ग्रन्थि का पदार्थ छोटी-छोटी पालिकाओं से बनता है जो वल्कुट तथा मध्यांग परतों मे बनी होती हैं। वल्कुट पदार्थ में लसीका णुओं की बड़ी सँख्या होती है। मध्यांग पदार्थ में कम लसीकाणु होते हैं लेकिन तथाकथित हैसाल कणिकाएँ होती हैं जो शल्की उपकला कोशिकाओं से बनी होती हैं। प्राय: इन कणिकाओं का प्रकार्य स्रावण होता है।

थाइमस की क्रिया बाल्यावस्था में ही व्यक्त हो जाती है। इस ग्रन्थि का अधिकतम विकास 11 से 15 वर्ष की आयु में होता है जब इसका भार लगभग 35 ग्रा० होता है। नवजात शिशु की थाइमस का भार 13 ग्रा० होता है। यौन परिपक्वता के समय के बाद से ग्रन्थि के पदार्थ के स्थान पर धीरे-धीरे वसा ऊतक आ जाता है और ग्रन्थिल ऊतक का केवल छोटा-सा भाग रह जाता है। थाइमस का प्रकार्य अभी स्पष्ट नहीं है। इस ग्रन्थि से हार्मोन पृथक कर ली गई है। यह माना जाता है कि बाल्यावस्था में, यौन परिपक्वता से पूर्व, थाइमस लिंग-ग्रन्थियों की परिपक्वता को रोकती है। पशुओं में थाइमस निकाल कर किये गये प्रयोगों में अनेक परिवर्तन देखे गये हैं तथा मंदित वृद्धि भी नोट की गई है। ये परिवर्तन विशेषकर अस्थियों की संरचना में देखे गये हैं (अस्थियाँ मृदु और भंगुर हो जाती हैं)।

अग्न्याशय का द्वीपक भाग

अग्न्याशय ऐसी ग्रन्थि है जिसमें बाह्य तथा आन्तरिक स्रावण होता है। अग्न्याशय रस के अतिरिक्त जो ग्रहणी को जाता है, यह ग्रन्थि हार्मोन भी बनाती* है – इंसुलिन और ग्लूकैगॉन। हार्मोन स्रावित करने वाला ग्रंथिल ऊतक तथाकथित लैंगरहैंस द्वीप बनाता है।

इंसुलिन कार्बोहाइड्रेट उपापचय पर प्रभाव डालता है अर्थात् यह ऊतकों में कार्बोहाइड्रेट का आक्सीकरण करता है और यकृत व पेशियों में ग्लाइकोजेन एकत्रित करता

---

*इंसुलिन शब्द लैटिन भाषा से है: insula का अर्थ है द्वीप।

है। अग्न्याशय का अधोप्रकार्य एवं इसके साथ ही इंसुलिन के स्रावण में कमी के कारण कारणवश् मधुमेह हो जाता है। इस रोग में ऊतक शर्करा का समिश्रण भली प्रकार नहीं कर पाते और यकृत ग्लाइकोजन को एकत्रित नहीं कर पाता। इस प्रकार रूधिर में शर्करा की मात्रा सामान्यत: 0.1 से 0.12 प्रतिशत के स्थान पर 0.3 से 0.8 प्रतिशत तक हो जाती है (कभी-कभी यह मात्रा 1 प्रतिशत तक पहुँच जाती है)। इस अवस्था को अतिग्लूकोसरक्तता कहते है। मधुमेह का अपरिवर्तनीय लक्षण है मूत्र में शर्करा की विद्यमानता (शर्करामेह)। इस अवस्था में अधिक मात्रा में मूत्र उत्सर्जित होता है (24 घंटों में 8 से 10 लीटर तक) तथा अधिक प्यास लगती है।

मधुमेह की अवस्था में कार्बोहाइड्रेट उपापचय में होने वाले परिवर्तनों के साथ वसा एवं प्रोटीन उपापचयों में भी परिवर्तन होते हैं। जीव में वसा का केवल थोड़ा-सा ऑक्सीकरण ही होता है और अंत उत्पाद (यानी जल व कार्बन डाइआक्साइड) के स्थान पर केवल मध्यवर्ती उत्पाद ही प्राप्त होते है जैसे कीटोन पिंड (ऐसिटोन, आदि)। जीव द्वारा ग्रहण किये गये कुछ प्रोटीन मध्यवर्ती अम्लीय उत्पादों में रूपांतरित हो जाते हैं। अपूर्ण वसा तथा प्रोटीन उपापचय के उत्पाद हानिकारक होते हैं और जीव को दूषित कर सकते है जिसके कारणवश् कष्टश्वास, हृदय दुर्बलता तथा बेहोशी होती है। इस अवस्था को मधुमेह कॉमा कहते हैं तथा यह जीवन के लिये हानिकारक होती है।

कुछ स्थितियों में इंसुलिन स्रावण अधिक होता है (उदाहरणतया, अग्न्याशय के अर्बुद में) और रूधिर शर्करा में कमी हो जाती है जिसके कारणवश संकटपूर्ण परिघटनाएँ हो सकती हैं, जैसे ऐंठन, ताप में गिरावट तथा बेहोशी। इस अवस्था को इंसुलिन प्रघात कहते हैं।

इंसुलिन को उपयोग करने से भी रूधिर शर्करा की कमी हो जाती है।

ग्लूकैगॉन से ग्लाइकोजनांशन होता है यानी इसका प्रभाव इंसुलिन के प्रभाव के एकदम विपरीत होता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अग्न्याशय अन्य सक्रिय पदार्थ—पाडुटिन तथा लिपोकाइक—भी स्रावित करता है।

पाडुटिन अनेक अंगों में छोटी रूधिर वाहिकाओं का विस्फारण करके रूधिर दाब करता है। लिपोकाइक यकृत् वसा उपापचय का नियंत्रण करता है। इस हार्मोन की अनुपस्थिति में यकृत में वसा दहन की प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न हो जाता है और वसामय यकृत बनता है।

अधिवृक्क

अधिवृक्कीय ग्रन्थियां (दे० चित्र 86) वृक्क के ऊपरि ध्रुवों के पास कटि-प्रदेश में स्थित होती हैं। अधिवृक्क युग्मी अंग है। प्रत्येक अधिवृक्क का भार 12 ग्रा० होता है; यह त्रिकोणीय या नवचंद्राकार होता है व इसकी **दो परतें** होती हैं। बाह्य परत **वल्कुटी पदार्थ** और आन्तरिक परत **मध्यांग पदार्थ** कहलाता है। वल्कुटी पदार्थ मन्द पीला होता है और अपने क्रम में तीन स्तरों से बना होता है—कणिकी, पूलीय तथा

जालिकामय। इन स्तरों की संरचनाओं में विभेद सूक्ष्मदर्शीय होता है और ये विभिन्न हार्मोन स्रावित करती हैं। मध्यांग पदार्थ गाढ़ा रंग का होता है।

वल्कुटी पदार्थ अनेक हार्मोन स्रावित करता है जिनका सामान्य नाम कॉर्टीकास्टीरॉयड है। मुख्य **कॉर्टीकास्टीरॉयड** निम्न हैं: ऐल्डोस्टेरोन, हाइड्रोकार्टीसान, कार्टीकास्टेरोन और पुंजन। अधिवृक्क वल्कुट की हार्मोन उपापचय नियंत्रण में मदद करती हैं, पेशी थकान दूर करती हैं तथा विभिन्न हानिकारक अवयवों के प्रति जीव का प्रतिरोध बढ़ाते हैं (जैसे, जीवाणु विष, ताप में कमी, आदि)। उदाहरणतया, ऐल्डोस्टेरोन खनिज उपापचय का नियंत्रण करती है, जीव में सोडियम को बनाये रखती है और पोटैशियम को दूर करती है; हाइड्रोकार्टीसोन तथा कार्टीकासटेरोन प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट उपापचय पर प्रभाव डालता है और आधारी उपापचय को सामान्य स्तर पर बनाये रखता है। पुंजन का प्रभाव लिंग हार्मोनों के प्रभाव के साथ काफ़ी मिलता है तथा यह यौन विकास के साथ सम्बंधित है।

अधिवृक्कों का अधो प्रकार्य, विशेषतः वल्कुटी परत का अधो प्रकार्य एक तीव्र रोग का कारण है जिसे ऐडीसन रोग कहते हैं (ऐडीसन ने सर्व प्रथम इस रोग का वर्णन किया)। इस रोग में उपापचय में अवरोध उत्पन्न होता है, भार कम होता है, भूख कम लगती है, रूधिर दाब में कमी हो जाती है तथा अन्य परिघटनाएँ घटती हैं। रोगी की त्वचा का कास्पन इस रोग का विशेष लक्षण है। यह रोग घातक हुआ करता था, लेकिन अब रोगियों की चिकित्सा अधिवृक्क के वल्कुटी पदार्थ के अर्क द्वारा या हार्मोन द्वारा की जाती है और रोग को बढ़ने से रोक दिया जाता है।

अधिवृक्कों के वल्कुटे परत का अतिप्रकार्य, उदाहरणतया, अधिवृक्कीय अर्बुद की स्थिति में, जनन तंत्र में परिवर्तनों का कारण है। बच्चों में इस अवस्था के कारणवश् यौन परिपक्वता समय से पूर्व हो सकती है, स्त्रियों में इस कारणवश् सहायक पुरूष लिंग लक्षण अत्पन्न हो सकते हैं (दाढ़ी, मूछे, आदि)।

सेल्ये (Selya) की धारणा के अनुसार ऐड्रिनोकार्टीको-हाइपोफिसियल तंत्र महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और इस प्रकार जीव की मदद करता है कि वह स्वयं किसी भी हानिकारक उद्दीपक के प्रभाव के प्रति अपनी रक्षा कर सके, जैसे संक्रमण, उन्मादन दहन, अभिघात, आदि)। इस प्रकार के हानिकारक प्रभावों की विद्यमानता में अधः स्फीतिका ऐड्रिनोकार्टीकोट्रपिक हार्मोन का बहुत अधिक मात्रा मे स्रावण कर देती है जो रूधिर के माध्यम से अधिवृक्कीय वल्कुट पर प्रभाव डालती है। इसके परिणामस्वरूप, अधिवृक्कीय वल्कुट हार्मोन को और अधिक मात्रा में स्रावित करता है और जीव अपने आप को अनुकूल बना लेता है।

अधिवृक्कों का मध्यांग पदार्थ ऐपिनेफ्रीन स्रावित करता है।

एपिनेफ्रीन सर्वाधिक प्रचलित हार्मोन है। इसे कृत्रिम रूप से तैयार किया जा सकता है तथा यह चिकित्सा में प्रयुक्त होती है। अनेक शोधकार्यों से सिद्ध हुआ है कि एपिनेफ्रीन का प्रकार्य तंत्रिका तंत्र की अनुकम्पी भाग के प्रकार्य से मिलता है। उदाहर-

णतया, ऐपिनेफ्रिन हृदय गति को बढ़ाती है, हृदय संकुचन को तीव्र करती है, रूधिर वाहिकाओं की दीवारों को संकुचित करती है (हृदय तथा मस्तिष्क का रूधिर वाहिकाओं को छोड़कर), आंत्र क्रमाकुंचन को कम करती है गर्भाशयी और प्यूपिलै विस्फरिणी पेशी को संकुचित करती है तथा श्वसनी दीवारों की पेशियों को शिथिल करती है, आदि। हृदय संकुचन के तीव्र होने तथा रूधिर वाहिकाओं के संकुचित होने से रूधिर दाब बढ़ जाता है। ऐपिनेफ्रिन अस्थिपंजर पेशियों की कार्य क्षमता को बढ़ाने में मदद करती है।

मानसिक अवस्थाओं में जैसे, क्रोध या भय में, अधिवृक्क के मध्यांग पदार्थ का कार्य बढ़ जाता है, इसके परिणामस्वरूप रूधिर में ऐपिनेफ्रिन अधिक मात्रा में स्रावित होता है। इन अवस्थाओं की विशेषता है त्वचा पीत हो जाती है, हृदय की गति बढ़ बढ़ जाती है तथा ऐपिनेफ्रिन के साथ सम्बंधित अन्य परिघटनाएँ स्थान लेती है।

ऐपिनेफ्रिन कार्बोहाइड्रेट उपापचय पर भी प्रभाव डालती है अर्थात् यकृत् के ग्लाइ-कोजेन को ग्लूकोस में रूपांतरित करने में मदद करती है जो रूधिर में जाता है। अतएव, ऐपिनेफ्रिन तथा इंसुलिन कार्बोहाइड्रेट उपापचय पर विपरीत प्रभाव डालते हैं और इस प्रकार रूधिर में ग्लूकोस की मात्रा अपेक्षाकृत स्थायी बनाये रखते हैं।

लिंग ग्रन्थियों का आंतरस्रावी प्रकार्य

लिंग ग्रन्थियाँ, **वृषण** तथा **अण्डाशय**, वे अंग हैं जिनमें जनन कोशिकाएँ बनती हैं। ये भी अन्तः स्रावी ग्रन्थियाँ हैं। ये ग्रन्थियाँ **लिंग हार्मोन** अन्तःस्रावित करती हैं जो रूधिर में प्रवेश कर जाती हैं। लिंग हार्मोन अनेक प्रकार्यों पर प्रभाव डालती हैं। उदाहरणतया, जीव की यौन परिपक्वता लिंग ग्रन्थियों के विकास एवं लिंग हार्मोन के स्रावण के साथ सम्बंधित है। यौन परिपक्वता से अभिप्राय है प्राथमिक तथा सहायक लिंग विशेषताओं का प्रगट होना; यह 12 से 18 वर्ष की आयु में होता है।

प्राथमिक लिंग विशेषकाओं में लिंग ग्रन्थियों और स्त्री व पुरूष के जननांगों की निश्चित संरचनाएँ सम्मिलित हैं। सहायक लिंग विशेषताओं में जीव की वे संरचनाएँ तथा वे प्रकार्य हैं जो लिंग में विभेद करते हैं। ऐसी विशेषताएँ पुरूष व स्त्री की गठन में विभेद करती है (श्रोणि तथा अंस की चौड़ाई में विभेद, वक्ष व करोटि की संचना में विभेद, इत्यादि), शरीर पर बालों का होना (पुरूषों में दाढ़ी, मूछें, वक्षीय व उदरीय बालों की विद्यमानता), कंठ के विकास में विभेद तथा ध्वनि रूपों में सहगामी विभेद करती हैं।

लिंग हार्मोन उपापचय एवं मानसिक अवस्था पर प्रभाव डालती है। यह स्मरण रहें कि लिंग हार्मोन द्वारा प्रभावित सभी प्रक्रियाएँ अन्य अंतः स्रावी ग्रन्थियों द्वारा भी प्रभावित होती हैं और तंत्रिका तंत्र द्वारा नियंत्रित होती हैं। लिंग हार्मोन दो प्रकार की होती हैं: स्त्री व पुरूष लिंग हार्मोन।

पुरुष लिंग हार्मोन, टेस्टोस्टेरोन और ऐण्डोस्टेरोन, वृषण में बनती हैं। ये पुरूष
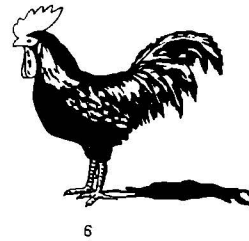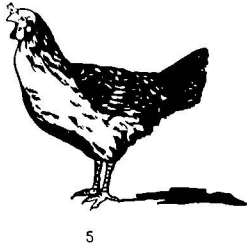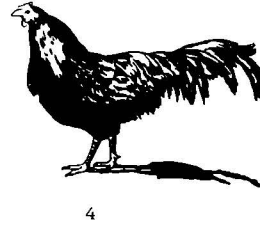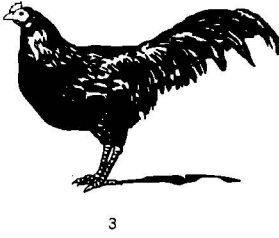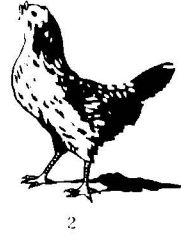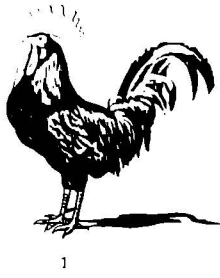
चित्र 165. लिंग परिवर्तन

1 – सामान्य मुर्गा ; 2 – सामान्य मुर्गी ; 3 – जनदनाशन किया हुआ मुर्गा ; 4 – जनदनाशन की हुई मुर्गी ; 5 – जनदनाशन किया हुआ मुर्गा जिसमें मुर्गी के अंडाशय प्रतिरोपित कर दिये गये हैं ; 6 – जनदनाशन की गई मुर्गी जिसमें मुर्गे के वृषण प्रतिरोपित कर दिये गये हैं।

का लिंग विकास करती हैं, जननांगो की प्रक्रिया उत्तेजित करती हैं तथा कामुकता को उत्तेजित करती हैं, तथा उपापचय के नियंत्रण और जीव के अन्य प्रकार्यों में भाग लेती हैं।

स्त्री लिग हार्मोन, एस्ट्रोन या फॉलिक्यूलिन और प्रोजेस्टरोन, अण्डाशयों में बनती हैं, इनमें से पहली हार्मोन कूप में बनती हैं और दूसरी – पीत पिंड में बनती है। स्ट्रोन स्त्री जीन की यौन यरिपक्वता तथा स्तन ग्रन्थियों को प्रभावित करती है और रजोधर्म का नियंत्रण करती हैं। प्रोजेस्टरोन गर्भ की हार्मोन कहते हैं क्योंकि यह

गर्भ के सामान्य क्रम को प्रभावित करती हैं। उदाहरणतया, प्रोजेस्टरोन गर्भाशय की श्लेष्मा झिल्ली में होने वाले नियतकालिक परिवर्तनों का नियंत्रण करती हैं जो सगर्भता से पूर्व होते हैं। यह कूपों की परिपक्वता को विलंबित करती है तथा यह सगर्भता के दौरान स्तन ग्रन्थियों में होने वाले परिवर्तनों के लिये उत्तरदायी है। पशुओं पर किये गये प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि यदि पीत पिंड जिसमें प्रोजेस्टरोन बनती है नष्ट कर दिया जाये तो सगर्भता नहीं होती। स्त्री लिंग हार्मोन पुरूष लिंग हार्मोन की भांति, उपापचय के नियंत्रण में भाग लेती हैं।

40-50 वर्ष की आयु में अण्डाशयों का अन्त:स्रावी प्रकार्य धीरे-धीरे बंद हो जाता है। इसी समय कूपों का परिपक्व होना भी रूक जाता है, कूपों का विस्फारण हो जाता है, रजोधर्म बंद हो जाता है तथा अंत: स्रावी ग्रन्थियों में परिवर्तन होते हैं। इस कार को रजोनिवृति कहते हैं तथा इसकी विशेषता है अनेक प्रकार की रोगग्रस्त परिघटनाओं का घटना (तंत्रिका उत्तेज्यता में वृद्धि, सिर दर्द, कभी-कभी अनिद्रा, आदि)।

लिंग हार्मोन का महत्व काफी स्पष्टता से उन पशुओं में अनुभव किया जा सकता है जिनमें ये ग्रन्थियां निकाल ली गई हों (बधियाकरण) या प्रतिरोपित कर दी गई हो। गाय-बैलों का बधियाकरण उन्हें मोटा करने के लिये किया जाता है। बधिया पशुओं में कामुकता नष्ट हो जाती है, उनमें उपापचय कम हो जाता है, तथा उनमें वसा की अधिक मात्रा एकत्रित हो जाती है। कुछ लोगों पर भी निरीक्षण किया गया हैं जिन्हों ने किन्हीं कारणों से दोनों लिंग ग्रन्थियों को निकलवा लिया है। यदि ऐसी ईल्य-क्रिया बाल्यावस्था में ही की जाती है तो जननांगों तथा सहायक लिंग विशेषताओं का विकास बंद हो जाता है। वयस्कों में लिंग ग्रन्थियों का निष्कासन सहायक लिंग विशेषताओं में होने वाले परिवर्तनों का कारण बनता है तथा उपापचय कम हो जाता है और वसा एकत्रित होना आरम्भ हो जाता है।

मुर्गियों व मुर्गों पर किये गये लिंग ग्रन्थियों के परस्पर प्रतिरोपण के प्रयोग काफ़ी रोचक हैं (लिंग परिवर्तन)। मुर्गियों में अण्डाशय निकाल कर वृषण प्रतिरोपित कर दिये गये और उनका स्वरूप व व्यवहार मुर्गों जैसा हो गया। बधिया मुर्गों व उनमें अण्डाशय प्रतिरोपित करने पर उनका स्वरूप भी परिवर्तित हो गया (चित्र 165)।

अन्त:स्रावी ग्रन्थियों के वर्णन के अंत में एक बार पुन: इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि हार्मोन का स्रावण तंत्रिका तंत्र पर निर्भर करता है। उदाहरणतया, अनेक मानसिक स्थितियों में ऐपिनेफ्रिन का अधिक स्रावण (क्रोध, भय में) यह सिद्ध करता है कि प्रमस्तिष्क वल्कुट अधिवृक्कों के प्रकार्य पर प्रभाव डालता है।

अन्त: स्रावी ग्रन्थियाँ अपने क्रम में तंत्रिका तंत्र की अवस्था पर प्रभाव डालती हैं (अवटु अधोप्रकार्य की स्थिति में मानसिक शक्ति की हानि, अवटु अति प्रकार्य की स्थिति में अधिक तंत्रिका अतेज्यता, रजोनिवृति के समय तंत्र के कार्यों में परिवर्तनों का घटना, आदि)।